प्रस्तावना

[ग्रंथ]नुं नामकरण :

प्रस्तुत "पञ्चशती प्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्ध" श्री शुभशीलगणिनी रचना छे.

ग्रन्थकारे प्रस्तुत ग्रंथना नामनो उल्लेख ग्रंथना प्रारंभमां "ग्रंथोऽयं पञ्चशतीप्रबोध-सम्बन्धनामा क्रियते मया तु" आ मुजब 'पञ्चशतीप्रबोध सम्बन्ध'ना नामथी कर्यो छे. 'जिनरत्न कोश'मां पण प्रा.ह.दा. वेलणकरे प्रस्तुत कृतिनो आज नामथी उल्लेख कर्यो छे. ‡ ते सिवाय अन्य कथा-कोशोनी जेम प्रस्तुत कृति "कथा-कोश" तरीके पण क्वचित् जाणीती छे तदुपरांत "प्रबन्ध पञ्चशती" अे रीतनुं अहिं संक्षिप्त नाम पण में सूचव्युं छे.

ग्रन्थकारनो समय अने तेमनी रचनाओः

विक्रमना १५ मा शतकमां थई गयेला आचार्यश्री सोमसुंदर सूरिनो शिष्य-समुदाय विद्वान तेमज विपुल प्रमाणमां हतो. तेमना युगमां अनेकविध साहित्यनु सर्जन थयु.

श्रीसोमसुन्दरसूरिना पट्टशिष्य, सहस्रावधानी आ० मुनिसुंदरसूरि हता. तेमना अन्य गुरु-भ्राताओ पण अनेक ग्रंथोना रचयिता हता. आ० सोमसुंदरसूरिनो प्रशिष्यपरिवार पण घणो मोटो हतो. आ ग्रंथना कर्ता पं० शुभशीलगणि के जेओ आ परिवारना जाणीता अेक साहित्य-सर्जक विद्वान् छे.

ग्रन्थकार श्री शुभशीलगणिए आ ग्रंथनी समाप्तिनी अंतिम प्रशस्तिमां पोताने श्री रत्नमंडन-सूरिना शिष्य होवानुं जणाव्यु छे. ग्रंथना अंतर्गत अधिकारनी एक प्रशस्तिमां लक्ष्मीसागरसूरिना शिष्य तरीके पण उल्लेख मळे छे. तेमज ग्रंथना मंगलाचरणमां पण—

लक्ष्मीसागरसूरीणां पादपद्मप्रसादतः
शिष्येण शुभशीलेन, ग्रन्थ एष विधीयते ॥ (श्लोक ३)

आ रीते पोताना प्रग्रगुरु लक्ष्मीसागरसूरिना शिष्य तरीके पोताने जणाव्या छे.

'विक्रमादित्य चरित्र' "भरतेश्वर-वृत्ति" वगेरेमां श्रीशुभशील मुनिसुन्दरसूरिना शिष्य होवानुं पण कबूले छे. † आ जोतां संभवित छे के ग्रन्थकारे कृतज्ञतानी पुन्य-भावनाथी प्रेराईने दिक्षा निश्रा अने दीक्षा अेम त्रणे प्रकारना गुरुनुं स्मरण करवुं उचित मान्युं होय.

---

‡ पञ्चशती प्रबोध सम्बन्ध—In four chapters Containing 600 Stories in all composed in Sam. 1521 by Subhashila pupil of Laxmisagarasuri of the Tapagaccha.

† मुनिसुन्दरसूरीशविनेयः शुभशीलभाक् ।
चकार विक्रमादित्य-चरित्रं मन्दधीरपि ॥
(विक्रमचरित्र प्रशस्ति-१२)

शुभशीलगणिनी लगभग प्रत्येक कृति १६ मा शतकना पूर्वार्धमां रचाइ छे. प्रस्तुत ग्रंथनी रचना वि० सं० १५२१ मां थई छे ग्रंथकारे ग्रंथनी प्रशस्तिमां रचना-समय साथे पोतानो नामोल्लेख पण कर्यो छे—

विक्रमार्काद् विधु-द्वीपु-चन्द्र (१५२१) प्रमितवत्सरे ।
अमुं व्यधात प्रबन्धं तु, शुभशीलाऽभिधो बुधः ॥

अर्थ स्पष्ट छे (पृ० ३५२)

शुभशीलगणिनो अन्य कृतिकलापः

(१) विक्रमादित्य चरित्र—वि० सं० १४९९ (अथवा १४९०) आ कृति प्रकाशित छे.

(२) भरतेश्वर-बाहुबलि वृत्ति (कथाकोश)—वि० सं० १५०९, 'भरतेश्वर बाहुबलि' नामक प्राचीन सज्झाय उपरनी आ कथा-रचना छे, अेमां ५३ महापुरुषो अने ४७ सन्नारीओनी कथाओ जीवन-वृत्तान्तो रजू थयां छे. आ कृति दे० ला० जै० पुस्तकोद्धारक-संस्था सूरतथी प्रकाशित थइ छे.

(३) शत्रुञ्जय-कल्पवृत्ति—वि० सं० १५१८ आ० धर्मघोषसूरिरचित (?) आ प्राचीन रचना छे. तेनी उपर शुभशीलगणिए १२५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति रची छे.

शत्रुंजयकथाकोश, शत्रुंजयकल्पकथा, तेमज शत्रुंजयबृहत्कल्पना नामथी पण आ वृत्ति प्रचलित छे. अने प्रकाशित छे.

(४) भोज-प्रबन्ध—लगभग १७०० श्लोक प्रमाणनो आ रचना छे. राजा भोज विषे अेकंदरे ६ भोजप्रबन्धो अने १ भोजचरित्र रचायां छे

(५) प्रभावक-कथा—वि० स० १५०४. आ कृतिमां शुभशील गणिए पोताना छ गुरु-भ्राताओना नामनो उल्लेख कर्यो छे. ते आ मुजब छे-उदयनन्दि, चारित्ररत्न, रत्नशेखर, लक्ष्मीसागर, विशालराज अने सोमदेव.

(६) शालिवाहनचरित—वि० सं० १५४०. आ कृति १८०० श्लोक प्रमाण छे.

(७) पुण्यधननृपकथा—वि० सं० १४९६ ।

(८) पुण्यसार कथा—१३११ श्लोक प्रमाण रचना छे. 'जिनरत्नकोश'मां जणाव्या प्रमाणे 'महावीर जैन सभा' तरफथी सन् १९१९ मां प्रसिद्ध थइ छे अने आज कृति ते पुण्यधनचरित्र छे, अेम जि० र० कोशमां निर्देश करायो छे. अने ते संभवित छे.

आ उपरान्त 'पुण्यसार' उपर अन्य त्रण कृतिओ पण रचाई छे. ते नीचे मुजब छे—
'पुण्यसारकथानक' वि० सं १३३४, कर्ता-विवेकसमुद्र.
पुण्यसारचरित्र-कर्ता भावचन्द्र.
पुण्यसारकथा—अजितप्रभसूरि.

(९) **जावड़-कथा**—आ कृतिनी हस्तप्रत बीकानेर-वडा-उपाश्रयना भंडारमां छे. प्रायः अप्रकाशित छे.

(१०) **भक्तामरस्तोत्र माहात्म्य.**

(११) **पंचवर्गसंग्रह नाममाला.**

(१२) **उणादिनाममाला.**

(१३) **अष्टकर्मविपाक** (कर्मविपाक.) ❀

प्रस्तुत ग्रंथ परत्वे आछो दृष्टिपातः

प्रस्तुत 'प्रबन्ध पंचशती' ग्रंथ ४ अधिकारमां विभक्त छे तेमां ६०० उपरांत कथा-प्रबन्धोनो संग्रह छे. अधिकार दीठ प्रबन्धोनी संख्या आ प्रमाणे छे—

अधिकार	प्रबन्ध-संख्या
१	१ - २०३
२	२०४ - ४२६
३	४२७ - ४७६
४	४७७ - ६२५

ग्रन्थकारे कथा-प्रबन्धोनुं जे आ विस्तृत संकलन-रचना करी छे तेमां तेमणे अन्य आधार-भूत ग्रंथोनो उपयोग कर्यो छे अेम तेमना ज शब्दो परथी कही शकाय तेम छे. "किञ्चिद्गुरोरानननतो निशम्य, किञ्चिद् निजान्यादिकशास्त्रतश्च" ग्रंथकार, आधारभूत जैन-जैनेतर ग्रंथोनो उपयोग कर्यानुं पण नोंधे छे. अने ते रीते आ ग्रंथना घणाखरा प्रबन्धो के कथा-सामग्री प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबन्धसंग्रह, उपदेशतरंगिणी, आवश्यकनिर्युक्ति-टीका इत्यादि ग्रंथोमांथी लेवामां आवी छे. हितोपदेश के पंचतंत्रने अनुसरती केटलीक आख्यायिकाओनो पण आमां समावेश थाय छे.

तदुपरांत, गुरु-परंपराथी उपलब्ध कथा-साहित्यनो जुनो वारसो पण आमां सचवायेलो छे. आ दृष्टिअे शुभशील गणिनी आ रचना घणी महत्त्वपूर्ण छे.

शुभशीले मोटे भागे सरल संस्कृतमां कथा-साहित्यनुं सर्जन कर्युं छे. तेमनो [illegible] उद्देश आ रीते कथा-साहित्यनुं संकलन करवा द्वारा अे विपुल साहित्य [illegible] करीने लोक-भोग्य बनाववो. कथा-वार्ताना माध्यम द्वारा जनताने धर्माभिमुख बनाववानुं होइ शके. [illegible] आ [illegible] मार्ग पण छे

जो के प्रस्तुत रचनामां कथा-प्रबन्धोनो कोइ निश्चित क्रम देखातो नथी, छतां तेनुं त्रण विभागमां पृथक्करण करी शकाय—

(१) ऐतिहासिक प्रबन्धो,
(२) धार्मिक (शास्त्रीय) कथाओ, अने
(३) लौकिक वार्ताओ, (किंवा दंतकथा, Legends)

ग्रन्थना अंते बे परिशिष्टो आपवामां आव्या छे. जेमां अकारादि क्रमथी पद्य-सूचि तथा ग्रंथमां आवतां विशेष नामोनी यादी आपवामां आवी छे.

ग्रन्थनी शैली—

ग्रंथनी भाषा गद्य-पद्य मिश्रित छे, संस्कृत, प्राकृत अने अपभ्रंश सुभाषितो अवतरण रूपे स्थाने स्थाने दृष्टिगोचर थाय छे. संस्कृतने व्याकरणना कठिन प्रयोगोथी मुक्त राखी बने तेम सरल बनाववा प्रयत्न करायो छे. लोकभाषामां प्रचलित घणाखरां शब्दोनुं संस्कृतीकरण करी ग्रंथकारे अेमने अेम ज साचवी राख्या छे. आवा शब्दोनो जथ्थो सारा प्रमाणमां छे. जे भाषा-विशारदो माटे अनेक उपयोगी माहिती पूरी पाडे छे.

डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणीजीअे आ विषयनी विस्तारपूर्वक चर्चा "प्रबन्ध पञ्चशतीनी भाषा सामग्री अने कथा-सामग्री" अे नामना अहिं अपेला निबन्धमां करी छे.

प्रति परिचय—

आ ग्रंथनुं सम्पादन जे हस्तप्रतना आधारे कर्युं छे. तेनी प्रतिसंज्ञा A. आपी छे आ प्रति छाणी (वडोदरा) ना श्री जैन श्वे० ज्ञानमन्दिरना उपा० श्रीवीरविजयजी शास्त्र संग्रहनी छे. अने संपादनमां मुख्यतया सविशेष आधारभूत आ ज प्रति छे. प्रतिनुं कद १० × ४" छे. अने दरेक पृष्ठमां १५ पंक्तिओ छे. लिपि पडिमात्रामां छे. प्रतिना ५२७ पृष्ठ छे. प्रतिनी बे बाजु घणास्थले हांसियामां सुधारा-वधारा, पाठ-शुद्धि करेल होइ प्रतिनो ठीक ठीक उपयोग थयानुं कल्पी शकाय छे.

आ सिवाय 'प्रबन्ध पंचशती'नी अन्य हस्तप्रतो नीचेना भंडारोमां उपलब्ध छे. परंतु सविशेषता न होवाने कारणे पाठ-शुद्धि माटे तेनो उपयोग नहिंवत् थयो छे. आ प्रतिओनी स्थल-सूचि नीचे मुजब छे.

B. जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार, मुंबइ, (पायधुनी, महावीर स्वामि जैन देरासर)
C. मोहनलाल जी श्वे० ज्ञानभंडार, सूरत.
D. हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह—वडोदरा.
E. लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर-अमदावाद।

आ उपरांत बर्लिन (जर्मनी)नी लायब्रेरीमां प्रस्तुतग्रंथनी हस्तप्रत छे, आनो उल्लेख V. A. Weber Verzeichniss der Sanskrit and Prakrit Handschriften der Koniglichen

Bibliothek zu Berlin, V. II. 3, Berlin, 1892, II. 3, 1112 ff No. 2020. आ नोंधमां आ ग्रंथनो प्रारम्भ तथा प्रशस्तिनो भाग पण आपवामां आव्यो छे. आ प्रतिनी माइक्रोफिल्म कोपी प्रो० हामे (Prof. F. R. Hamm Indologisches Seminar, 53, Bonn, lieb frauencey 7) मुनिश्री जम्बूविजयजीनी भलामण द्वारा मने मोकली हती. आ फिल्म ज्यारे मने मळी त्यारे मूल ग्रन्थ (Text) लगभग छपाई गयो हतो छतां ये पाछळथी आ फिल्म वाचता प्रति प्राचीन अने उल्लेखनीय जणाई. प्रतिना १९४ पृष्ठ छे. अने दरेक पृष्ठमां १३ पंक्ति छे. अंतमां लेखकनुं नाम आपेलुं छे.

॥ छ ॥ ० श्रीग(छ)र० हीरजीनिर्भंडाररक्षणीक सा० राघवनी लेखक भ० जीवराज ।

पृ० १९४ ना पृष्ठभागमां लखेल छे के—पो० ३५ प्र० २६ ॥ खंभा(त) यतिना भंडारनी प्रति छे.

आभार-विधि

प्रस्तुत ग्रंथना संपादनमां सहायक थनार उल्लेखनीय व्यक्तिओमां पू० चिदानन्द मुनिजीओ मने सतत उत्साह अने प्रेरणा आपीने मारुं कार्य सरळ बनाव्युं छे.

डॉ० हरिवल्लभ भायाणीजीओ (अध्यापक, भाषा विज्ञान विभाग, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद) पोतानो अमूल्य समय आपीने खास आ ग्रंथ माटे विद्वत्तापूर्ण पुरोवचन लखी आपी आ ग्रंथनुं गौरव वधार्युं छे, आ माटे हुं तेमनो अत्यन्त ऋणी छुं. आज रीते प्रो० सुरेश अं० उपाध्याय (भारतीय विद्या भवन, संस्कृत संशोधन विभाग, चोपाटी, मुंबई.) के जेमणे मारा कार्यना अंतसुधी दरेक रीते सलाह-सूचनो आपीने मने अत्यन्त उपयोगी बन्यां छे ते बदल हुं तेमने भूली शकुं तेम नथी.

पू० मुनिश्री जंबूविजयजी म० अने प्रो० अेफ. आर. हाम द्वारा प्रतिनो माइक्रोफिल्म हुं मेळवी शक्यो ते बदल तेमनो पण आभारी छुं.

संपादनना क्षेत्रमां हुं अनभ्यासी होई क्षतिओ माटे क्षमा-याचना.

मुंबई,
ता. ३-४-६७

—मुनिश्री मृगेन्द्रमुनि.



"प्रबन्धपंचशती"नी भाषासामग्री अने कथासामग्री

लेखकः—डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी

(अध्यापक—भाषाविज्ञान, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद.)

बारमी शताब्दी पछीथी रचावा मांडेला संस्कृत प्रबन्धो ए मोटे भागे तो गुजरात-राजस्थाननो विशिष्टपणे जैन रचनाप्रकार छे. 'प्रबन्धचिंतामणि' 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' वगेरे संग्रहोना प्रबन्धो उपरथी जोई शकाय छे के तेमां एवी व्यक्तिओनो वृत्तांत गूंथातो, जे व्यक्तिओ परंपराथी विख्यात होय अने जेमणे जैनधर्मना वृद्धि-विकास अने रक्षण-पालनमां स्मरणीय फाळो आप्यो होय. आमां जैन आचार्यो राजवीओ, मंत्रीओ, श्रेष्ठीओ वगेरे जेवी इतिहास, पुराण के दन्तकथामां जाणीती व्यक्तिओनो समावेश थतो अने ए प्रभावक व्यक्तिओना चरित्रनी मुख्य विगतो अने सालवारी अथवा तो तेमना जीवननी कोई विशिष्ट घटनाओ, रसिक प्रसंगो अने टुचकाओ क्वचित् आलंकारिक भाषा अने शैलीनो पुट आपीने रजू करवामां आवतां. प्रयोजन इतिहास आपवानुं नहीं पण प्रभावकता दर्शाववानुं होवाथी भार कथाना के दृष्टांतना तत्त्व पर रहेतो अने समय जतां, जेम प्रस्तुत संग्रहमां बन्युं छे तेम, लोक-प्रचलित के साहित्य-प्रचलित दृष्टांतकथाओ अने परंपरागत लोककथाओने पण प्रबन्धोमां स्थान मळ्युं गयुं.

धार्मिक व्याख्यान प्रसंगे उपयोगमां लई शकाय ते दृष्टिए जाणे के तैयार थया होय तेवा आ संग्रहोमां भूतकाळनी अनेक शक्तिशाळी महान् व्यक्तिओए जैन धर्मनी महत्ता अने गौरव वधारवा माटे करेलां कार्योनी वातो, उपरांत जीवननी सामान्य नीतिरीति माटे बोधप्रद होय तेवी घणीये लोकप्रिय कथा-वार्ताओ, प्रसंगो अने टुचकाओ पण अपायां छे.

आ प्रबन्धसाहित्यनी संस्कृत भाषा पोतानी आगवी विशिष्टता धरावे छे. प्रबन्धोनुं संस्कृत ए व्याकरणनी शिष्टपरंपराने मान्य एवुं विशुद्ध प्रशिष्ट संस्कृत नथी. ए संस्कृत एक प्रकारनुं लौकिक संस्कृत छे. तेमां तत्कालीन लोकभाषानो, तेना उच्चारण, व्याकरण, शब्दभंडोळ अने रूढि प्रयोगोनो गाढ प्रभाव पडेलो छे. जेम जेम पाछलना समयमां आवता जईए छीए तेम तेम आ प्रभावनुं प्रमाण वधतुं जाय छे. बौद्ध अने जैन ए बन्ने परंपरामां पंडितमान्य रूढ संस्कृतने बदले बोलचालना प्रयोगोना पासवाळुं लौकिक संस्कृत वापरवानुं वलण हतुं. विशाळ मध्यम वर्गने ते समजवुं सरळ पडे, व्यवहारभाषा अने उपदेशभाषा बन्नेनुं अंतर ओछुं थाय अने कथां उपदेश-भाषानां ऊंचां मोभां जळवाई रहे, एवा हेतुओ आ प्रकारनी 'मयकी संस्कृत' द्वारा सिद्ध थता.

प्रशिष्ट संस्कृतथी आ संस्कृत जुदी शैलीनुं होवाने कारणे, तेमज मध्यम भारतीय-आर्य तथा अर्वाचीन भारतीय-आर्य लोक-भाषाओनां तत्त्वो धरावतुं होवाने कारणे तेणे अनेक अर्वाचीन विद्वानोनुं ध्यान खेंच्युं छे. अने ते अनेक अध्ययन-संशोधननो विषय बन्युं रह्युं छे. संस्कृतनां

प्रकाण्ड विद्वान् अने येइल युनिवर्सिटीना संस्कृतना अध्यापक सद्‌गत फ्रेन्कलिन अेजर्टने वीश वर्षना अभ्यासने परिणामे १९५३ मां "बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत" विशेना व्याकरण अने शब्दकोश प्रसिद्ध कर्या. जैन संस्कृत आवा कोई प्रखर विद्वानना सतत अनुशीलननो लाभ मेळववा हजी सुधी भाग्यशाळी नथी बन्युं. छतां तेनां अमुक अमुक पासांओनुं, अथवा तो व्यक्तिगत कृतिओना प्रयोगोनुं अध्ययन समय समय पर अनेक अभ्यासीओने हाथे थतुं रह्युं छे.

जैन संस्कृतना महत्त्व तरफ विद्वानोनुं लक्ष्य खेंची तेनां जुदां जुदां पासांओ तारवीने अेक विशिष्ट अध्ययन पहेलवहेलां प्रस्तुत करवानो यश अमेरिकाना महान संस्कृत विद्वान् सद्‌गत मोरिस ब्लूमफिल्डने फाळे जाय छे. तेमणे सन् १९२४ मां जर्मन विद्वान वाकर्नागेलने समर्पित सन्मान-ग्रन्थ Antidoron मां प्रकाशित Some aspects of Jain Sanskrit—आ लेखमां नीचेना जैन कथाग्रंथोमांथी विशिष्ट भाषासामग्री तारवी आपीने तेनी विचारणा करेली—

'अघटकुमार कथा' 'भरटकद्वात्रिंशिका' 'शालिभद्रचरित्र' 'अंबडचरित्र' 'धर्मपरीक्षा' हेमविजयकृत 'कथारत्नाकर' 'कथाकोश' 'पालगोपालकथानक' 'पंचदंडछत्रप्रबन्ध' 'परिशिष्टपर्वन्' भावदेवसूरिकृत 'मल्लिनाथचरित' 'प्रबन्धचिन्तामणि' 'प्रभावकचरित' हेमचन्द्रकृत 'महावीरचरित' विनयचन्द्रकृत 'पार्श्वनाथचरित' 'रौहिणेयचरित' 'समरादित्यकथासंक्षेप' 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' 'उत्तमकुमारचरित'.

जैन संस्कृतनी केटलीक विशिष्टताओ अने लक्षणो पांच वर्ग नीचे तेमणे गोठवीने मूक्यां छे. ते पांच वर्गो आ प्रमाणे छे:—

(१) गुजराती वगेरे स्थानिक बोलीओनो प्रभाव दर्शावता प्रयोगो.

(२) प्राकृत शब्दसामग्री अने व्याकरणप्रयोगोनो स्वीकार अने तेमनुं संस्कृतीकरण.

(३) शुद्ध संस्कृत शब्दोनो पण क्वचित अतिसंस्कार.

(४) संस्कृत व्याकरणसाहित्य अने कोशसाहित्यमांथी सीधी ज केटलीक सामग्रीनो स्वीकार.

(५) केटलीक एवी पण सामग्री जोवा मळे छे, जेने माटे प्रशिष्ट भाषामां के स्थानिक बोलीओमां कशो आधार नथी, जे विशिष्टपणे जैन अंश छे.

ब्लूमफिल्डना आ दृष्टिपूर्ण व्यवस्थित लेखथी जैन संस्कृतना शास्त्रीय अभ्यासनी दिशा स्पष्ट थई अने पछीना प्रयासो माटे ते घणो प्रेरक बन्यो. ते पूर्वे पण "उपमितिभवप्रपञ्चाकथा"ना संपादनमां पिटर्सन अने याकोबीओ विशिष्ट संस्कृत शब्दो अने प्रयोगोनी एक यादी भूमिकामां आपेली.

पूर्णभद्रकृत "पंचाख्यानक"ना तेमना संपादनमां हर्टले, 'जैन गुर्जरकविओ'नी भूमिकामां मो. द. देसाईए, हेमचन्द्राचार्यना 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'ना अंग्रेजी भाषान्तरना जुदा जुदा खंडोमां हेलन जोन्सने असाधारण के विरल संस्कृत शब्दो अने प्रयोगो तारवीने अर्थ साथे आप्या छे. प्राकृत अने जैन साहित्यना मूर्धन्य विद्वान आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येअे सिंघी जैन ग्रन्थमालामां प्रकाशित हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश'नी तेमनी भूमिकामां (१९४३) जैन संस्कृत विशेना पूर्ववर्ती अध्ययनोनो ख्याल आपीने 'बृहत्कथाकोश'मांथी तारवेला नोंधपात्र प्रयोगोनी अेक विस्तृत सार्थ यादी रजू करी छे. पण अमुक कृतिओ लईने तेमांना अमुक अमुक दृष्टिअे नोंधपात्र बधा शब्दो अने प्रयोगोनी पद्धतिसरनी यादी अर्थ अने

अर्वाचीन समान्तर प्रयोगो सहित रजू करवानो विस्तृत प्रयास भोगीलाल. जे सांडेसरा अने जे. पी ठाकरना Lexicographical Studies in Jain Sanskrit (१९६२)मां थयो. तेमां 'प्रबन्धचिन्तामणि', 'प्रबन्धकोश' अने 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह'मांथी लगभग अढी सो पृष्ठ भरीने सामग्री आपी छे. अनेक स्थळे मूळमांथी उद्धरणो, समान्तर प्रयोगस्थानो, व्युत्पत्तिनोंध के अर्वाचीन भाषाओमांथी तुलनात्मक सामग्री पण प्रस्तुत करी छे. तेमना अध्ययननो आगळनो खंड पण तेमणे 'जर्नल ओफ धी ओरिअेन्टल इन्स्टिट्यूट–वरोडा'ना गोविंदलाल भट्ट स्मारक अंक (पृ० ४०६–४५६) मां प्रकाशित कर्यो छे. तेमां लगभग एकावन ग्रंथोमांथी सामग्री तारवीने आपी छे. प्रबन्धोनी तथा इतर जैन संस्कृत कथाग्रंथोनी भाषा लोकभाषाना प्रयोगोथी अेटली भरचक होय छे के अेक ज ग्रंथमांथी सेंकडो प्रयोगो तारवीअे तो पण घणा प्रयोगो वणनोंध्या रही जाय. आ दृष्टिअे सांडेसरा अने ठाकरे 'प्रबन्धकोश' मांथी तारवेली सामग्री साथे Jozef De eu अे तेमना Lexicographical Addenda from Rajasekharasuri's Prabandha Kosa. (Indian Linguistics Turn r Jubilee Volume II १९५९, पृ० १८०–२१९) अे लेखमां तारवेली सामग्री सरखाववा जेवी छे. जोसेफ डेलेडनो लेख वधु पद्धतिसर, झीणवटवाळो अने सामग्रीना वर्गीकरण परत्वे वधु माहिती आपतो छे. तो गुजराती वगेरे भारतीय भाषाओनो अने जैन साहित्यनी परंपरानो जे लाभ सांडेसरा अने ठाकरना कार्यने मळ्यो छे तेथी डेलेडने वंचित रहेवु पडयु छे. उपरांत बंनेनी पसंदगीनी दृष्टिमां पण सारो एव फरक छे. बंने प्रयासने एकबीजाना पूरक गणवाना रहे छे.

'प्रबन्धपंचशती'मांथी अहीं आपेली सामग्री पण निःशेषकथननी दृष्टिअे तारववानो प्रयास नथी कर्यो, तेम करवा जतां अेक स्वतन्त्र ग्रन्थ ज तैयार करवो पडे. अहीं नमूना रूपे ज केटलाक शब्दो अने प्रयोगो आप्या छे. आमां केटलाक प्रयोगो सीधा कशा फेरफार विना गुजरातीमांथी संस्कृतमां लई लीधेला छे तो बीजा केटलाक स्पष्टपणे तत्कालीन गुजराती शब्दो अने प्रयोगोने संस्कृतरूप आपीने घडी काढेला छे. संस्कृतमांथी प्राकृतमां आवतां शब्दोना ध्वनिपरिवर्तननां जे व्यापक वलण प्रतीत थाय छे, तेमने यांत्रिकपणे लागु पाडीने प्रचलित गुजराती शब्दनुं पूर्वरूप कृत्रिम रीते घडी काढवामां आव्युं छे. तेमां खरेखरा मूळनी कशी चिंता नथी करी, तेम संस्कृत अने गुजराती विभक्तिसम्बन्धो वच्चेना भेदने अने बदलायेली अर्थछायाओ अने रूढिप्रयोगोने पण अवगण्या छे. आ दृष्टिअे ख्याल आपवा माटे 'प्रबन्ध-पंचशती'मांथी विशिष्ट शब्दोनी यादी आपवा साथे अहीं केटलाक गुजरातीमूलक रूढिप्रयोगो (तेम ज कोईक अन्य विशिष्ट प्रयोगो) नोंध्या छे.

आमां मुस्लिम राजवीओ साथेना प्रसंगोनी वातमां फारसी शब्दोना प्रयोगो छे. जेम के– 'कलन्दर', 'कागद' 'खरशान' 'गोहरि' 'बीबी' 'भूत' 'मसीत' 'मीर' 'मुद्गल' 'मुलाण' 'मुशलमान' 'सुरत्राण' 'हज' 'हरीमज' इत्यादि.

'प्रबन्धपञ्चशती'मां आपणने अेवा पण अनेक शब्द मळे छे, जेमनो अर्थ अस्पष्ट के अज्ञात रहे छे. आनां विविध कारणो छे. संस्कृतीकरणने लीधे पायानुं गुजराती रूप कळवुं मुश्केल बने; तत्कालीन गुजराती शब्द अत्यारे वपराशमांथी लुप्त थयो होय के बोलीओमां ज प्रचलित होय; प्रयोग पूर्वना प्रबन्धोनी भाषामांथी लीधो होय पण पछीनी लोकभाषामां ते अप्रचलित होय; लहियाओनी भूलथी मूळ शब्दरूप विकृत थईने जळवाई रह्युं होय वगेरे.

आयाति	१०३ ४	आवडे छे
आलम् (कूटम् आलम्)	३३-१५-२१	(कूडुं) आळ
इङ्गिष्टकम्	२८-१६	अंगीठुं, तापणुं
इलिका	१७-५	इयळ
इष्टिका	३-९	ईंट
उकेशज्ञाति	४-१६	उपकेशज्ञाति, पोरवाड़ ज्ञाति
उच्चाट	३०-१६, २०६-३५, २२९-२१	उचाट
उच्चैः कृ	२५३ १०	ऊंचुं करवुं
उच्छ्वसित	५-२	अंदरथी हवा नीकळी (?)
उच्छाल्	२-१२	उछाळवुं
उज्जागरित	३२१-१३	जाग्युं
उज्वालित	४८-१८	उजाळी-घसीने उजळी करी
उड्डाह	३४-४, २५०-२८, २७२-१५	निंदा (प्रा०)
उत्करटक	११०-१९, १२५-८	उकरडो
उत्खिल	२४८-४, ३१०-१६	उखेळवुं
उत्तर्	१-१९, ३-२८, ५-२३	ऊतरवुं
उत्तारक	७४-२४	उतारो
उत्पाट्	४६-२७ ९५-११, २००-८	उपाडवुं
उत्पत्	२-२८	ऊपडवुं
उत्सूर	१४-२२, ७५-२८, १२९-९ २१४-२६, २३० १३	मोडुं, असूरुं
उद्गर्	३०१ २४	ऊगरवुं
उद्दाल्	३४०-३	आंचकी लेवुं
उद्धार	२४३-७	उधार
उद्दाणक	६९-५	गांरवी, अद्दाणे ('अड्डाणक'ने बदले ?)

उद्वल्लिता	२४६-२०	उगरी (सरखावो हिं० उबरी, सं० उद्+वृ०, प्रा० उव्वर)
उद्वस	३२-५	उज्जड
उन्दिर	३०५-२३, २४	उंदर
उपलक्ष्	३०-२२, २६३-९	ओळखवुं
उपवरक	२१५-१०	ओरडो
उल्लोचन	३४८-२७	उल्लोच, चंदरवो, छत
ऊर्ध्वस्थितः	१०-३	ऊभो ऊभो
ओलगा	२३४-२४	चाकरी
कच	११-२४	काचुं
कच्चोल	१४७-१० }	कचोळुं
कच्चोलक	२९१-२५ }	
कच्छडक	२११-२४ }	काछडो
कच्छडक	२५६-१० }	
कणवीर	२५३-१०	कणेर, करेण
कण्ठ	२०९-१३, ३३०-१२	कांठो
कण्डक	२४३-१, ३, ५	तावीज, मादळियुं (प्रा० कंडय
कपिशीर्ष	९६-२	कणसलुं
कपिशीर्ष	३१२-२७	कांगरो, कोशीशुं
कम्बा	२५३-१०	कांब, कामडी, सोटी,
करणवार, करणवारकारक	२१३-७, २१६-३,	न्याय, न्यायाधीश
कर्कर	२-२१	कांकरो
कर्त्	१४४-२, २०८-३०	कांतवुं
कर्णाटक	२४१-३ ४	देवळना चणतरनुं काम (?
कर्ष्	२५-३, ९४-१७, १६८-२१, १८९-१०, २३२-७	काढवुं
कलंदर	३४६-२९-३०	फकीर (अरबी)
कल्ये	४-९, १७०-२३	आवती काले
कल्हरी	८४-१२, १७९-१८	काल्हरी, घासनी गंजी
काका	५५-४ १०१-३०, १०२-१९	काका
कागद	२७-६ ९, १९४-२, ३१२-७	कागळ (फारसी)
काछिक	१२९-१७	काछियो

काणक	१२९-१७	काणो
कापोती	१३६-१६	कावड
कामुक (कार्मुक ?)	१६०-२८, १६१-१	काम करनार नोकर
कार्पटिक	३८-२६	रखडतो भिक्षुक, कापडी
कार्मण	७८-२, ३१५-२	कामण
कार्वटिक	१९६-६, १०, १२	कबाडी, कठियारो
कावडि	१३६-१२, १५	कावड
कावडिका	१६-४	
काहलिक	६८-३	(?)
कांविक	१०७-६	(?)
कांसाराः	१९०-१	कंसारा (सं. कांस्यकार, प्रा. कंसार)
कांस्यताल	५२-२१	कंसाळ, कांसाजोड
किरतार	३४७-३	करतार, सृष्टिकर्ता
कुङ्कुमपत्रिका	१९१-१७	कंकोत्री
कुतप	१२-८	कूडलुं
कुद्दाली	२३६-१५	कोदाळी
कुरुकुल्ला	४५-२६	ओ नामनी ओक देवी
कुद्दाडिका	२३६-१५	कुहाडी
कुर्कुट	११-११	कूकडो
कुविन्द	१३७-५, ७, ८	साळवी
कुहेडा	५४-३०	कोयडा
कूट	४-९, १०६-१२, २४६-२, ३२३-११	कूंडुं, खोटुं
कूप	१९२-२	(तेलनो) कूंपो, कूडलुं
कूपिका	३५-५	कूंपी
कूपिक	१४-२२	कूडलुं ऊंचकनार (?)
कूपवाहक	३७-१९	कूवामांथी पाणी काढी खेती करनार (?)
केलय्	५४-३२	केळववुं
कोकिल	२९८-५, ६	ओक कोळीनुं विशेप नाम (कोळीनी ओक जात)
कोम्बलक	२७८-८	कोबळो
कोथल	२०८-२९, २०९-१	कोथळो

कोरउट्टिका (? कुट्टिका ?)	(सूत्र कोरउट्टिका ३१०-१५)	कोकडी (सूतरनी कोकडी)
कोरकवस्त्र	३१६-१८	कोरुं कपडुं
कोरणिकार	२४०-१८	कोरणी कोरवावाळो
कोल	२५-२	कोळ, जबरो उंदर
कोलिक	५६-१५	वणकर
कोष्ठिका	२०६-१४	कोठो
कौटुंबिक	३०-५, १६६-२१	कणबी
कौसुंभिका	२३६-१२	कसुंबी वस्त्रनो टूकडो (?) (बळदने शींगडे बांधवानो)
क्रम	१७१-८	पगलुं
क्रमेलक	३२८-२८, ३२९-४	ऊंट
क्रयाणक	९६-१३	वेचवानी वस्तु
क्षारा	१२-६	खारी
क्षिप्रचट	२९८-२७	खीचडो
क्षिप्रचटिका	३०-१०	खीचडी
क्षीरपूपिका	१६६-३	दूधनी पूरी (?)
खग	८२-२५, २७	विद्याधर
खज्ज्	९८-१७	खजवाळवुं
खटिका	२५१-६	खडी
खड् खड् शब्द	९४-२	खडखडाट
खड्डा	१२९-१	खडो
खनिः	३५-११	खाण
खरण्ट	३९-१३, १०७-९	खरडवुं
खरशान	४०-२७	खुरासान (फारसी)
खरशाण	४०-२८	
खरसाणी वणिक्	४-१६, २२, २३	(?)
खलखलम्	२८३-२२	खळखळ अवाज साथे
खलि	३९-१३	खळ
खा	५०-३, ६	खावुं (सं० खाद्, प्रा. खाए)
खातिका	३४९-१८	खाइ
खाल (पुं०)	२८३-२२	खाळ

गोमाणि गोमाणिका	२०६-१३, ३२ २०६-१५ }	गमाण
गोलानदी	१८५-१०	गोदावरी नदी (प्रा. गोला)
गोस्वामिन्	३-२७	महीपति, राजा
गोहार	३४७-५	घोर, कबर (फारसी)
गौरव	१७०-२३	भोजन वगेरेथी करातुं स्वागत
ग्रथिल	२१-१७, ५४-३, ७७-२५, २०९-२	घेलुं
ग्रन्थि	५७-१२	गांठडा, पैसानी गांठडी
ग्रहणके मुक्तम्	३९-२७, ४०-८	घराणे मूंक्युं
ग्रास	६२-२४	गरास
ग्रैथिल्यं	७८-१	घेलापणु
घट्	८८-१३	घडवु
घटन	२४१-४	घडवु ते
घटक	२४१-५	घडनार
घन	२८-२२	घणुं
घरटिका	२१४-२७	घंटी
घर्घर	२३६-११	घूवरा
घसमसाट	८९-४	घसमसाट
घाञ्चिक	१३९-१६, १९२-३	घांची
घाञ्चिका	९६-२९, ९७-४, १६९-४	घांचण
घाणिका	१३९-१७	घाणी
घींघणी	२५६-१०	ए नामनो एक छन्द
घृतवर	१६६-३	घेवर
घोटक	५३-८	घोडो
घोटिका	१९७-१३, १४, १७०-९	घोडी
घोलवटक	१४१-२१	एक प्रकारनां वडां
चट्	६-१०	चडवु
चटितः	४४-२९	हाथे चड्यो, हाथ आव्यो
चट उत्तर	१६३-१	चड (अने) ऊतर (आज्ञार्थ)
चटक चटिका }	३३०-२२, २३	चकलो-चकली
चटी	१५९-१३	चकली
चटक	२१८-५	चटको

चटुक	३२२-८	चाटवो
चट्टू	३२२-६, २२	
चट्टक	३२२-२१	
चणिचणिका	३४६-८	चणचणाट
चतुरिका	२७८-८	चोरी (लग्ननी)
चन्दिका	८१-८, ३२४-१, २; ५	चाँदी, माथामां के शरीरे
चन्द्रिका	३३८-१९, २१-२३	पडतुं नानुं चांदु
चन्द्रोदय	३४८-२३	चंदरवो, वितान
चमत् कृ	२-१९ २१	चमत्कार पामवो, चोंकवुं
चम्पू	२७-१५, १०२-४	चांपवुं
चर्भटिक	३१-१५	चीभडुं
चर्भट	६१-५	
चवल	२०६, १-५	चोळा
चाखडिका	३९-२६, ४०-४	चाखडी
चाडिका	१०२-१७	चाडी
चारि	७६-१२, १३०-५, २०८-१३	चार (ढोरनी)
चालनी	३४-५	चालणी
चाल्लिनी	२२०-९	
चिकचिकाय्	२६२-२	चकचकवुं
चिक्खिल्ल	२८३-२३	कीचड, चीखल
चित्रकर	२०-२१, २२	चितारो (सर० हिन्दी 'चितेरा')
चिर्भट	६१-५, ३२३-९	जुओ 'चर्भटिक'
चुकिता	१६१-१९	चूकी
चुक्कलंडा	२३३-४, ५, ६	चाकळण, बे मोढा वाळो आंधळो सर्प
चुट्टक	१४१-२४	चोट, मुक्का वडे प्रहार (?)
चुणि	८२-१६, ३३१-२७	चण
चुण्ट्	१५२-६	चूंटवुं
चुल्लक	३२-२५	चूलो
चुल्हक	९२-६, ७	
चूरिम	३२१-५, १७	चूरमुं

चेल्लक	१४-२ ५ २७१-२१	चेलो
चेलक=पल्लुं		
तुलाचेल्लक	१२२-१७	त्राजवानुं पल्लुं
चोक्ष	१६५-२१	चोक्खुं
चोपड्	१४२-१	चोपडवुं
चैत्रयष्टि	३२०, १२-१४-१५	मूरख, गमार
छगण	१५८-१२, २११-२४	छाण; १६९-३ छाणुं
छत्रिका	२२८-१४	छत्री
छत्रम्	६-२०, १२-३, १६९-३, २०७-१, ३२१-१४	छानुं छातुं
छल्ली	६२-७, २९०-२, ३२८-२	छाल
छार	१४५-९	राख
छारपुञ्ज	१०१, १३-१४	राखनो ढगलो
छिक्का	११४-२ }	छींक
छिङ्का	६७-१५ }	
छिम्पिका	४९,२१-२३	छीपण (कपडा पर छापकाम करनारी स्त्री)
छुट्	२७-११, २९-१४, १६६-२३ ३५१-३१	छूटवुं
छोतरक } छोत्तरक }	छोतरुं. आम्रछोत्तरकं १७१-२३	केरीनुं छोतरुं
छोति	५५-३७	छूताछूत, आभडछेट
जडं वस्त्रं	३१६-२०-२२,	जाडुं कपडुं
जडित	२०२-७	जडेलुं
जन्मपत्री	२७४-२९	जनमोतरी
जम्पाण	९६-२७	ठांठडी
जालि	३५-२५	पीलुडीनुं जाळुं
जिम्	२-१, ३-१२, २०६-१०	जमवुं
जी-जी कृ	१०२-५	'जी जी' करवुं
जुहार	१०२-१९	जुहार, वंदन
जेमन	२०४-१७	जमवुं ते
जेमनवार	११६-२९	जमणवार
जोत्कार	२०६, ६-१४	नमस्कार, जय जय
जोत्कारं कृ	३-२२	नमस्कार करवा
ज्ञ	१९-३, ४, २५-२०	ज्ञानी

ज्योतिष्कक	१७१-३०, १७२-१	जोशी
झगझगाय्	१५८-९	झगमगवुं
झगटक	४-२१	झगडो (सिद्धहेम ८-४-४२ उपरनी टीकामां "झकट" अेवारूपे आपेलो
झम्पा	१२९-२५	कूदको
झर्	८- ६	झरवुं
झल्	१७१-२४	जळवुं, दाह थवो
झूर्	२०८-९	झूरवुं
झोलिका	१४ ८	झोळी
टङ्कक	४, ६-११	सिक्को (सरखावो गुज० 'टको' बं. 'टाका', सं. टंकशाला.)
टालि	१०७, २-३-८	टाल
टीड	३६-२२	तीड (देश्य 'तेड्ड')
टुम्पक	१६१-१७	(गळा)टूंपो
टोकरक		टोपलो (हिन्दी 'टोकरा')
वंशटोकरक	१३८-२४	वांसनो टोपलो
टोडर	४५-२५, ३५०-२३	तोडो
टोप	२५७ १-२	अेक प्रकारनुं शिरस्त्राण, टोप
टोपिका	७, १२-१४	टोपी
टोहन	११०-१	टोवुं ते, पक्षीओने टोवो करी उडाडवा
ठीकरी	२३०-२२	ठीकरी
ठुण्ठक		ठूंठुं
वृक्षठुण्ठक	७०-१०	झाडनुं ठूंठुं
डाकिन	२०६-२२	डाकणो
डोलत्कर	२०८-९	डोकरो
ढल्	१४५, १९-२२	ढळवुं
ढाल्	७७-१२	ढाळवुं
ढालन	१५८-८, २३६-११	ढाळवुं ते
ढंकन	४-८	ढांकवुं ते
ढंकनिका	३५०-४	ढांकणी
[illegible]	२-२२	ढिल्ली

ढेढ	२५-२६, १०९, २८-२९ १६५-१९, २५०-२८	ढेढ
ढोल्	१०१-१	ढोळवुं
तटी	२८-१	तोफानी नदी, दुस्तटी,
तडफडायमान	२७१-४	तडफडतुं
तनुगमनिका	२३३-२९	जमीन पर वहेता वरसादना पाणीनो नानो प्रवाह
तप्ति	२९९-२	चिंता, पंचात (प्रा० तत्ति, जू. गुज. तांति)
तमलंगक (?)	३ ९	'तमंग' के 'तवंग' नामनो
लंगक (?)	३-१०	किल्लानो बूरज जेवो भाग (?)
तम्बोल	२९-२३	तंबोल (सं. ताम्बूल)
तर्णक	३६-१७	वाछडो
तलहट्टिका	१९०-२	तळेटी
तलिकातोरणबन्धन	२००-१७	तलियां तोरण बाँधवां
ताजनक	३४६-४	ताजणो, चाबुक
तुङ्गटिका	११२-८	तंगोटी (नानो तंबू)
तुरी	२२४-४	वणकरनुं वणवानुं अेक साधन (देश्य' थूरी' 'तूरी')
तुलछी	११६, ८-९-१३-१५-१६	तुलशी
त्रपु	१३०-१९	कलाई
त्रपुसी	१०७-४	काकडी
दण्डक	२१०-२७	केडो, मार्ग, पगदंडो
दवरक	१६२-१४, २९५-४	दोरो
दवरिका	९६ २	दोरी
दारिद्रत्व	१८६-३१	दळदर, दळद्रीपणुं
दीनार	३-२१	अेक सिक्को
दीपवर्तिक	८८-७	दीवेटियो
दुर्गा	१७२, १४-१६ २००-२५, ३१२-३	समळी
देवगृह	२ २८	देरूं
द्रह	७०-२६	धरो (सं. ह्रद)
घटी	३१२-१६	घडी, वजननुं अेक माप
धाटी	७३-२३, ८३-३	धाड
धीरा	६७-१०, २१३-१८	धीर (स्त्री.), धीरज

धुरि	४४-२६, १६५-२६	सौथी आगळ, सौथी पहेलां (सर. गुज. धरबी)
धूलिधावक	२३९-७	धूळधोयो
धोरणी	१००-१०	सतत धारा
धौतक	१६२-२२	?
धौतिक	१७, १५-१६, ११९-४, २४६-१	धोतियुं
धुक्क	२९८-१५	धूषको, धुबाको
नक्क	१५२-८	नाक
नवडाकारेण	१०-१४	नवडाना आकारे
नाटक	५३-२४	नृत्य
नाणावटी	१९१, ९-१०	नाणावटी
नात्रक	२२-७ १३४-७, १३५-१४	नातरुं, सगाईसम्बन्ध
निन्दन	३०-५	नींदण करवी ते (सं. निर्+दो)
निर्घाट्	७०-२	काढी मूकवुं
निःश्रेणी	२४६-८	नीसरणी
निःसरणी	२४६-९	
नेजक	१४३-१३	धोबी
नौवित्त	२४३, १७-२९	वहाणवटी
पक्वान्न	८-११	पक्वान, मिष्टान्न
पटकुटी	४९-१	तंबु
पटह	३४·६	पडो, घोषणा करवानो ढोल
पट्टकः	५३-२२, १६७-२३	पाटो
पट्टकूल	३५-१४, ५५-२१	पटोळुं
पट्टयल्ल	२१६-५	पटेल
पण	२४६-४	पण, प्रतिज्ञा
पतद्ग्रह	२·१	पात्र. वासण
परिणेतृ	२००-५	परणेतर
परिधाप्	४-२४	पहेरामणी करवी
परिवारित	२११-२७	परवारवुं
पर्षद्	२-५	परिषद्
पाखण्डी	३३-१४	पाखण्डी, ढोंगी, धर्मथी छेतरनारो
पानीयहारिका	२-१७, १६८, १०-१२. २१०, २६-२७	पानीयहारी, पाणियारी, पनीहारी
पापर्धि	२९-२०, २१९-८	शिकार

पार्श्व	१-१२, ३-१८ ४, ११-१९	पासे
अेकस्मिन् पार्श्वे	२-२४	अेक बाजु
पालनक	१६९-१५	पारणुं (बालकने सुवाडवानुं)
पित्तल	१५८, ४-६	पित्तळ
पिप्पल	१६६, ७-८-९	पीपळो
पिप्पलवृक्ष	८३-२४	पीपळानुं झाड
पिप्पलाद	२९-३०	पिप्पलाद (विशेष नाम)
पीठक	१९२-२	पीठुं
पूजारक	३४६-२०	पुजारो
पूलक	१४७-१८, २९९-५	पूळो
पृष्टि	८६-५, १००-१४, २१५-१६	पीठ
पृष्ठि	४२-२	
पृष्ठवाह	९३-८	बळद
पेटा	८४, २३-२४, १३४-९	पेटी
पेटिका	५५-१९	
पोतिका	३३९-२०	पोतडी
पोसि पोसि	९१, ७-१३	गाडुं हांकवानो शब्द (सर० पोइस पोइस.)
पोलत्व	७८-५	पोल
पौटलिक	१४-२२	पोटलुं उपाडनारो, पोटलियो
पोट्टलक	३४३-९	पोटलुं
पौषधशाला	१८४-२४	पोशाळ (उपाश्रय)
प्रगे	४७-६	वहेली सवारे, पहो फाटतां, (जू० गुज० 'प्रहि')
प्रति (स्त्री.)	१९३, २५-२६, २०३-२१	हस्तलिखित प्रत
प्रतिकार	५५-१०	पडियार, म्यान
प्रमाडि भूप	५५, १६-२०	परमर्दी राजा
प्रमिला	३२-२२	नेद्रा
प्रस्तर	५-२४ ३४०-२	ाथरो
प्राघूणंक	३२२-८	ारोणो, अतिथि
प्रातिवेश्मिक	१२९ १०	ाडोशी
प्राध्वरमार्ग	२१४-१३	ाधरो रस्तो
फालक		आंटी

सूत्रफाळक	२००-१८	सूतरनो आंटी (सर० 'फाळको')
फुल्लक	२६, १९-२० २३-२४	फूलुं
फेत्कार	६१-१०	फुंफवाटो
फेर्	२५३-१०	फेरववुं
बर्जरिका	१०९-२८	बाजरी
बर्जरी	१०९-२९, ११०-१	
बाउलक	५३, १४-३०	बावळ
बांठ	१८६-३	बांठियो, वामन
बाहिरलो	११४, ३०-३१	बहारनो
वाह्याली	२४७ २०	घोडाने खेलाववानो मार्ग (जू० गुज० 'वाह्याली' 'वाहियाली' पण मळे छे)
बिलाडिका	१३९, १८-१९	बिलाडी
बीटक	४८, २६-२७-२९ ९५-११, २०९, १६-१७	(पाननुं) बीडुं
बीवी	१८२-१३	बीवी (फारसी)
बुस	२७४-२०	भूसुं, फोतरां
बेडी	२३३-३०	होडी
बोत्कट	१४७, १८-१९-२०-२१	बोकडो
ब्रुण्ट	२७१-३	ठूंठुं, ठोंडुं
ब्रुड्	२८८-१९	बूडवुं
भट्ट	५०-२७, १६६-२१	भाट
भड्	६८-२६	भडवुं, युद्धमां अेक बीजा साथे भडवुं
भण्	२५-२०, २०३-१८	भणवुं
भण्डन	६८-२२	भांडण, युद्ध (प्राकृत)
भरटक	१७८, २५-२७, २५९-४, ३५१-२१	भरडो (शैव साधु के पुजारी माटे कुत्सावाचक संज्ञा.)
भरडक	१७८-२६	
भलायित	२६४-३	भळाव्युं
भस्त्रकधर	२३४-२५	भिस्ती
भस्त्रिका	८३, १०-१३	धमण
भाण्डागार		ग्रंथभंडार
भाभी	२०८-४	भाभी

भाम्भिक	१६५-१८ २७	'ढोली' अेटले के ढेढ, चाढार (सं० भम्भा)
मारपट्ट	२७९-३, ३११-३०	मारवटियो, पाटलो.
मारिका	३१४-२५	मारी
भिल्लघाटी	८९-२१	लुटारु भीलोनुं धाडुं
भूत:	२ २५	बुत, मूर्ति (फारसी)
भूतस्थानक	२-२७	देवस्थान
भ्रातृज	१०२-१९	भत्रीजो
मक्षिका	८३ ५	माखी
मञ्जरी	३०६ १५-१६	(फूकडानी) मांजर
मठवासनिका	१६५-२२	मठवासिनी
मठवासिका	१६५-२८	
मठी	१६७-११	मढी
मढ्	२३२ ११	मढवुं
मढि	२५१-१०	मढी
मढी	७१, १६-१७	(सं. मठिका)
मण्ड्	३-९ ६-८	मांडवुं, गोठववुं
मत्त	२११, १२ १३	मातो
मत्स्यबन्ध	१०९, २-४	माछी
मत्स्यबन्धक	३३०-७	
मदन	६, ९ ११-१२-१३, १७६-१५	मीण (प्रा. मयण, सं. मदन)
०मध्ये	३-१९, ६-२०	०मां
मन्द	१०२-१४	मांदो, रुग्ण
मर्कोटक	३१८-२५	मकोडो
मसीत	२-२३, ३४६-२८	मशीद (अरबी)
मसीतिका	२, २३-२४	
महानुभाग	११-१३	महानुभाव
माछिक	३०५, १३-१६	माछी
मात्रिका	२०३-२८	वर्णमाळा, मातृका
मात्स्यिक	१४०-६, ३०४, १९-२०	माछी
मान्	१३२-१	मानता राखवी
मानक	३१-४, ८५-१२, २९८-१	माणुं
माम, मामक	२०६-६	मामो
मार्ग	१७-१७	मागवुं

मालक	३२७-३०, ३३०-२३	माळो
मालिक	६६, १२-१३	माळी
मालिका	६६, १२-१३	माळण
माहिलओ	११४-३०	मांहलो, अंदरनो
मिल्	१२-६	(ने) मळवुं (प्राप्त थवुं एवा अर्थमां)
मिष्ट	२३९-१३	मीठुं
मीणाकाराः	१८९-३१	मीनाकारी करनारा
मीर	१४३-१५	सरदार (फारसी)
मुकुटवर्धननृपाः	२७९-७	मोडबंधा राजा (जू० गुज० 'मवडाधा')
मुक्त	४२-११	मूकेलुं
मुत्कल	५-१०, ८२-२७, १६३-१४, २१८-२१	मोकळुं, छूटुं
मुद्गल	४०-२७	मोगल (तुर्की)
मुल्लाण }	२,१७-१८-२०, ३४६-१५, ३४७-६	मुल्लां (अरबी)
मुल्लाणक }	२-१२	
मुशलमान	३४७-३	मुसलमान (फारसी)
मुष्टि	५५, ८-३०	मूठ
मूटक	४५-९ }	मूडो, सो मण
मूढक	६, ३१-३३-३४, १९०-२३ }	
मृत्स्ना	५०-१३ २७४-२०	माटी
मृष्टा	३-१४	मीठी
मेळ	११३-६	मेळ
मोचिक	१६६, १४-३०	मोची
मोट्	१५२-८	मरडवुं (हिं मोडना)
मोटिम	१५२-२	मोटाइ, मोटम
मैनिक	१४०, ९-१३-१५	माछीमार
यानपात्र	५-२२	वहाण (प्रा० जाणवत्त
युज्	२५-२०	जोडायेलो, सहित
युगन्धरी	२८-३०, २९-१, ३१८-१९	जुवार
युगान्धरी	२००-२५	धूंसरी
रक्ष	३१-२०, ४१-३	राखवुं
रक्षपाल	२२३-३	रखवाळ
रक्षा	१०७, १२-१३	राख

रट्	४२-२३, १३४-१६	रडवुं
रन्धनी	१२-३	रांधनारी, रांधण
रवारिक	९२-१२	रबारी, ऊंटनो रखवाळ
रव्वा	२४५, १७-१८, २७१, २१-२२	राब
रल्	१५१-२६. २१२-९	रळवुं, कमावुं
रसवती	८-१२, १६६-४-५-१८-१९	रसोई
राउल	५४-२९	राजकुल, राजदरबार
राजपाटिका	७१-२४, २८०-८	राजा फरवा नीकळे ते, रयवाडी
राटि	३२४-२०	राड, बूम
राटि	२९८, २३-२८	झगडो, कलह
राणिमा	२३४-२६	राजत्व, राजपद
राव	८५-३०	राव
रिंख्	१६९-१५	रींखवुं
रिञ्छः	२३, १-२-३	रींछ (सं. ऋक्ष)
रीरी	३५१-८	पित्तल
रुत	७४-२८, २०८, २९-३०	
	२०९-१, २४३-२७, २७८-८	क कपास
रोक्य	२४३-६	रोकडुं
रोक्यद्रव्य	७२-२६	रोकडुं द्रव्य, रोकड
रै	४७, ३-७-८	धन
रौर	२८२-८	भिखारी, निर्धन
लक्ष्मी	४, ११-१५	धन
लग्	३४४-२३, ३४८, २३-२६	आग लागवी, बळगवुं
लग्न	३४८, २३-२६	आग लागी, बळगयुं
लगाप्	१०७-१२	लगाववुं
लघुनीति	२०९-७	लघुशंका
लपनश्री	१८६-१७ }	लापशी
लप्पनश्री	२०६, १४-२०-२२ }	
लहन	२४६-८	लेणुं
लहनक	१२९-२६, १६९-२५	लहेणुं
लिप्सय	२८३-२३	लपसवुं
लिम्ब	६-१३	लीमडो (सं. निम्ब)
लिलासुः	५०-५	लेवानी इच्छावाळो
		('ला'='लेवुं'नुं इच्छादर्शक वि०)

लुट्	१३३-३	लूंटवुं
लूष्	१६४-५	लूछवुं
लोऊआ कौटुम्बिका:	१९०-१	लेउआ कणबी
लेखशाला	६५ ५	निशाळ
लेखशालिक	६५-५	निशाळियो
लोट्टक	४४ २८	लोटो
लोमातक	३३३, १-६-८	लोमडो, लोंकडीनो नर
लोहडिक	१६४ १५	लोढानो सिक्को (?); ओछामां ओछी किम्मतनो सिक्को
वउणि	४-७	वण (देश्य 'ववणी' =कपास; दे० ना० ६-८२, ७-३२)
वणन	९६-२	वणवुं ते
वधूटी	३४-११ २०७-२६	पुत्रवधू
वनक	१२०-१३	वणकर
वनकपुष्प	७४ २७	वणनुं फूल
वन्तोल	३४६-२९	वंटोळियो
वर्त्	७-३७. ८८-३, १६४-१२	वाटवुं
वर्त्मभंग	२४३ २३	वाट (मार्ग) पाडवी ते
वधय्	३-१९, ३-२६, ४-६	वधाववुं ते (दीवो) ओलववो ते
वर्य	२-१३. २ २०, २-२९	सारुं, उत्तम, सरस
वल्	५-७	पाछुं वळवुं
वल्ल	९७ २७	वाल
वल्लक	९७-२८	
वसहिका	२६९ २२	उपाश्रय (सं. वसति, प्रा वसहि)
वस्कारिका	५ २२-२३-२४	वखार (सं. उपस्कर)
वहिका	५४, २-७, २४३-५, २८१-५०	वही
वाटक	२०० ११-१३	वाडो
वाटी	१०७, ४ ५	वाडी, बगीचो
वारक	८-१२	वारो
वारके	५४-२९	वारीमां, वखतमां
वार्ध	७०-९	वाधर
वालीनाह	३५१, ६-७	अेक व्यंतर

वासनिका	१४-७, २३-४, ९८-९-१०-११-१२, १६९-२२. १९६ १८.२३०,१५-१७, ३ ६-१०	थासळी (पैसा राखवानी)
वाह्	२८-२६. ९६-१६	
	१५२-२७, २४४-२०	छेतरवुं
वाहन	७३-२०	वहाण
वाह्निका	६१-२५, ६२. २-३-६-१३-१६	मोजडी
		(जू. गुज.'वाहणी', सं. उपानह्-+इका, प्रा. वाहणाओ)
वाहरा	८५-७, २०९-२३	धार, मदद, कुमक
विगोप्	१२७-१७, २४५-१९, ३२६-२१	वगोववुं
विचट्	२१५-३०	उखडवुं,छूटुं थवुं (हिं.बिछडना)
विचाले	८४-२८, १७७-१	वचाळ, अधवच
विटाल्	१६५-२८	वटाळ करवो, वटलाववुं
विण्टनक	५५-२१	वींटणुं, वेष्टन, वींटेलुं वस्त्र
विध्याप्	५१-६, ३४८-२६	बुझाववुं
विलक्ष	८५-२९	विलखुं, छोभीलुं
विलगित	२१५-४	वळग्युं
विशुष्का	२००-२१	वसूकी गयेली
विश्वलप्रिय	२१५, २४-२६-२७-२९-३१	वीसलप्रिय नामनो द्रम्म
विस्तर	८४-८	भपको, आटोप (प्राकृत'विछड्ड')
विहर्	६-२३, १०४-२७	
	३१४-१०, ३१६, १८-२२	वहोरवुं
विंशोपक	५०-१	ओ नामनो नानो सिक्को
		(जू. गुज. वीसा. सर. अर्वाची प्रयोग "वीश वसा" "सो वसा"
वृद्ध	४, १-३-४-७	वडुं मोटुं (हिं. बढिया)
वेलाकूल	५-२१, १४८-५	बंदर (तेमांथी गुज. 'वेरावळ')
व्यस्त्या	१६३-२३	वीगते
व्यापार	२३८, ७-८	वेपार
शकुनिका	४१-२४, ३५०-२२	समडी, समळी
शण्ड	५८-१. १४१-२	सांढ, सांढ.
शण्ढ	१ ६-१०	(सं. षण्ड.)
शव	२९७-४	शब (सं. शव.)

शाड्वल	२४-४, १०७-२६	लीलो (सं. शाद्वल)
शालापति	१३६-२८	साळवी
शिक्षय्	३१३, ५-७	शीखववुं
शिलकुट्टक	१५५-१५	सलाट
शिलापट्टकः	५१-२६	सलाट
शुंडक	३१२-१	सूंडलो
शुण्डलक	१३९-१६	सूंडलो
शृगालः श्रेष्ठी	४४-१७	सगाळशा शेठ
शेर	३०-४	शेर
शोधि	१३८-१५	शुद्धि (प्रा० सोही)
श्राद्ध	५-६	श्रद्धालु, जैन श्रावक
श्राद्धी	३१४-१५	श्राविका
श्रीकरी	२३६-१३	अेक जातनी पाळखी
श्वभ्र	७२-२८ ७३-१, ७५, ८-९	नरक
श्वभ्रपात	७८-१४	नरकमां पडवुं
षष्टितन्दुल	११-१५	साठी चोखा
षुषद्रुम	३२८, १६-२४	गळीरंग्या शियाळनुं धरेलुं प्रभावक नाम
सकालम्	३२-२३ }	वहेलुं
सकाळे	१४-२२ }	
संकुल	२१७-१२	सांकळं
सज्जीक	३३-२२, ११५-१३, ३५०-८	साजुं करवुं
संडक	२०-२९	अंगुठो अने पहेली आंगळी
सत्क	१०८-११	०नुं
सन्दूरिक सर्प	३५० १९-२०	सींदूरियो साप
सन्धिः (स्त्री)	३५०-१	संधि
समलिका	८०-२५, ८१, १५-१६-१७	बाजरी मादा, श्वेनिका (सर०—गुज० समळी)
समा (स्त्री.)	४-२२	सम, सोगन
समेति	१०३-३	आवडे छे
सम्भाल्	१७-२४, २७३-२३	संभाळवुं
संमुखं	२-१३, ६-१८	सामुं
सरट / सरड / सरढ }	६८, १५-२२-२५-२८	सरडो, काकीडो

सर्वावसर	५५-४	दिवाने आम
सहेलक	३४५, १०-११-१२	शेळो
साकेतनपुर	४७-२	साकेतपुर
सातूआ	१८५-१३	साथवो
साधु	४-९	शाहुकार
सारा	६९-२६, ९२-२२,	सार, सारसंभाळ
	१०८, २०-२२, ११०-८	मदद
सिंदर	१९५, ९-१०	सींदरु
सिन्दूरिकः सर्पः	४५-२१	सींदूरियो साप
सिमिसिमायमान	२७१-४	समसमतु (अप० सिमिसिम्)
सीमाळ भूप	२५७-१२	सीमाडियो राजा
		सीमाडा पासेना राज्यनो राजा
सुकुमारिका	१०४-८	सुंवाळी
सुखासन	५४-४	पालखी
सुरङ्गा	५३-१३	सुरंग
सुरत्राण	२, ११-१५, ३, १-३	सुलतान (अरबी)
सूघरी	१५९-१३	सूघरी
सूचिक	१९२-३	सइ, दरजी
सेजवाल	१८२-२१, २३६-१२	अेक प्रकारनी पालखी
सेतिनका	८५-११	सेतिका, अेक माप
सेर	८७-२३	शेर
सेरिका	६५-११	शेरी
सेल्लहस्त	९६-१९ }	दंडनायक
सेल्पहस्त	९६-२१ }	(सं० शल्यहस्त, प्रा०-सेल्लहत्थ
		अप०-गुज०-'शेलत')
सेवधि	४९-२५	खजानो, (सं० शेवधि)
सोनी	१९१-६	सोनी (सं० सौवर्णिक, प्रा०
		सोवण्णिअ)
स्कन्धिक	९६-२७	खांधियो
स्त्यानघृत	२५५-८	थीनुं घी
स्थग्	४४-५	ढांकवुं

स्थगी	२६६, २५-२७ २६७, १-७	पाननो वाटवो उंचकनार सेवक=तांबूलग्राहक (जू. गुज. थइयाइत) ('स्थगी' 'वाटवा'ना अर्थमां होय छे-जेमके 'तांबूलस्थगीधर'. अहीं अेवा सेवक माटे वपरायो लागे छे)
स्पर्धक (न.)	२३, ४-६-७, ८५-१२ ११४-२६, १६८-१७ २४०, २४-२५	फदियुं के बीजो कोई सिक्को (?)
स्फेट्	१३-८, ८३-४	फेडवुं
स्वक	३२२-७	सगुं
हक्क्	५-१४, ६-१४	हाक मारीने, धमकावीने काढवुं
हज	२४३, १७, २८, २९	हज, मक्कानी जात्रा (अरबी)
हडि (हिडि)	२०१-२५, २०२. १-३	हेड, पगमां जडाती लाकडानी अेक जातनी बेडी (शृंखला)
हद्	३२३-८	हगवुं
हरीमजद्वीप	५-२२	होरमजनो टापु (फारसी)
हल्ल् मल्ल्	३००-१८	हालवुं माल्वुं
हल्ला (स्त्री०)	३००-१७	हळ
हाडि हाडि	२०२-१४	हड हड
हिण्ड्	१३८-८	हींडवुं, भमवुं
हिण्डोला-खट्वा	२१५-९ -८	हींडोळा खाट

(१) संदिग्ध अर्थवाळा शब्दो

कपरिक	१५२-१८	अेक प्रकारनी गुप्त नोंधपत्रिका (राजशेखरना 'प्रबन्धकोश'मां १०, २७-२८मां "कपरिका" अने २४, १९-२०, २५-२६, २५, १-२ मां "कपलिका" छे.)
ग्रंथि क	२०५-२५	शोक्य उपर ते नडे नहीं ते माटे नवी पत्नी तरफथी गांठ बांधवी (सरखावो 'प्रबन्धचिन्तामणि' १०४-२९, १०५-४.)
ग्रामहट्टकाः	१७, २३-२४	गामनो मुखी (?)
चुरल्लक-		मोरियो
तक्र-चुरल्लक	२१४-१७	छाशनो घडो, के मोरियो (?)
छल्लि	५०-१३	'छल्लि' छाल (?) ("छल्लिछन्नद्रुम इव")
छीत्कारय्	२७४-१०	अडकाववुं, स्पर्श कराववो. (०सर. प्रा. "छिक्क"=स्पृष्ट.)]
जिह्वयाक्षिक (?)	२२१-२०	(सर्पने मारवा माटेना औषधि-प्रयोगना संबंधमां 'जिह्वयाक्षिक' उपायनी वात छे)
टुपरिका	२३३-२९	होपो (?) (वरसादना जलप्रवाहमां नानो बालक कागळ वगेरेनी जे होडी तरावे ते माटे "टुपरिका" प्रवाहमां वहेती मूकवानी वात छे.)
त्राहिक	१७७, २०-२१-२४-२५	रोपो (?) (मञ्जिष्ठत्राहिकानि=मजीठना रोपा ?)
दण्डाडक	५९, १४-२०-२१	सोनीनी अेक जात (?)

दशार्धपूजा	३८, ७-८	प्रहार करवो के थूंकीने अपमान करवुं (?) (अपमान करवा माटे माथा उपर "दशार्धपूजा" कर्यानी वात छे.)
निछारक	१३७-२६	घरनो अेक भाग (?) (कुशीळ स्त्री घरमां 'निछारक'मां जतां पण बीअे, ज्यारे नदीना खूणाखांचरा पण जाणे अेवी वात छे.)
पतीयानकाः पतीआनकाः	२४०, २३-२५ २७२, १-७	जेमनो जमीनमां भाग छे के जमीन के मन्दिर उपर परंपरागत भोगवटानो हक छे तेओ (अेक संदर्भमां जमीन उपरना हकनी वात छे, बीजामां मंदिर उपरना हकनी).
पदक	२४७-२५ (?)	लाकडीने 'पदकवृत्ता' कही छे.
पर्यवसाप् (के 'पर्यवसाय्')	२८-११, ११२-७	जेम तेम करीने समजाववुं. [अेक संदर्भमां पिताने पराणे समजावी चंदनकाष्ठनुं गाडुं भरीने वेपार माटे परदेश जवानी वात छे. अन्यत्र पति, सासु-ससरा अने मात-पिताने गमे तेम समजावीने पतिनी साथे परदेश जवानी वात छे "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" ८२, २०-२१ मां पण जेनुं घर बळी गयुं छे, तेने लोकोअे समजावी लीधानी वात छे. सांडेसरा अने परीख 'पर्यवस्थाप्' होवानुं सूचवे छे. ते मूळनी दृष्टिअे कदाच विचारवा जेवुं, पण जोडणी अहीं पण 'पर्यवसाय्' छे]

पल्लयन } पल्ययन	१४५, १०-११	वारदान (?) (सोनुं भरेली गुण खाली करीने वाकीना बारदानने "स्वर्णपल्लयन" कह्युं छे)
पादशीर्षिक	२७४-१०, ३४६-१	पगना मोजां के पगे पहेरवानुं कोइ वस्त्रविशेष (?) (अेक स्थळे पराजितने 'पादशीर्षिका'-थी स्पर्श करीने मानभंग कर्यानी वात छे. अन्यत्र पगरखां माग्या पछी 'पादशीर्षिका' माग्यानी वात छे)
प्रक्षालन	३४२-१६	(नख) कापवा (?) (नापित शेठाणीना "नखप्रक्षालन" माटे आव्यानी वात छे.)
प्रथमालिका	१०४-९	पहेलुं भोजन के सवारनो नास्तो (?) (विवाहमां बाळकोने सवारमां सुंवाळीनी 'प्रथमालिका' आप्यानी वात छे.)
प्रशिक्किका } शिक्किका	१७८-२ १७८-६	जैनसाधुनुं अेक उपकरण (प्रतिलेखना करती वेळा 'प्रशिक्किका' उतारवानी अने उंदर 'शिक्किका' खाई जवानी वात छे)
वालि	१६७-१५	वालिका (?) (योगिअे 'वालि' खी स्थाप्यानी वात छे.)
बूची	२०४, १०-१५	अडवुं, मूर्ख [पोताना गरीब भाईओथी लाजती श्रीमंत बहेन तेमने 'गादह'=गधेडो अने 'बूची' अेवा नामे ओळखावे छे.]
भूतेल	३४६-२९, ३४७-१	भूतिओ वंटोळ (?) (वंटोळने 'भूतेल' कह्यो छे)
महिणिम पर्व } महिणिकाह्व पर्व	१९, १३-१४ २७२-२	देवीपूजा माटेनुं आसो सुद नोम सुधीनुं पर्व, नवरात्र.

रुषलाणी	५४, १२-१६, ५५, १२-१४	(योगीनी सिद्धि बुद्धि नामनी शिष्याओने "रुषलाणी" कही छे)
लोष्टिक	२४२-२७	अेक नानो सिक्को. (प्र० को ९७-२६ मां पण आ शब्द अने वात छे साहेसरा अने ठाकर ते "लोहडिया"नुं संस्कृत रूप होवानुं सूचवे छे)
वर्तुलक वर्तलक वर्तुल	४४, ५-७ ८७-६ १२५-२६	नानो गोळ वाटको (?) (८७-६ मां कानमां पाणी भरेलुं 'वर्तलक' मूकवानी वात छे. १२५-२६ मां तेल भरेलुं 'वर्तुल' लई जतां तेमांथी तेलनां टीपां पडवानी वात छे. ४४-५ मां सोपारी जेवडा आकारनी उपर 'वर्तुलक' ढांकवानी वात छे. आ उपरांत प्र० को० मां घी भरेला 'वर्तुलक'नो निर्देश छे)
वलयमुख	१०१, ९-१०-२०	जाळ (?) [माछलां माटे 'वलय-मुख' मांड्यानी अने तेने तोडीने ते बहार नीकळी गयानी वात छे.]
विचणी	२४०-२५	(?) [लाकडीने 'पदकयुता' अने 'विचणीमया' कही छे]
शर्कराफल	५४-२७	बीजोरुं (?)
शर्वरी	३४२-२५	साधुने वहोराववानी कोई खाद्य वस्तु (?)
शिक्किका	१७८-६	जुओ०-'प्रशक्किका'
शृंगारिकोटिशाटी	४९-८	करोडनी किंमतनी शणगारेली साडी (प्र० चि० ८१, १२-१३ पुरा० प्र० ४०-२ ४६-२८)

संथारक	२२३-१०	साळकूवो (?) [गुस्से थईने पुत्रने अशुचि संथारकमां नाख्यानी अने तेमांथी काढीने पाणीथी नवराव्यानी वात छे. प्र० चिं. ३४. २०-२१ मां माघ पंडितनी समृद्धि वर्णवतां तेना 'संथारक'नुं भूमितल काचनुं होवानुं जणाव्युं छे.]
समारित	१६६-१०	पलाटेलुं (?) ('असमारित' बळदने खेतरमां खेडवा माटे हांकवानी वात छे)
सहोलिक (पुं)	१६९, ४-८	(तेलनो) कूंपो ?
स्फरक	१३२-१	(?) लूंटाराओ बीने उपाडी गया तेने छोडाववा चारसो स्फरक वाणियाओ मान्यानी वात छे. 'स्पर्धक' ने बदले हशे]
हथ	३४७-२२	हाथ



(३) केटलाक नोंधपात्र प्रयोगो

व्याकरण दृष्टिए प्रबन्धोनी भाषानी केटलीक लढणो अत्यन्त सुविदित छे. परोक्ष भूतकाळना रूपोनो प्रचुर प्रयोग; 'कहयु' विगेरे माटे 'जगौ' वगेरे; 'बोल्यो' माटे 'अवग्', 'बोले छे' वगेरे माटे 'जल्प्' ना रूपो; 'लेवु' माटे 'ला'; 'विचारवु' माटे 'ध्यै', 'लागवु' माटे 'लग्'; मूकवु' माटे 'मुच्'; 'काढवु' माटे 'कर्ष', प्रेरणार्थ प्रत्यय 'आप्'नो व्यापक वपराश. ('प्रबन्ध पञ्चशती'मां 'कथाप्' 'कष्टाप्' 'घटाप्' 'छोटाप्'—अेकवार तो सीधु गुजराती 'छोडव्' 'मंडाप्' 'मुत्कलाप्' वगेरे)

गुजराती वगेरेना संयुक्त क्रियारूपोनुं प्रतिबिंब जेमके 'गच्छन्नस्मि' १७८-२७ 'जाउं छुं', 'जल्पन्नस्मि' १७४-१९ 'बोलुं छुं' 'गच्छन्नस्ति' ११६-२८, 'नयन्नसि' ४२०-७ 'क्रियमाणोऽस्ति' ९७-१०, 'प्रोच्यमानमस्ति' १६६-२६, 'स्थाप्यमानास्ति' १६७-११, 'वमन्नभूत्' ८१-२८, 'नमन्नभूत्' १०२-२ वगेरे.

क्रियारूपो परत्वे आवी केटलीक उपर उपरनी विगतो नोंधी शकाय. नामिक विभक्तिना प्रयोगोमां पण गत्यर्थ सप्तमी ('समीपे गतः' 'ग्रामे गतः' वगेरे); चतुर्थी माटे षष्ठी ('सुरत्राणस्य प्रोक्तं' वगेरे) पंचमीने बदले सप्तमी ('कस्मिन् पुरद्वारे निस्सरामि') ३०-६-७, 'मध्ये', 'पार्श्वे', 'पश्चात्', 'अग्रे' 'उपरि', 'स्थित' वगेरेनो अनुग तरीके प्रयोग; 'बहिर्गमनाद् अनु' 'देवतापार्श्वात् स्थापयामास' जेवामां गुजरातीना विभक्तिसम्बन्धोनुं प्रतिबिंब वगेरेनो निर्देश करी शकाय सार्वनामिक रूपने लघुतावाचक 'क' प्रत्यय लागीने थयेलुं 'मयका' (=मया; ३-२३) जूना समयना आवा अनेक रूपोनुं अेकमात्र अवशेष छे. आ बधा करतां वधु नोंधपात्र छे केटलाक गुजरातीमांथी उंचकेला रूढिप्रयोगो. तेमां 'पडवुं' 'लागवुं' 'काढवुं' 'चड्वुं' 'मांडवुं' वगेरेनी जे अनेक लाक्षणिक अर्थ-छायाओ गुजरातीमां विकसेली छे, तेनो संस्कृत 'पत्' 'लग्' 'कर्ष्' 'चट्' 'मण्ड्' वगेरे उपर आरोप करी देवामां आव्यो छे. अने केटलाक तो आखाने आखा वाक्यो ध्वनिफेरे गुजराती वाक्यरचना रजू करतां देखाय छे. अहिं नीचे अेक नमूना रूपे यादी आपुं छुं.

१	पादौ अवधार्	२३५-१	पधारवुं
२	उत्सूरं कृ.	२१४-२६	मोडुं करवुं
३	उच्चैः कृ	१०-२	ऊंचुं करवुं
४	बहिः कर्षय्	५-२४	बहार काढवुं
५	भूमध्यस्थां कर्षय्	१८९-१०	भोमांथी काढवी
६	हस्ते चट्	१२-१२, ८६-४	हाथ चडवुं
७	ज्वरः चट्	८४-२८, १७८-३	ताव चढवो
८	मुत्कलं जातं	५-१०	छूटुं थयुं
९	उत्तारको दापितः	५४-२४	उतारो देवराव्यो
१०	धीरां दा	६७-१०	धीर आपवी
११	शिक्षां दा	३९-१९	शीख आपवी
१२	पृष्ठिं दा	१४२-१३	पीठ देवी
१३	द्वारं दत्तवान्	३४८-७	बारणुं दीधुं
१४	खात्रं पातय्	२०८-१७	खातर पाडवुं
१५	दुष्कालोऽपतत्	३१-२८	दुकाळ पडयो
१६	संध्या पतिता	६३-६	सांज पडी
१७	टालिः पतिता	१०७-२	टाल पडी
१८	पट्टकं बन्ध्	५३, २२, १६७-२३	पाटो बांधवो
१९	कच्छकं बन्ध्	२११-२४	काछडो बांधवो
२०	ग्रामः भग्नः	२-२२	गाम भांग्युं
२१	कुहेडा भग्नाः	५४-३३	कोयडा भांग्या
२२	गणितुं मंडितानि	२१४-१६	गणवा मांड्या

२३	शकुनं मान्	३१२-४	शुकन मानवा
२४	वरं मार्गय्	३५-१०	वरदान मागवुं
२५	ग्रहणके मुच्	३३५-१९	घराणे मूकवुं
२६	शून्यां मुच्	२००-५	सूनी मूकवी
२७	उद्घाटं मोचय्	१९३, ४-५	उघाडुं मुकाववुं
२८	मुत्कलो मुच्	२१८-२१	मोकळो मूकवो
२९	पठितुं मुच्	२०७-२५	भणवा मूकवो
३०	नंष्ट्वा या	९-२४	नासी जवुं
३१	करौ योजय्	४८-२८	हाथ जोडवा
३२	हस्तौ योजय्	१९१-१६	
३३	रक्षां लगाप्	१०७-१२	राख लगाडवी
३४	हस्तं लगय्	२-२८	हाथ लगाडवो
३५	छोतिः + लग्	५५, ३०-३१	आभड़छेट लागवी
३६	गालिः + लग्	१२२-१९	गाळ लागवी
३७	बुभुक्षा लग्	१९०-७, ३३८-२, ७६-३	भूख लागवी
३८	तृषा लग्	४६-१९, तृट् लग्-६३-६	तरस लागवी
३९	पापं लग्	६-१४, १६६-७८	पाप लागवुं
४०	द्विप्रहरो लग्	१८३-४	बपोर थवी
४१	वेला लग्	६४-१२	वार लागवी
४२	कर्तुं लग्	५-२३	करवा लागवुं
४३	कारयितुं लग्	१२३-११	करावबा लागवुं
४४	लहनकं ला	१६९-२७	लहेणुं लेवुं
४५	पश्चात् वल्	२३५-२४	पाछुं वळवुं
४६	चुल्हकं संधुक्षय्	९२, ६-७	चूलो संध्रूकवो
४७	जिह्वां संभाळय	२७३-२३	जीभ संभाळवी
४८	ऊर्ध्वं स्था	१०-२, ४०-३१	ऊभा थवुं
४९	चामरढालन	७७-१२	चामर ढाळवो ते
५०	गलटुम्पकदान	१६१-१७	गलाटूंपो देवो ते
५१	चंदिकरुजन	३४४-२५	चांदी रूजावी ते
५२	चुल्हीसंधुक्षण	२०८-२	चूलो संध्रूकवो ते
५३	नालिकेरस्फोटन	२७३-५	नालियेर फोडवुं ते
५४	'स्वं मस्तकं खज्जय्'	९८-१७	पोतानुं माथुं खजवाळवुं
५५	उपरि या	१-१४	उपर जवुं
५६	पश्चाद् या	७-४	पाछा जवुं

५७	सार्धम् आया	३-२, ३-३	साथे आववुं
५८	संमुखं विलोकय्	६-१८	सामुं जोवुं
५९	वत्मं विलोकम्	१३७, २५-२६	वाट जोवी
६०	मौनी भू	२-२१	मूंगा थई जवुं
६१	मार्गे चलन्	१-२०	रस्ते चालतां
६२	वर्यं कृतम्	१७०-२३	सारुं कर्युं
६३	मस्तकं भद्रीकृ	१२४-५	माथुं भद्रावबुं
६४	बाहरा धाविता	८६-६	बाहर धाई
६५	सकाले विकाले	१२०-२७	वहेलुं-मोडुं
६६	दीपो वर्ध्यताम्	१७२-२७	दीवो वधेरो
६७	घटिकायोजनगोष्ठी	२६७-५	घडियाजोजन सांढणी
६८	किं अद्यकल्ये नाऽऽगम्यते	५५, ४-५	आजकाल केम आववानुं थतुं नथी
६९	गोष्ठीं कुर्वाणा उपविष्टाः	२-११	वात करतां बेठा हता
७०	ज्वलितं अस्ति ज्वलिता वा	२०९, ३-४	बळ्या के बळाशे
७१	त्वादृशा मत्फुत्कृतेन उड्डीयन्ते	२०४-२८	तारा जेवा मारी फूंके उडी जाय
७२	लक्ष लक्ष नमस्कारा मानिताः	४२-६	लाख लाख नमस्कार मान्या
७३	पृच्छनेन सृतम्	१६९-१९	पूछवाथी सर्युं
७४	त्वया किं स्यात्	२०५-२	ताराथी शुं थाय तेम छे
७५	अद्य किमपि रद्धुं न शकितं मया	१७०-२३	आज कांई पण रांधी नथी शकायुं
७६	न शीतं लगन् भावि	१७-२२	माराथी क्यांक ठंडी न लागी जाय
७७	ढोलस्य पोलत्वम्	७८-५	ढोलनी पोल
७८	जीवन्नरो भद्राणि लभते	१७३-२	जीवतो नर भद्र पामे
७९	कीटकोपरि कटकारंभः	२५२-९, २९८-१२	कीडी उपर कटक

आ यादी स्हेजे प्रमाणमां लंबावी शकाय तेम छे. वाक्योनी आखी वाक्यरचना, तेमनो ढाळो अने शैली मोटे भागे गुजरातीना होवानुं लाग्या करे छे. संस्कृतना वेशमां गुजराती भाषा होवानुं अनेक स्थळे प्रतीत थाय छे. शताब्दीओ सुधी (अने बाजारू हिन्दीनी जेम) विविध भाषी प्रदेशोमां राष्ट्रभाषा तरीके—संस्कृत भाषा तरीके अखिल भारतीय व्यवहारमां रहेतां, संस्कृत केटली बधी वाळी वळे तेवी बनी शकती ते वस्तु प्रबन्धोनी भाषा स्पष्टपणे बतावी आपे छे. आम मान्य भाषाना उद्भव अने घडतरनी व्यापक दृष्टिअे पण प्रबन्धोनी भाषा घणी रसप्रद जणाशे.

(४) कथाओ विशे टूंकी नोंध

'प्रबन्ध पंचशती'मां पूर्ववर्ती प्रबन्ध साहित्यमांथी लीधेली ऐतिहासिक अने अनुश्रुत्यात्मक सामग्री उपरांत सामान्य कथा-साहित्यनी सामग्री पण मोटा प्रमाणमां आवेली छे. जे रीते कदाच

तेनुं 'पंचशती प्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्ध' ओ नाम पण सार्थक गणाय अने केटलीक कथाओने स्पष्टपणे 'लौकिकी'के हितोपदेश माटे टांकवानुं थयुं छे. ५७६ थी ६१२ सुधीना प्रबन्धोमां पंचतंत्रनी घणी कथाओ आवी जाय छे. आगळना भागमां पण घणी कथाओ पंचतंत्रशैलीनी छे. वळी जातककथा वगेरेना समयथी कथाप्रवाहमां वहेती थयेली केटलीक वार्ताओने पण अहिं स्थान मळ्युं छे—८९मा प्रबंधनी कथा पुण्यवंत जातकमां तथा जैनसाहित्यमां मळे छे. १७४ वाळी वानरयूथपतिनी वात अथवा तो प्राणीभाषा जाणनार राजानी वात पण जातकमांथी छे. ७३ मानो धुतारा नगरीवाळो प्रसंग रत्नचूडरासमां पण छे. ९६ मा अने ३७२ मा प्रबंधमानुं कथाघटक (गुप्तवेशे पति पासेथी पुत्र प्राप्त करवानी शरत पूरी करवी.) घणी लोककथाओमां मळे छे. ५३४ वाळी सोढीनी वात रत्नचूड रासमां पण छे. १०२ मा प्रबन्धमां आवती नंदबत्रीशीनी कथा, ५४३ मां गुणचंद्रसूरिना "महावीर चरिय"थी जाणीती चंदन मलयागिरिनी कथा, तो १०४ मा प्रबन्धमां शामळनी 'सिंहासन-बत्रीशी' मां छे ते वेतालभट्टनी कथा आपेली छे.

१०७ मा प्रबन्धनी कथा ते "ज्ञाताधर्मकथा" नुं 'कूर्मज्ञात' छे. २२० मां कुबेरदत्त-कुबेर सेनानी अढार नातरानी जैन परंपरामां घणी प्रचलित कथा छे. १२५ मा अने १५६ मां धर्मव्याधनी महाभारतना समयथी जाणीती कथा छे. १२७ मां वसुदेवहिण्डी वाळी चारुदत्तनी कथा छे.

लोक-कथाओनी अनेक जाणीती प्रकृतियो (Types) अने घटको अहिं ओळखी शकाय छे.

आर्यनन्दिलसूरिनी ४६० मांनी वात नागपांचमीनी लोककथाने मळती छे. आपकर्मी अने बापकर्मी (१२३ शामळनी 'सिंहासनबत्रीशी' मांनी समुद्रनी सुंदरी के पाताळ-पद्मणीनी वात;) तेम ४११=शामळनी सिंहासन बत्रीशी'मां मळती; विधातानी शोधमां (१९३=शीतळा सातमनी वातनुं कथाघटक); बे भाई के जादुई पक्षीहृदय (२०,५४६ = काष्ठमुनिनी वात), परकायाप्रवेश (५६६, सिंहासनबत्रीशीमां मळती), वडला उपर चढीने जादुई शक्तिथी द्विपान्तरमां विहार करती पुत्रवधूओ (४१८, चंदराजानी वातमां पण आ मळे छे) वगेरेनो उल्लेख करी शकाय.

३५७ अने ५४२ मांनी वार्तानुं घटक धणियो अने धणकीनी लोककथामां, ५१३ वाळं जपी अने तपीनी लोककथामां, ५४१ वाळुं राजानुं माथुं मुंडावता चकलीनी लोककथामां, ५०१ वाळुं तीड़ा जोशीनी लोककथामां, २०८ वाळुं बाबराभूतनी वातमां, तो ५०३ वाळुं 'घी चोरीओ घी चोरीओ स्वाहा' वाळी लोककथामां मळे छे. आ तो मात्र अंगुलिनिर्देश कर्यो छे. "प्रबन्ध पंचशती'ना कथा सामग्री पण व्यवस्थित अभ्यास मागी ले तेवी अने तेटली छे.

श्रीशुभशीलगणिनी अन्य कृतिओ पण भाषानी अने कथासाहित्यनी दृष्टिओ भरपूर भंडारनी गरज सारे तेम छे.

मुनिश्री मृगेन्द्र मुनिजीओ आ महत्त्वनो ग्रंथ संपादित अने प्रकाशित करीने साहित्यनी सेवा करी छे अने अभ्यासीओ माटे अणमूल सामग्री सुलभ करी आपी छे.



प्रबन्ध-पञ्चशती

अनुक्रमणिका

अथ प्रथमोऽधिकारः ।

अथ द्वितीयोऽधिकारः

अथ तृतीयोऽधिकारः

अथ चतुर्थोऽधिकारः

समाप्त

આજે વિદ્વાનોના કરકમલમાં પંચશતી પ્રબંધ નામનો ગ્રંથ ઉપહૃત કરવામાં આવે છે. આ ગ્રંથ એક ઐતિહાસિક ગ્રંથ છે. એના રચયિતા શ્રી શુભશીલગણી છે. શ્રી શુભશીલગણી, એ વિક્રમના પંદરમા–સોળમાં સૈકાના એક વિશિષ્ઠ ગણી શકાય તેવા વિદ્વાન હતા. તેમણે ભરતેશ્વર બાહુબલીવૃત્તિ, શત્રુંજયકલ્પવૃત્તિ, કથાકોશ આદિ જેવા દસ દસ હજાર શ્લોકપ્રમાણ, મહાકાય કહી શકાય તેવા અનેક ગ્રંથોની રચના કરી છે. દાનાદિકથા, પુણ્યસારકથા, સ્નાત્રપંચાશિકા જેવા નાના–મોટા કથાગ્રંથોની પણ રચના કરી છે; ઉણાદિનામમાલા, પંચવર્ગસંગ્રહનામમાલા જેવા ગ્રંથો રચ્યાનો ઉલ્લેખ પણ 'જૈનગ્રંથાવલિ'માં જોવામાં આવે છે. તેમજ શાલિવાહનચરિત્ર, ભોજપ્રબંધ આદિ જેવા ઐતિહાસિક સામગ્રી પૂરા પાડતા ગ્રંથો પણ રચ્યા છે. પ્રસ્તુત પંચશતી પ્રબંધ સંગ્રહ ગ્રંથ એ આ કોટિમાં મૂકી શકાય તેવો એક ઐતિહાસિક ગ્રંથ છે. શ્રી શુભશીલગણીએ આ ગ્રંથમાં ઘણી ઘણી ઐતિહાસિક સામગ્રીનો સંચય કર્યો છે. અલબત્ત આવા ગ્રંથોમાં કેટલીક કિંવદન્તીઓ કે અનુશ્રુતિઓનો સંગ્રહ કે સમાવેશ થતો હોવાથી એને શુદ્ધ ઐતિહાસિક ગ્રંથ ન કહી શકાય એમ વિદ્વાનો માનતા હોય છે, તેમ છતાં કેટલીક કિંવદન્તીઓ કે અનુશ્રુતિઓમાં ઇતિહાસનાં બીજ પડેલાં હોઈ આવા ગ્રંથો વિદ્વાનો માટે ઐતિહાસિક ગ્રંથ જ બની જાય છે. આજે આપણા પ્રાચીન ઈતિહાસના સર્જનમાં આવા પ્રબંધોનો ઘણો મોટો ફાળો છે. જો આવા ઐતિહાસિક સામગ્રીઓ પૂરા પાડતા ગ્રંથોની ઉપેક્ષા કરવામાં આવે તો આપણા પ્રાચીન ઈતિહાસને શોધી કે લખી જ ન શકીએ. ઘણી વાર એવું બન્યું છે અને આજે પણ બન્યે જ જાય છે કે વિદ્વાનો જેને શુદ્ધ ઐતિહાસિક ગ્રંથ કે સામગ્રી તરીકે માનતા હોય છે તેવા ગ્રંથો કે સામગ્રીમાં પણ પૂર્વગ્રહ, પક્ષપાત કે સાંપ્રદાયિક આદિ રંગોથી રંગાએલા વિદ્વાનોએ તેના આલેખનમાં અતિશયોકિત અને હીનોકિતદોષો કરેલા જોવામાં આવે છે. એટલે ભિન્ન ભિન્ન દૃષ્ટિએ ઐતિહાસિક વિદ્વાનો ગમે તેવી માન્યતા ધરાવતા હોય તે છતાં એ હકીકત તો નિર્વિવાદ છે કે ઇતિહાસલેખક કે ઇતિહાસજ્ઞ મધ્યસ્થ વિદ્વાનો માટે આવા પ્રબંધસંગ્રહો ઇતિહાસને લગતી ઘણી વિશાળ અને મહત્વની સામગ્રી પૂરી પાડે છે. આ દષ્ટિએ જોતાં પ્રસ્તુત પંચશતી પ્રબંધ ગ્રંથનું ઐતિહાસિક ક્ષેત્રે ઘણું ઊંચું સ્થાન છે. શ્રી શુભશીલગણી એ પોતાના યુગના એક ઇતિહાસરસિક મહાનુભાવ વિદ્વાન હતા. તેઓશ્રીએ અનેક મહત્ત્વની વિગતો અને માહિતીઓથી પ્રસ્તુત પ્રબંધસંગ્રહને સમૃદ્ધ કર્યો છે. આશા છે કે આવો એક અમૂલ્ય પ્રબંધસંગ્રહ અનેક પ્રતિઓ દ્વારા શુદ્ધ અને વ્યવસ્થિત કરી વિદ્વાનોના કરકમલમાં અર્પણ કરવામાં આવે છે, એ અવશ્ય વિદ્વાનોને ઉપયોગી બનશે જ.

અંતમાં જે મહાનુભાવોએ પ્રસ્તુત ગ્રંથના સંશોધન–પ્રકાશન આદિમાં અનેક રીતે શ્રમ લીધો છે અને જે મહાનુભાવોએ આવા અમૂલ્ય ગ્રંથના પ્રકાશન માટે પોતાના ધર્મ્ય ધનની સહાય કરી છે તેમજ જે સંસ્થા આ ગ્રંથનું પ્રકાશન કરે છે તેઓને હાર્દિક ધન્યવાદ અને અભિનંદન છે.

पञ्चशतीप्रबोध(प्रबन्ध)सम्बन्धः — प्रबन्धपञ्चशती

(रचना, वि. सं. १५२१)

[illegible]

A–संज्ञकप्रति, छाणी(वडोदरा)ना श्रीजैन श्वे. ज्ञानमंदिरना उपा. श्रीवीरविजयजी–शास्त्रसंग्रहनी प्रतिना प्रथम पृष्ठनी प्रतिकृति.

॥ अर्हम् ॥

श्रीशुभशीलगणि-विरचितः

पञ्चशतीप्रबोध(प्रबन्ध) सम्बन्धः

(प्रबन्धपञ्चशती)

युगादिदेवादिमवर्द्धमाना-न्तिमान् जिनान् केवलिनः परांश्च ।
श्रीपुण्डरीकादिगुरून् यतींश्च, नमाम्यहं बोधिसमाधिहेतोः ॥१॥
किञ्चिद्गुरोराननतो निशम्य, किञ्चिन्निजान्यादिकशास्त्रतश्च ।
ग्रन्थोह्ययं पञ्चशतीप्रबोध-सम्बन्धनामा क्रियते मया तु ॥२॥

लक्ष्मीसागरसूरीणां, पादपद्मप्रसादतः ।
शिष्येण शुभशीलेन, ग्रन्थ एष विधीयते ॥३॥

[1] अथ श्रीगौतमस्वाम्यष्टापदतीर्थवन्दनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीअष्टापदतीर्थनमनफलं श्रीवर्धमानजिनपार्श्वे श्रुत्वा श्रीगौतमस्वामी यदा अष्टापदतीर्थसमीपे गतः तदा तत्रस्थास्तापसा दध्युरेष किं करिष्यतीति, एवं तेषु ध्यायत्सु गौतमस्वामी सूर्यकिरणानवलम्ब्य तीर्थस्योपरि ययौ ।

तत्र भरतकारितप्रासादे चतुर्विंशतिजिनेन्द्रान् मानप्रमाणदेहाऽऽकारवर्णादिकान् अनुक्रमेण वन्दते स्म[1] ।

चत्तारि अट्ठ दस दोय, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१॥

तत्र देवान् नमस्कृत्य तीर्थादुत्ततार यदा तदा १५०३ तापसा गौतमस्वामिवचसा प्रबुद्धाश्चारित्रं जगृहुः । ततः श्रीगौतमो मार्गे चलन् कस्माद्ग्रामात् [कुतश्चिद्ग्रामात्] शुद्धं क्षीर-

१. C. प्रतौ नास्ति ।

भृतं पतद्ग्रहमानीय स्वाङ्गुष्ठं तन्मध्ये क्षिप्त्वा सर्वान तापसान भोजयामास । तेषु जिमत्सु गौतमस्वामिलब्धिं ध्यायत्सु ५०० तापसानां केवलज्ञानं जातम् । ततो वर्त्मनि श्रीवर्द्धमानजिन-वर्णनं श्रुत्वा ५०० तापसानां केवलज्ञानं बभूव । प्रभौ दृक्पथागते ५०३ तापसानां ज्ञानमुत्पन्नम् । गौतमस्वामी केवलज्ञानोत्पत्तिमजानन् तान्प्रति प्राह्—प्रभोः प्रदक्षिणा दाप्यन्ते [दीयन्तामिति] ततस्ते प्रदक्षिणां दत्त्वा यदा केवलिपर्षद्युपविष्टाः तदा गौतमः प्राह्—ये मूर्खास्ते मूर्खा एव प्रभुं न वन्दन्ते जल्पिता अपि, तदावग् वर्धमानः स्वामी केवल्याशातनां मा कुरु [कार्षीः], गौतमः प्राह्—भगवन् ! का केवल्याशातना ?, ततः प्रभुणा तेषां केवलज्ञानोत्पत्तिसम्बन्धः प्रोक्तः, ततो गौतमः तेषां पादान् नत्वा क्षमयित्वा च प्रभोः पुरः प्राह्—येषामहं दीक्षां दास्ये [प्रादाम्] तेषां केवलज्ञानं, मम न, ततः तत्खेदं गौतमे दधाने प्रभुः प्राह तवापि केवलज्ञानं भविष्यतीति ॥१॥

[2–17] षोडश श्रीजिनप्रभसूरिप्रबन्धाः ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयः पीरोजसुरत्राणेन समं गोष्ठीं कुर्वाणा उपविष्टाः । तदा तत्र मुलाणका आगताः, एकेन मुलाणकेन निजटोपिका आकाशे उच्छालिता, सा च तत्र निराधारा तस्थौ, सुरत्राणः श्रीजिनप्रभसूरिसंमुखं प्रेक्ष्याऽऽह्–अहो महदाश्चर्यं ! सूरिः प्राह्–वयम् । ततः सूरिणा तत्रैव स्तम्भिता । ततः सुरत्राणोऽवग्–आनीयतां टोपिका, ततः स आकर्षणमन्त्रं प्रयुञ्ज-यामास परं नैति सा, ततः सुरत्राणः प्राह्—जिनप्रभसूरे ! त्वमानय । ततः सूरिणा क्षिप्तो रजोहरणस्तत्र गत्वा टोपिकामानिनाय ततःसुरत्राणश्चमच्चक्रे ।

द्वितीयदिने मस्तकस्थवारिभृतघटा पानीयहारिका यावद्राज्ञोऽग्रे चचाल तावत्तथा मुला-णेन कृतं यथा घटयुगं व्योम्नि निराधारं स्थितं, स्त्री तु अग्रे गता घटं मस्तके अदृष्ट्वा तत्र [तद्] निराधारं च वीक्ष्य राजा चित्ते चमच्चक्रे । ततो राज्ञा स प्रशंसितो यदा, तदा गुरुः प्राह्—निराधारं जलं यदि तिष्ठति तदा वर्या कला । ततो राज्ञोक्तः स मुलाणस्तत्कलामजानन् मौनीबभूव, ततो गुरुणा कर्करेणाऽऽहत्य घटयुगं जलं निराधारं स्थापितं [दृष्ट्वा] राजा चमच्चक्रे ।

एकदा सुरत्राणेन कान्हडग्रामो भग्नः, तत्रत्या श्रीवीरप्रतिमानीय यवनैः ढील्यां[1] मसीतद्वारे सोपानकस्थाने स्थापिता । तत एकदा सुरत्राणः श्रीसूरिस्कन्धे हस्तं दधानो मसीति-कायां यावत्प्रविशति तावत्सूरिः वीरप्रतिमां वीक्ष्यैकस्मिन्पार्श्वे स्थितः । तदा सुरत्राणोऽवग्–एवं किं कृतं ? जिनप्रभसूरिः प्राह—प्रभुर्देवोऽस्ति । सुरत्राणोऽवग्–अयं भूतः किं जानाति ? न किंचित् । सूरिः प्राह–अयं देवः सत्यवादी ज्ञानी विद्यते । भूपोऽवग्–तर्हि जल्पय । सूरिः प्राह स्वामिन् ! भूतस्थानकमुपदेशाय कार्यते, तत्र मंह्यते, पूज्यते, ततः पृच्छ्यते, ततः पृष्टं कथयति, ततः स्वामिनाः देवगृहं कारितं । यदा प्रतिमा नोत्पतति तदा सूरिः प्राह—त्वं हस्तं लगय यथोत्तिष्ठति, ततस्तथा कार्ये कृते प्रतिमां तां देवालये निवेश्य वर्यभोगेन पूजयित्वा अन्तरा वस्त्रं बन्धयित्वा राजा यद्यद्वंशसम्बन्धं पृच्छति तत्तस्योत्तरं दत्ते । २१ प्रियाः प्रोक्ताः, सुरत्राणो हृष्टः, शङ्कया वस्त्रेऽपसारितेऽपि तथैव प्राह । ततो विशेषतो वीरः पूजितः, कान्हडोमहावीर इति [च] ख्यातिरभूत् । इति कान्हडा[ड] महावीरस्थापनजिनप्रभाचार्यसम्बन्धः ॥२॥

१ 'दिल्ही' इति भाषायाम् । —संपा० ।

एकदा सुरत्राणो ग्रीष्मे पुराद्बहिः वटवृक्षे स्थितः, सच्छायं वटवृक्षं वीक्ष्य प्राह्–जिनप्रभाग्रे [जिनप्रभसूरिणः पुरतः] यदि एवंविधा शीतला छाया सार्द्धमायाति तदातीव सुखं भवति। ततः सूरिणोक्तं समेष्यति सार्द्धं वृक्षः, ततश्चलति सुरत्राणे सोऽपि वृक्षश्चचाल सायं यावत्, पश्चाद्विलोकितं स्थानं तत्र न ज्ञातः [ज्ञातं] पश्चाद्विसर्जितो वृक्षः स्वस्थाने गतः, राजा चमत्कृतः ॥ इति वृक्षचालनसम्बन्धः ॥ ३ ॥

एकदा सुरत्राणेनोक्तं जिनप्रभसूरे! त्वं विज्ञोऽसि, कथय अद्य अहं कस्मिन्पुरद्वारे [केन पुरद्वारेण] निस्सरामि। ततो जिनप्रभसूरिणा पत्रे लिखित्वा मुद्रयित्वा लेखोऽर्पितः, सुरत्राणस्य प्रोक्तं च पुरस्य [पुराद्] बहिर्गमनादनुवाचनीयो लेखः। ततः सुरत्राणो वप्रस्यैकविंशति [त]मलंगक[?]पार्श्वे इष्टिका अपसार्य बहिर्निर्गतः, ततो लेखं वाचयामास यथा निर्गतस्तथैव लिखितमभूत् राजा हृष्टः॥ इति वप्रलंगकनिर्गमनसम्बन्धः ॥४॥

एकदा सुरत्राणोऽवग्—अद्याहं किं भोक्ष्ये, ततः सूरिर्लेखं लिखित्वा मुद्रयित्वा ददौ, जेमनादनुवाच्यः ततः सुरत्राणेन खलो भक्षितः ततो लेखे विलोकिते खलभक्षणलिखनं दृष्टं राजा हृष्टः॥ ॥ इति खलभक्षणसम्बन्धः ॥५॥

एकदा सुरत्राणोऽवग्–सूरे! कथय, शर्करा कस्मिन् क्षिप्ता मृ[मि]ष्टेति, मन्त्रिणः पण्डिताः पृष्टाः, केनापि नोक्तं यदा तदा सूरिर्जगौ "मुखे क्षिप्ता" ॥६॥

एकदा सुरत्राणो बहिरुद्याने गतः, महत्सरो जलभृतं दृष्ट्वा सर्वेपामग्रे प्राह्—एतत्सरो रजःपूर्णं विना कथं लघु भवति। एवं प्रोक्ते यदा न केनापि उत्तरो दत्तस्तदा सूरिः प्राह्—अस्य पार्श्वे द्वितीयं सरो महत्तमं कार्यते तदा भवति लघु, राजा हृष्टः ॥७॥

एकदा सुरत्राणो मरुस्थलीमध्ये समायातो। यदा ग्रामनार्योऽक्षतानानीय वर्द्धयन्ति। सुरत्राणो धनं वितीर्य प्राह—कथमाभरणरहिताः स्त्रियो दृश्यन्ते, केन लुण्टिता दण्डिता वा? सूरिणा प्रोक्तं—इयं मरुस्थली रुक्षा धनहीना विद्यते, ततः सुरत्राणः स्त्रियं स्त्रियं प्रति शतं दीनारान् दत्त्वा जोत्कारं चक्रे ॥ ८ ॥

एकदा सुरत्राणो जगौ–यथा चमत्कारितीर्थं कान्हडकमहावीरोऽस्ति, तथाऽन्यदपि किमस्ति? ततः शत्रुञ्जयतीर्थव्याख्यानं कृतं, ततः ससंघो जिनप्रभसूरियुतः शत्रुंजये गतः, तत्र तीर्थं दृष्ट्वा चमत्कृतो यदा, तदा[1] सूरिः प्राह्—मुक्ताफलैरिमा [रियं] राजादनीयादि [यदि] वर्ध्यंते तदा क्षीरं झरति, ततस्तथा कृते राजादनी क्षीरं वृष्टा, राजा [राज्ञा] संघपतेराचारः कारितः तत्र लेखितो, योऽस्य तीर्थस्यावज्ञां करिष्यति स गोस्वामिनः करोति। ततस्तत्र सप्तरेखा कारिता पाषाणैः। ततोऽधस्तादुत्तीर्य सर्वान् जनान् प्रति प्राह्—आत्मीयमात्मीयं देवमानयत। ततो लोकैः स्वस्वदेवः हर–हरि–ब्रह्म–जिनादिरानीतः, राज्ञा सर्वान् मण्डयित्वा पृष्टम् एतेषु—

१ तदेति. B. प्रतौ नास्ति।

[पृष्टमेतेषु][1] देवेषु को वृद्धः? यदा लोको न वदति तदा जिनप्रतिमां मुख्यस्थाने उपविश्य [उपवेश्य] हरिब्रह्मादिप्रतिमाः परितो निवेशिताः, स्वयमासने उपविश्य परितः सेवकान् सायुधान् स्थापयित्वाह—को वृद्धः ?, लोका जगुः, स्वामी एव वृद्धः। सुरत्राणः प्राह—यद्येवं तर्हि जिनो वृद्धः, शस्त्ररहितत्वात्, सायुधाः सर्वे सेवकाः, ततो लोकैरुक्तं प्रभुवचःप्रमाणमिति॥९॥

ततः सुरत्राणो गिरिनारगिरौ गतः, तत्र अच्छेद्याभेद्यप्रतिमां नेमिनो ज्ञात्वा घातैः स्फुलिंगनिःसरणैः सुरत्राणः प्रभुं प्रणम्य क्षमयित्वा १०० मित स्वर्णटङ्कैर्वर्द्धयामास ॥१०॥

एकदा जिनप्रभः पृष्टः सुरत्राणेन, भूमौ किं पुष्पं वृद्धम् ? सूरिः प्राह— वउणि' (?) जगढंकनत्वात् ॥११॥

एकेन सुरत्राणस्याग्रे प्रोक्तं–जगसिंहः साधुः कूटं न जल्पति, ततः सुरत्राणेन पृष्टं जगसिंह ! तव गृहे कियत् धनं विद्यते ? तेनोक्तम्—कल्ये कथयिष्यते। ततो गृहे गत्वा साधुः सर्वगृहलक्ष्मीसंख्यां कृत्वा सुरत्राणपार्श्वे गत्वा प्राह—मम गृहे ८४ लक्षाः हेमटङ्कका विद्यन्ते। ततः सुरत्राणेन सत्यं तं ज्ञात्वा १६ लक्षाः स्वकोशाद्दापिताः कोटीध्वजः कृतः सः ॥ १२ ॥

एकदा सुरत्राणेन स्वहस्ते वर्यं रत्नं गृहीत्वा प्रोक्तं–भो जगसिंह ! अस्माद्रत्नादन्यत्किमपि महद्वर्यं रत्नं विद्यते न वा ?, साधुः प्राह—अस्माद्वर्यो भवान् रत्नं। सुरत्राणो रञ्जितः बहुलक्ष्मीं ददौ ॥ १३ ॥

अन्यदा उकेशज्ञातिमुख्यसाधुजगसिंहगृहे कोऽपि खरसाणी (?) वणिग् पञ्चलक्षटंकककान् न्यासीकृत्वा गतः। सप्तवर्षाणि गतानि। इतस्तेन जगसिंहं मृतं श्रुत्वा ध्यातं न्यासीकृतं धनं गतम् पुनर्ध्यातं तस्य पुत्रो मुहणसिंहो विद्यते, तस्य परीक्षा क्रियते। ततस्तत्रागत्य सः प्राह भो मुहणसिंह ! तव पिता मम मित्रमभूत्, मया तु तव पितुः पार्श्वे पञ्चलक्षटंकका न्यासीकृताः तानर्पयेदानीं। मुहणसिंहोऽवग्–यदि मम पितुरक्षराणि दर्शयिष्यसि तदाऽर्पयिष्यामि। तत्र [तस्य] पार्श्वेऽक्षराणि न सन्ति, झगटके जाते सुरत्राणपार्श्वे गतौ, स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचतुः। स खरसाणी प्राह—भवान् पितुः समां[2] करोतु। मुहणसिंहः प्राह—पञ्चलक्षैः पितरं किं विक्रीणीषे ? ततः पञ्चलक्षा दत्ताः तस्मै। खरसाणी जगसिंहाक्षराणि दर्शयित्वा प्राह—सिंहात्सिंह एव जायते सत्यम्। ततो मुहणसिंह एकलक्षेण परिधापितः मैत्रीकृत्य, स मुहणसिंह उभयकालं प्रतिक्रमणं त्रिकालं देवपूजां करोति। साधून् विहार्यैव जिमति। वर्षमध्ये साधर्मिकवात्सल्यत्रयं संघार्चात्रयं करोति स्म ॥ १४ ॥

एकदा सुरत्राणस्याग्रे केनचिद्रत्नत्रयं विक्रेतुमानीतं, रत्नपरीक्षका आकारिताः सर्वे, रत्नानि व्यावर्णितानि, ततो जगसिंहाय दर्शितानि। साधुर्जगौ एकममूल्यं, द्वितीयं लक्षमूल्यं, तृतीयं

---

१. एतेषु को वृद्ध इति B. प्रतौ वर्तते।

२. शपथ, सोगन इति भाषायाम्। संपा०

कपर्दिकामूल्यं । राज्ञा पृष्टं कथं ज्ञायते ? प्रथमं घनघातशतेनापि न भग्नम् । द्वितीयं घनघात-दशके मनागुच्छ्वसितम् । तृतीयं घनघाताद्विधा जातम् । प्रथमघाते मध्ये मण्डूकिका सूक्ष्मा निर्गता, ततः साधुर्मानितः, तस्य वणिजः प्रथमरत्नस्य लक्षत्रयं दापितं, द्वितीयस्य लक्षं दापितं, तृतीयस्य कपर्दिका दापिता ॥ १५ ॥

एकस्मिन्पुरे श्राद्धमध्ये रोग उत्पन्नः कथमपि न निवर्त्तते, ततः श्राद्धद्वयं श्रीजिनप्रभसूरि-पार्श्वे प्रेषितं । तौ श्राद्धौ जिनप्रभसूरीणां ध्यानं कुर्वतां पार्श्वे यावदायातौ तावद् गुरुपार्श्वे युवतीद्वयं ददृशतुः । ततस्तौ दध्यतुः, गुरूणां स्त्रीणां परिग्रहो विद्यते, ततो यावद्वलितौ स्तम्भितौ, ततो ध्यानानन्तरं ते देव्यौ प्रोचतुः—आवां कथमत्रानीते ? गुरुभिः प्रोक्तं युवाभ्यां श्रीसंघस्योपद्रवः क्रियतेऽतः शिक्षा [शिक्षां] दास्ये । ततस्ते प्रोचतुः अद्यप्रभृति श्रीसंघस्योपद्रवो न कार्यः । ततस्ते विसर्जिते । श्राद्धद्वयं मुत्कलं जातं, गुरवो नताः, स्त्रीसम्बन्धः पृष्टः । गुरुभिः प्रोक्तं भवतां पुरे श्राद्धानामुपद्रवः श्रुतः, स चाधुना निवारितोऽस्ति, भवद्भ्यां दृष्टम्, ततस्तौ श्राद्धौ स्वपुरे गत्वा गुरुकृतं ज्ञापितवन्तौ ॥ १६ ॥

एकदा मेदपाटीयः पाल्हाको वैद्यः सुरत्राणचिकित्साकृते आगतोऽभूत्, स च कोमल्ल-सूरिशालायां गतस्तत्र श्रीतपागच्छसूरिवराणां तैर्निन्दा कृता, ततस्तेन हक्कितास्ते यतयः कोमलाः, ततः कलिर्जातः केषांचित् हस्तो भग्नः, केषांचिन्मुखं ततः सर्वे वादं कुर्वाणाः सुरत्राणपार्श्वे गताः सुरत्राणेन सर्वेषां चेष्टितं ज्ञात्वोक्तम्—कस्य दण्डः क्रियते, सर्वे न्यायिनः, सर्वे चान्यायिनः, अद्यप्रभृति केनापि कलहो न कर्तव्यः । ॥ इति समतायां पीरोजसुरत्राणसम्बन्धः ॥ १६ ॥

॥ इति कियन्तो जिनप्रभसूरीणामवदातसम्बन्धाः ॥ १७ ॥

[18] प्रस्तररत्नप्राप्तौ जगडूसम्बन्धः ॥

भद्रेश्वरपुरे वेलाकूले श्रीमालज्ञातीय जगडू साधुर्वसति, स च जलस्थलव्यवसायं करोति स्म । एकदा जगडू वणिजो यानपात्रं वस्तुभिर्भृत्वा हुरीमजद्वीपे गतः तत्र वरकारिका गृहीता वस्तु उत्तारितं, क्रयविक्रये[यौ] कर्त्तुं लग्नः तत्र च वहवो वरकारिकाः सन्ति ।

एकदा द्वयोर्वरकारिकयोरन्तरे महान् प्रस्तरो निर्ययौ । स च वहिः कर्षितोऽन्तराले स्था-पितः । तस्योपरि उपविशतो द्वावपि वणिजौ । क्रमाद्विवादोजातः । एकः कथयति मदीयः अपरोऽपि वक्ति मदीयोऽयम् । एवं विवादे जाते राजपार्श्वे गत्वा अपरेण वणिजा सहस्रत्रयं टङ्कानां मूल्यं कृतम् । जगडूवणिजा वहुधनं दत्त्वा स प्रस्तरो गृहीतः, याने क्षिप्तः, यानपात्रं चलितं भद्रेश्वरोपकण्ठे समागतं यावत्तावदेकेन नरेण जगडूपार्श्वे प्रोक्तं भवतो वाणिजकः प्रचुरं धन-मुपार्ज्यागतः वर्य एको महान् पाषाण आनीतोऽस्ति तेन गेहमपि भरिष्यति । इति हास्येनोक्ते जगडूः प्राह—"वणिजो यदि वर्ज्यं चावर्ज्यं चानयन्ति तच्छ्रेष्ठिनः प्रमाणमेव । यादृशं भाग्यं धनिकस्य भवति तादृगेव वस्तु आयाति, लाभोऽपि तादृक्ष एव भवति, अत्र विचारो न क्रियते । ततो जगडूः समुद्रतीरे तस्य संमुखं गत्वा सन्महं वणिक्पुत्रं प्रस्तरं च स्वगृहे नीतवान् प्राह

च लोकाग्रे हसितेन रुदितेनापि कर्मणः पुरः को न [नु] ब्रूते, वयं कृतमनेन मम महत्त्वं तत्र रक्षितं, ततो गृहस्यांगणे मुक्तः प्रस्तरः। यदा जगडूः प्रस्तरस्योर्ध्वमुपविशति तदा चिन्तयति—पृथिवीं धनार्पणात्सुखिनीं करोमि। ततो गुरुपार्श्वे प्रस्तरस्वरूपं प्रोक्तं, प्रस्तरमध्ये किमपि वर्य विद्यते, ततो विदार्य प्रस्तरो विलोकितः, सपादलक्षमूल्यानि रत्नानि निर्गतानि, वह्वी लक्ष्मी-र्जाता ॥ १८ ॥

[19] जगडूसाधुसम्बन्धः ॥

भद्रेश्वरे भाडलभूपो राज्यं चक्रे। पत्तने वीसलराजः सेवां करोति। सालगश्रेष्ठिनः श्रीदेवी पत्नी, पुत्रा-जगडू-पद्मराज-मल्लाह्वा बभूवुः। जगडूसाधुः समुद्रतीरे हट्टं मण्डयामास। एकदा जगडूपार्श्वे यानपात्रैकाः समुद्रस्तेना आगताः, तैः प्रोक्तम्—अस्माकम् एकं यानं मदनभृतं चटित-मस्ति, यदि भवतो रोचते तदा धनं दत्त्वा ग्राह्यम्। ततो जगडूस्तत्र गतो मूल्यं कृत्वा यानपात्रं मदनभृतं ललौ, शकटानि भृत्वा जगडूगृहे समेतः, जगडूकर्मकराः जगडूपत्न्याः पुरः प्रोचुः, जगडूसाधुना मदनं गृहीतं कुत्रोत्तार्यते। जगडूपत्नी प्राह—अस्माकं गृहे मदनं पापनि-बन्धनं नोत्तार्यते। तया तु नोत्तारयितुं दत्तम्। ततो मदनेष्टिका गृहांगणलिम्बवृक्षस्याध उत्तारिता। जगडूः पत्न्या समं कलहं चक्रे, हक्किता वक्ति मदनव्यवसाये बहुपापं लगति, ततो मिथः कलिं कृत्वा रुष्टौ, जगडूः प्रियां न जल्पयति, पत्नी जगडूं न जल्पयति एवं मासत्रये जाते शीतकालः समायातः। जगडूपुत्रेण अङ्गीष्टकं कृतं, तत्र तृणादीनि क्षिपति तापनार्थं। इतो बालचापल्यादेका मदनेष्टिकामंगीष्टके चिक्षेप। मदनं गलितं, स्वर्णमयीष्टिका दृष्टा पत्न्या। पत्नी अजल्पन्त्यपि धन-लोभात् जगडूं प्रति 'इतो विलोक्यतां' ततो जगडूः संमुखमपि रुष्टो न विलोकयति, ततः पत्न्योक्तम् 'आत्मनो मदनेष्टिका स्वर्णेष्टिका जाता' ततः संमुखं यावद्विलोकयति तावत्स्वर्णेष्टिका दृष्टा। ततो-ऽपरासामिष्टिकानां परीक्षा कृता स्वर्णेष्टिका ज्ञाताः, ततः छन्नं स्वर्णेष्टिका गृहमध्ये आनीता मदनं पृथक्कृत्वा विक्रीतं पञ्चशतप्रमाणाः। स्वर्णेष्टिका जाता ततः पत्नी पतिं प्रति प्राह—गुरव आकार्यन्ते गुरूक्ते धर्मे धनं व्ययते, धनं शाश्वतं न भवति, ततो गुरव आकारिताः सुमहोत्सव-पूर्वं, गुरवो मदनव्यवसायं जगडूसाधुना कृतं, श्रुत्वा जगडूगृहे विहर्तुं न यान्ति, ततो गुरवः प्रोचुरस्माभिश्चल्यते, ततो गुरवो देववन्दनार्थं क्षुल्लकयुता आकारिताः। गुरवो गृहे देवान् वन्दन्ते तदा क्षुल्लकः प्राह—भगवन्! जगडूगृहे किं लङ्का समागता? इतो वीक्ष्यतां ततो गुरुभिः स्वर्णेष्टिका दृष्ट्वा जगडूः पृष्टः का [कुत इमाः] स्वर्णेष्टिकाः? जगडूः प्राह इष्टिकाग्रहणसम्बन्धं सर्वम्, ततो गुरवो हृष्टा जगडूसाधुना विहारिताः स्वउपाश्रये [स्वोपाश्रये] आगताः। ततो जगडूः प्राह मया मदनभ्रान्त्या इष्टिका गृहीताः जाताः सुवर्णमय्यः, उच्चैर्न जल्प्यते राजभयात्, टङ्कानां कोटिर्जाता जगडूगृहे।

एकदा गुरुभि संवत् १३१५।१३१६।१३१७। वर्षत्रये भावि दुर्भिक्षं जातं। ततो भाषा-समित्या जगडूसाधुर्ज्ञापितः। ततो जगडूसाधुः ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे वणिक्पुत्रान् धान्यमूढकलक्ष-प्रमाणान् संग्राहयामास। ततस्तस्मिन् दुष्काले समागते ११२ महासत्रागारा मण्डितास्तेषु मनुष्यसहस्रदशपञ्चाशज्जिमन्ति। राजानः सीदन्तोऽभवन् धान्यं विना, अष्टौ मूढकसहस्राणि वीसलदेवस्य राज्ञः पत्तनस्वामिनो ददौ, द्वादशमूढकसहस्रान् हम्मीरभूपस्यार्पितवान्। इतो

गीजनीसुरत्राणो जगडूसमीपे धान्यं याचितुमागतः तदा जगडूः संमुखं गतः सुरत्राणेनोक्तं को जगडूः ? जगडूः प्राह "हुं जगडू" । ततः सुरत्राणः प्राह—न्यायेन त्वं जगत्पिता यतस्त्वया जगदुद्धृतं धान्यदानात्, ततो धान्यं याचितं सुरत्राणेन । जगडूः प्राह—गृह्यताम् । ततः कोष्ठागारे "रंकनिमित्त"मित्यक्षराणि वीक्ष्य सुरत्राणः प्राह—अहं पश्चाद्यास्यामि रंकनिमित्तं धान्यं न ग्रहीष्ये । ततो जगडूः अस्य रंकनिमित्तव्यतिरिक्तं एकविंशतिमूढकमितं धान्यं सुरत्राणाय ददौ ।

अट्ठय मूढसहस्सा वीसलरायस्स बारहम्मीरे ।
इगवीसा सुरताणे तइं, दिद्धा जगडू दुभिक्खे ॥१॥

दानसाल जगडूतणी, केती हुई संसारि ।
नउकरवाली मणी अड तेहिं अग्गला विआरि ॥२॥

सत्रागारे पत्तनपार्श्वस्थे राजा वीसलो गतस्तत्र मनुष्यान् विंशतिसहस्रमितान् जिमतो दृष्ट्वा राजा जगडूसाधुं प्रति प्राह—"अन्नं तवात्रास्तु घृतं मम परिवेष्यतां" तथा कृते घृते निष्ठिते राज्ञा वीसलराज्ञा [राजेन] तैलं पर्यवेष्यते [पर्यवेष्यत] पुरा जगडूः स्वस्मिन्सत्रागारे घृतं पर्यवेषयति [त्] ततोऽन्यदा राजा जगडूपार्श्वात् 'जी–जी' कारयत् । श्रुत्वा चारणः प्राह—

वीसल तूं विरुइं करइं, जगडू कहावइ जी ।
तुं नमावइ [1]फातेलसुं (?) उअ नमावइ घीइ ॥३॥

ततो जगडूसाधुः १०८ जिनप्रासादान् कारयामास श्रीशत्रुंजये सविस्तरा[र] यात्रात्रयं चकार वर्षमध्ये साधर्मिकवात्सल्याष्टकं संघार्चाष्टकं अनेके दीनदुःस्था उध्धा[द्धा]रिता धान्यदानात् ॥१९॥

[20] श्रीजिनप्रभसूरिदेवगिरिप्राप्तिसम्बन्धः ॥

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयः पुरे पुरे ग्रामे ग्रामे देवान्नमस्कर्तुं चलिताः । श्रीअहम्मदापरनामपीरोजसुरत्राणेन सह देवगिरौ प्राप्ताः । तत्र तेषां पुरप्रवेशमहोत्सवेन बहुधनं व्ययितं श्राद्धैः । जिनप्रभसूरयः सर्वेषु प्रासादेषु देवान्नमस्कृत्य गृहचैत्यानि वन्दमानाः सा० जगत्सिहगृहे गताः, तत्र वर्यवैडूर्यरत्नमयस्फटिकरत्नमयस्वर्णमयरूप्यमयप्रतिमा ववन्दे सूरिः, ततस्तद्गृहतीर्थं दृष्ट्वा सूरयो मस्तकं धूनयन्तः । ततः जगत्सिहेन पृष्टं शिरः कस्माद्धूनितम् ? गुरवो जगुः अस्माभिः स्थाने स्थाने ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे देवा वन्दिताः गुरवोऽपि वन्दिताः, परमधुना एकमिदं भवद्गृहचैत्यम् अपरं जंघरालपुरे तपा श्रीसोमतिलकसूरयो वन्दिताः अतोऽधुना तीर्थद्वयं सर्वोत्कृष्टं मनसि आयातम्, अतः शिरोधूनितम्, तीर्थवन्दनेन मुक्तिसुखमर्ज्यते, यतः—

अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥१॥

१ 'तेल' इति टीप्पण्याम् A प्रतौ ।

धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः ।
सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ–देशको गुरुरुच्यते ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

इति धर्मोपदेशं श्रुत्वा धर्मिष्ठानुरागं च ज्ञात्वा जगसिंहः साधुः सविशेषां श्रीजिनप्रभसूरीणां भक्तिं चक्रे वर्यवस्त्रान्नपानदानात्[1] ॥२०॥

[21] साधर्मिकभक्तौ जगसिंहसाधुसम्बन्धः ।

साधर्मिकवात्सल्यफलं मुक्तिशर्मप्रापकं श्रुत्वा जगसिंहसाधुर्देवगिरौ ३६० प्रमाणाः [णान्] स्वतुल्यव्यवहारिणो धनव्यवसायादि–सानिध्यकरणादिभ्यः साधर्मिकाश्चक्रे, ततः प्रतिदिनमेकैकस्मिन् गृहे पक्वान्नादिरसवती निष्पाद्यते[2] । तत्र सकुटुम्बा सर्वे श्राद्धा जिमन्ति स्म । तत्र दिनं प्रति [प्रतिदिनं] ७२ सहस्रद्रव्यव्ययो भवति । एवं प्रतिगृहे जिमतः वर्षप्रान्ते द्वितीयवारं वारकः समायाति, ततो धर्मकृत्यं कुर्वाणेन जगत्सिंहसाधुना भरतदण्डवीर्यराजानौ स्मारितौ ॥२१॥

[22] जगसिंहशत्रुञ्जययात्रासम्बन्धः ।

एकदा जगसिंहसाधुः श्रीसोमतिलकसूरिपार्श्वे धर्मरूपं [स्वरूपं] पप्रच्छ । तदा गुरुभिः प्रोक्तमेवं धर्मतत्त्वम् ये मिथ्यात्वतिमिरान्धा न भवन्ति तेषां पुर एवं धर्मः प्रोक्तव्यः जैनमते—

धम्मेण धणं विउलं, आउं दीहं सुहं च सोहग्गं ।
दालिद्दं दोहग्गं अकालिमरणं अहम्मेण ॥१॥
कथमुत्पद्यते धर्मः, कथं धर्मो विवर्धते ।
कथं वा स्थाप्यते धर्मः, कथं धर्मो विनश्यति ॥२॥
सत्येनोत्पद्यते धर्मो, दयादानेन वर्धते ।
क्षमया च स्थाप्यते धर्मः, क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥३॥
अहिंसालक्षणो धर्मो–ऽथाधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिना नित्यं, कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥४॥
स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः ।
यं समालम्व्य[लम्ब्य]मानो हि, न मज्जेद्भवसागरे ॥५॥
संयमः[1] सूनृतं[2] शौचं[3], ब्रह्म[4]आकिञ्चनता[5] तपः[6] ।
क्षान्ति[7]र्मार्दव[8]मृजुता[9], मुक्ति[10]श्च दशधा स तु ॥६॥

१. ०पानमदात्० B.　　　२. निष्पद्यते० B. C.

धर्मसिद्धौ ध्रुवं सिद्धि–र्द्युम्नप्रद्युम्नयोरपि ।
दुग्धोपलब्धौ सुलभा, संपत्तिर्दधिसर्पिषोः ॥७॥

नमस्कारसमो मन्त्रः, शत्रुञ्जयसमो गिरिः ।
गजेन्द्रपदजं नीरं, निर्द्वन्द्वं भुवनत्रये ॥८॥

कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
शत्रुञ्जयं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥९॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥१०॥

इत्युपदेशं श्रुत्वा जगसिंहसाधुरेकोनत्रिंशत्शतमितशकटसहस्रानुमितघोटकद्वापञ्चाशद्देवालयादिश्रीसंघः श्रीसोमतिलकसूरियुक्तः श्रीशत्रुञ्जय–गिरनारयोर्यात्रां चक्रे ।

यस्मात् श्रीभरतेश्वराग्रिमनृपाः संजज्ञिरे चक्रिणः ।
श्रीमच्छ्रेणिकसम्प्रतिप्रभृतयस्तीर्थेशभावांचिताः ॥
निःसीमद्रविणानुबन्धिसुकृताः श्रीशालिभद्रादय–
स्तस्मिन्निर्मलधर्मकर्मणि सदा कार्यः प्रयत्नो बुधैः ॥११॥

फलं च पुष्पं च तरुस्तनोति, वित्तं च तेजश्च नृपप्रसादः ।
वृद्धिं प्रसिद्धिं तनुते सुपुत्रो, भुक्तिं च मुक्तिं च जिनेन्द्रधर्मः ॥१२॥

इति जगसिंहशत्रुञ्जययात्रासम्बन्धः ॥२२॥

[23] नापितमन्त्रिकरणसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे भीमस्य भूपस्य नापितः प्रधानो बभूव । मन्त्रिणो न मन्यन्ते मनागपि, क्रमात् वैरिभिः परितो व्याप्तं राज्यम् । ततो नैके जल्पन्ति मन्त्रिणो विना राज्यं यास्यति मित्रैरपि प्रोक्तम्–नापितस्य परीक्षां कुरु, वैरिषु समेतेषु कथं राज्यं रक्षिष्यति । एकदा राज्ञा नापितः पृष्टः । यदि कदाचित्परचक्रं समेष्यति तदा त्वया कथं जेष्यते, का बुद्धिः कथं करिष्यते च ? । ततो नापितोऽवग् आदर्शान् हस्ते कृत्वा निर्गमिष्यते [निर्गमिष्यामः] पुराद् तैरादर्शैरेव युद्धं करिष्यते ततस्ते नंष्ट्वा यास्यन्ति । ततो राज्ञा ज्ञातमेष नापितो न प्रधानः, यन्मया मन्त्रिणोऽपमानितास्तदयुक्तं कृतम् । यदि मन्त्रिणो न मानयिष्यन्ते तदा राज्यं गमिष्यति । ततो राज्ञा मन्त्रिणो मानिताः । ततो मन्त्रिबुद्ध्या ये ये वैरिणोऽभूवन् ते ते वशीकृताः ॥

इति नापितमन्त्रिकरणसम्बन्धः ॥२३॥

[24] आलस्ये धनश्रेष्ठिकुन्तलपुत्रसम्बन्धः ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठिनः पुत्रं कुन्तलाभिधं परिणयनयोग्यं श्रुत्वा चन्द्रपुरात् मदनश्रेष्ठी स्वां पुत्रीं रूपवतीं दातुं समागात् । तदा श्रेष्ठिपुत्रः पादमुच्चैः कृत्वोर्ध्वस्थितः सूर्याभिमुखं स्थित्वा च कलशीमध्ये मूत्रयामास । तदा मदनश्रेष्ठी तत्रस्थस्वमित्रपार्श्वे श्रेष्ठिपुत्रस्य कुन्तलस्य वरस्य स्वरूपं पप्रच्छ । अस्य धनस्य श्रेष्ठिनः कियन्तः पुत्राः सन्ति ? तेन व्यङ्ग्यवचनात्प्रोक्तम्— अस्य नवपुत्राः सन्ति । क्षणात्पुनः पृष्टम् कियन्तः पुत्राः श्रेष्ठिनः स्म ? ततः स प्राह—पञ्च पुत्राः सन्ति । पुनः पृष्टं तेन कियन्तोऽस्य पुत्राः ? ततस्तेनोक्तं— त्रयः पुत्राः । पुनः पृष्टं कियन्तः पुत्राः श्रेष्ठिन स्म ? ततः स प्राह—पञ्च पुत्राः सन्ति । पुनः पृष्टं तेन कियन्तोऽस्य पुत्राः ? ततस्तेनोक्तं—त्रयः पुत्राः । पुनः पृष्टं कियन्तः पुत्रा अस्य सन्ति ? [स प्राह,] एक एव पुत्रः । ततो मदनः प्राह—मित्र ! त्वयाऽहं भ्रान्तौ कथं पातितः पृथक्पृथग् जल्पनात् ? मित्रः प्राह— यन्मयोक्तं तत्सत्यमेव, यतोऽसौ श्रेष्ठिपुत्रः उच्चैःस्थित्वा सूर्याभिमुखं भूत्वा कलशीमध्ये मूत्रयामास अतोऽस्मिन श्रेष्ठिपुत्रे त्रयत्वं मयोक्तम्, यतः पञ्च मनुष्या यावन्मात्रमाहारं भुञ्जते तावन्मात्रमेक एवायं भुङ्क्ते अतः पञ्चपुत्रभावः प्रोक्तो मयाऽस्मिन्, निद्राक्षणे कुण्डलीदेहकरणात् [देहकुण्डलीकरणात्] नवङ्काकारेण [नवाकारेण] स्वपित्यसौ अतोऽस्मिन्नवपुत्रत्वं विद्यते, यत एवंविधो वरोऽन्यत्र कुत्रापि न दृश्यते अत एकपुत्रत्वमस्य मयोक्तम् । एवंविधगुणो वरो विद्यते यदि रोचते तव तदा दीयतां पुत्री, स मूत्रयंश्च त्वया दृष्टः किं कथ्यतेऽधिकं ततः । श्रेष्ठी समुत्थाय स्वपुरे गतः । ततो वरं विलोकयन् पद्मपुरे वीरमहेभ्यस्य धरणपुत्राय श्रेष्ठी स्वां पुत्रीं ददौ । तत इतो धनश्रेष्ठिना बहुशिक्षितोऽपि पुत्रो नालसत्वं मुमोच । ये ये वरं द्रष्टुमायान्ति ते ते तादृशं दृष्ट्वा ददुर्न स्वपुत्रीं यतः—

गच्छन् जल्पन् हसंस्तिष्ठन्, शयानो भक्षयन्पुनः ।
मूर्खः सर्वत्र लभते, पदे पदे पराभवम् ॥१॥

ततः सोऽलसतां श्रयन् न परिणीतः, तत्पितरि मृते मूर्खत्वादलसत्वाद्विशेषं पराभवस्थानं बभूव ॥

इति अलसत्वविषये धनश्रेष्ठिकुन्तलपुत्रसम्बन्धः ॥२४॥

[25] नागार्जुनसम्बन्धः ।

सुराष्ट्रदेशभूषणे ढुंकपर्वते राजा रणसिंहो राज्यं कुर्वन् न्यायाध्वना पृथिवीं पालयति स्म । तस्य पद्मावती पत्नी बभूव । तयोर्भोपालाह्वा सुताजनि क्रमात्सा विद्याकलाः पाठिता, क्रमाव राजा वरं विलोकयन् नवसारिकानगरे अरिमर्दननरेन्द्राय ददौ, इतस्तस्या रूपेण मोहितो वासुकिरभूत्, यतः—

अक्खाण[र]सणी कम्माण मोहणी, हंत वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥ १ ॥

ततो वासुकिः शुक्र(रूप)परावृत्तिं कृत्वा तां सेवते । पुत्रः क्रमादभूत् । तस्य नागार्जुनेति नामाभूत । स च जनकेन स्नेहेनाभ्येत्य सर्वासामौषधीनां फलानि मूलानि दलानि भोजितो । बलेन तस्य प्रभावात् सिद्धपुरुषो जातो, विख्यातः स च क्रमात्प्रतिष्ठानपुरे शातवाहनभूपस्य विद्यागुरुरभूत्, यतः—

विद्वत्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ २ ॥

स च नागार्जुनो व्योमगामिविद्यार्थं श्रीपादलिप्तानकपुरे श्रीपादलिप्ताचार्यान् सेवते स्म । ते चाचार्याः पादलिप्तौषधीबलेन वरेऽवसरे अष्टापद-समेतशिखर-शत्रुञ्जय-गिरिनारार्बुदाचल-तीर्थस्थान् जिनेन्द्रान् वन्दते स्म । तेषां पश्चादागतानां सूरीणां पादौ प्रक्षालयन्नागार्जुनो नासाबलेन सप्तोत्तरशतौषधीनां नामानि जज्ञौ, गुरूपदेशं विनापि ताभिरौषधीभिः पादलेपं कृत्वा कुर्कुटपोत इवोत्पतन् निपतति भूमौ, ततो व्रणजर्जरिताङ्गोऽन्यदा गुरुभिः पृष्टः किमेतदिति, ततस्तेन यथास्थिते प्रोक्ते तस्य च कौशल्येन चमत्कृतमानसा गुरवः शिरसि हस्तं दत्त्वा जगुः, महानुभाग[व] ? सम्पूर्णमाम्नायं गुरुदत्तं विना विद्या न स्फुरति नृणाम् । तेनोक्तम्—भगवन् ! प्रसद्य विद्याम्नायं देहि, ततो गुरुणोक्तम्—यदि त्वं शत्रुञ्जयादिपञ्चतीर्थं नत्वैवास्सि तदाहं अष्टोत्तरशतमौषधं कथयिष्ये ततस्तेन गुरूक्तं प्रतिपन्नं, ततो गुरवो जगुः—षष्टितन्दुलोदकेन सर्वा औषधीर्घर्षयत, ततस्तासां लेपेन पादलिप्तेन व्योमगामी भविष्यसि, तं विद्याम्नायं प्राप्य नागार्जुनो व्योमगामी बभूव । ततः स प्राप्तखगविद्यो गुरूक्तं देवनतिं कृत्वैवात्ति । एकदा गुरुमुखात्स्वर्ण-रससिद्धिनिष्पत्तिं श्रुत्वा साधयितुं प्रवृत्तः रसो निष्पादितः परं स्थैर्यं न याति ततो गुरुपार्श्वे रसस्थैर्यस्वरूपं पप्रच्छ, गुरुभिरुक्तं-सप्रभावायाः श्रीपार्श्वप्रतिमायाः दृष्टौ साध्यमानो रसो लसल्लक्षणलक्षितया महासत्यास्त्रिया मृद्यमानः स्थिरो भविष्यति, एतत् श्रुत्वा नागार्जुनेन वासुकिः स्वपिता ध्यातः प्रत्यक्षोऽभूत् । पृष्टं च तस्य पार्श्वनाथप्रतिमां दिव्यां कथय । वासुकिः प्राह—पूर्वं द्वारवत्यां कृष्णेन श्रीपार्श्वप्रतिमा सप्रभावा श्रीनेमिमुखात् श्रुत्वा सप्तवर्षी यावत्पूजिता द्वारवत्या दाहे समुद्रमध्ये देवेन मुक्ता । काले कान्तिपुरीवासिनो धनदत्तस्य समुद्रमध्ये यानं वलितं तत्र देवतयाभ्येत्योक्तम्—अत्राधस्तात् श्रीपार्श्वबिम्बं समस्ति तच्च कच्चसप्ततन्तुभिर्मुक्तैर्बहिः समेष्यति, तेन तथा कृते पार्श्वबिम्बं निर्गतम् । कान्तिपुर्यामानीतम् यतः—

सुप्रभावमयं पार्श्व-नाथबिम्बं मनोहरम् ।
कान्त्यां पुरि जनैः पूज्य-मानमस्ति जिनालये ॥३॥

ततो नागार्जुनस्तत्र गत्वा बहुषु लोकेषु वन्दनार्थं दिवानिशमाग[च्छ]त्सु हर्तुं न शक्नोति । एकदाऽवसरं प्राप्य छलेन सा प्रतिमा तेन हृता सेढीनदीतटे रसबन्धनार्थं मण्डिता सातवाहनस्य भूपस्य चन्द्रलेखां महासतीं रसमर्दनार्थं तत्रानिनाय, सा नागार्जुनेन भगिनीति कृत्वा स्थापिता रसं मर्दयति स्म, तया तदौषधीनां रसमर्दनकारणे पृष्टे स्वर्णसिद्धिनिष्पत्तिहेतुं स तस्याः पुरो

आकारितः । पृष्टो राजा [राज्ञा] तदावदत स्वसम्बन्धं खलभक्षणदोहदलक्षणं च ततो राजा हृष्टस्तस्मै स्वकोशाच्चतुःकोटिमितं स्वर्णं दापयामास । तस्य पुण्यप्रभावात्ततो यावन्मात्रां श्रियं व्ययति तावन्मात्रा श्रीरकस्मान्मिलति, ततश्चिरं स्वां श्रियं सप्तसु क्षेत्रेषु व्ययन् कालक्रमाद् दानवितरणेन स्वर्गं श्रेष्ठी ययौ ॥ इति खलभक्षणे धनश्रेष्ठिकथा ॥ २६ ॥

[27] नीचकुलोत्पन्नोऽप्युत्तमो भवतीति द्विजकथा ।

कस्मिन्पुरे [कस्मिंश्चित्पुरे] वेश्या क्रमाज्जरती जाता, तस्या एकः पुत्रोऽस्ति । तया चिन्तितं मया बहु पापं कृतं पुत्रजननात्, यदि हन्यते तदापि पापं भवति अतोऽहं गङ्गायां गत्वा पापं स्फेटयिष्यामि इति ध्यात्वा सा वेश्या पुत्रेण सह तत्र नद्यां गता मठवासिकारूपं कृत्वा स्थिता गंगायां स्नानादिपुण्यं पुत्रयुता करोति, द्विजमुखाद्वेदस्मृतिपुराणादि जज्ञे । स वेश्यापुत्रः । क्रमात्तत्र द्विजो मुकुन्दस्तं तादृक्षं विचक्षणं वेदविदुरं बहुदानपरं दृष्ट्वा दध्यौ अयं वर्यो वरोऽस्ति मम पुत्री विद्यते विवाहार्हा जाता यद्यस्मै दीयते तदा वरमस्य माता च धर्मशीला विद्यते, गृहे धनमप्यस्ति एवं विमृश्य द्विजेन पुत्री तस्मै मठवासनिकापुत्राय दत्ता । पुत्रं वधूयुतं परिणीतं स्कन्धयोरुभयतः कृत्वा नर्त्तयन्तीति प्राह—

सोनईशाखा धनिं कुलकोट्टइ वेद वियारि ।
दे मति केरो वेटडो परिणइ दीक्षित कुआरि ॥१॥

ततस्तेन मुकुन्देन तस्याः पार्श्वात्तस्य वरस्य सम्बन्धं श्रुत्वा मौनं कृतं, बहुलक्ष्मीविद्यादिगुणयुतत्वात् अतो न कुलादि वीक्ष्यते किन्त्वाचार एव यतः—

कैवर्तीगर्भसंभूतो, व्यासो नाम महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जात–स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१॥
शुशुकी[शशकी]गर्भसंभूतो, ऋष्यश्रृङ्गो महामुनिः ।
तपसा० ॥२॥
मण्डूकीगर्भसंभूतो, माण्डव्यश्च महामुनिः ।
तपसा० ॥३॥
उर्वशीगर्भसंभूतो, वशिष्ठश्च महामुनिः ।
तपसा० ॥४॥
शीलं प्रधानं न कुलं प्रधानं, कुलेन किं शीलविवर्जितेन ।
बहवो जना नीचकुले प्रसूताः, स्वर्गं गताः शीलमुपेत्य वर्यम् ॥५॥

ततः सर्वेषु द्विजेषु वेदविदुरेषु मुख्योऽभूत् ॥

इति नीचकुलजातोऽप्युत्तमो भवतीति ब्राह्मणकथा ॥२७॥

[28] निर्ग्रन्थत्वे योगिकथा

एकस्मात्पुरात् योगी चेल्लकयुतोऽचालीत्, अग्रे गच्छन् योगी चन्द्रपुरमार्गं पप्रच्छ, पुमान् प्राह—एको मार्गः सरलोऽदूरेऽस्ति परं चौरादिविघ्नं विद्यते तत्र। द्वितीयो मार्गो विषमोऽस्ति परं निरुपद्रवः। तदा योगी द्रव्यरहितः सोपद्रवेऽपि मार्गे गन्तुं वाञ्छति चेल्लकस्तु नेच्छति द्रव्यापहरणभयात्, मार्गे योगी दध्यौ असौ चेल्लकः कथं स्तेनक्लेशयुक्तमार्गं गन्तुं नेच्छति एवं ध्यायन् चेल्लकस्य वचोऽवगणय्य सोपद्रवमार्गे चलितुं तस्थौ इतश्चेल्लके पुरान्तरे गते कस्मैचित्कार्याय झोलिकामध्ये रूप्यटंककभृतां वासनिकां वीक्ष्य दध्यौ। असौ चेल्लको धनगमनभयात् सोपद्रवमार्गे यान्तुं नेहते ततो द्रव्यं न वरं तपस्विनः। एवं ध्यात्वा वासनिकां छन्नं कूपे चिक्षेप। चेल्लकः पुरादागतो वासनिकामदृष्ट्वा प्राह—यस्मिन् मार्गे रोचते तत्र गम्यताम्। ततो द्वावपि निर्ग्रन्थीभूतौ निर्भयौ सोपद्रवेऽपि मार्गे चेलतुः। ततो धनं तपस्विनां क्लेशभूतं मत्वा निस्पृहौ श्वेताम्बरश्रीदमघोषसूरिपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा जैनीं दीक्षां गृहीत्वा तपस्कुर्वाणौ स्वर्गं जग्मतुः क्रमान्मुक्तिं गमिष्यतः॥

इति निर्ग्रन्थत्वे योगिकथा ॥२८॥

[29] धर्मशालानिष्पादनपुण्ये भीमसाधुकथा ।

एकदा भीमसाधोरावासार्थं वर्यकाष्ठानि आगतानि। तदा हृष्टं भीमं दृष्ट्वा पत्नी प्राह—गृहाणि वर्याणि वर्यतराणि भवे भवे कारितानि सन्ति, स्वर्विमानेऽपि स्थितं भूरिशः। परं तत्सर्वमिहलोकार्थं, धर्मकार्ये यदि धर्मशालादिनिष्पत्तये काष्ठानि समायान्ति तदा वरं। भीमः प्राह—कुत्र धर्माय काष्ठानि स्थापयिष्यन्ते ? भार्या जगौ—धर्मशाला कार्यते तत्र बहुपुण्यं भवति यतः—

वसही-सयणासण-भत्त-पाण-भेसज्ज-वत्थ-पत्ताइ ।
जइवि न पज्जत्तधणो थोवाविहु थोवयं देइ ॥१॥

एवं विमृश्य स्तम्भतीर्थे आलिंगवसत्यां धर्मशाला कारिता पुण्यार्थं। तत्र १४०० टंकका लग्ना। तदैकेन केनचित् पुंसा भीमसाधुपुरतः प्रोचे—द्रव्यं बहु व्ययितं, शाला तु पुराद्बहिरस्ति तत्र को धर्मं कर्तुं समेष्यति ? ततो भीमोऽवग् कदाचिदुत्सूरे सकाले वा कोऽपि कूपिकः पौटलिको विश्रामार्थं स्थित एकसामायिकं लास्यति तदा शालालग्नधनादनन्तं पुण्यं भविष्यति, यतः—

सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥ १ ॥
सामाइअं कुणंतो, समभावं सावओ घडीदुग्गं ।
आउं सुरे सुबंधइ, इत्तीमित्ताइं पलिआइं ॥ २ ॥
बाणवइकोडीओ, लक्खा गुणसट्ठि, सहसपणवीसा ।
नवसय पंचवीसाए, सतिहा अडभाग पलिअस्स ॥३॥

अंकतः ९२,५९,२५,९२५ एकसामायिकलाभः ॥ इत्यादिधर्मशालानिष्पादनपुण्ये भीमसाधुकथा ॥२९॥

[30] धर्मदृढतोपरि आलिंगविप्रप्रासादकथा ।

आलिंगवसतीति नाम जातम् । पूर्वम् आलिंगाह्वो द्विजोऽभूत् । तेन श्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे जिनप्रासादादिकरणे महत्पुण्यं भवति [तीतिश्रुतम्] । एकदाऽसौ अवग्–भगवन् ! लोका वदन्ति सन्तानं विना स्वर्गो न भवति । गुरवः प्रोचुः—सन्तानं विनाऽपि स्वर्गं गच्छन्ति जनाः, सन्ताने सति कदाचित्स्वर्गः, पुण्यप्रभावादेव । सन्तानेन यदि स्वर्गः स्यात्तदा शुनीशुनादि [श्वानादि] जीवा वह्वपत्याः प्रथमं स्वर्गं गच्छन्ति [गच्छेयुः] । असन्ताना अपि [च] मुक्तिं गमिष्यन्ति [गच्छन्ति], यतः—

वहूनि हि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणा–मकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥१॥

गुरुणोक्तं–श्रीऋषभदेवस्य यदि कृष्णवर्णा प्रतिमा कार्यते तदाऽनन्तं पुण्यं मुक्तिगमनयोग्यं भवति, परं सन्तानं न भवति । अग्रतः एतद् श्रुत्वा आलिंगो जगौ—भगवन्नहं श्रीऋषभदेवस्य कृष्णवर्णां प्रतिमां कारयिष्यामि, वहुपुण्यलाभात्, सन्तानेन किं प्रयोजनम् ? सन्ताने सत्यपि रावण–श्रीकृष्ण–दुर्योधन–सुभौम–ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्यादयो वहवो नरकं गताः । अतोऽहं श्रीऋषभदेवप्रतिमां श्यामवर्णां कारयिष्यामि । ततस्तेन सन्तानाभावमवलम्ब्यादि[पि] श्रीऋषभदेवप्रतिमा श्यामवर्णा कारिता, स्थापिता स्वकारितप्रासादे, तत आलिंगेन तत्र प्रतिमां तां पूजयता मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमुपार्जितम् ॥ इति धर्मदृढताविषये आलिंगविप्रप्रासादकथा ॥३०॥

[31] शनि–शिवसंवादसम्बन्धः ।

एकदा वहुपु ब्रह्मादिदेवेपु मिलितेपु स्वस्वोत्कर्पं जल्पत्सु शनिना प्रोक्तम्—अहं सर्वेपु देवादिपु सुखदुःखे कर्तुं समर्थः । तदेश्वरेणोक्तम्—ज्ञास्यते तव कृतं सुखं दुःखं च । एवं प्रोच्य शम्भुः स्वगृहेऽभ्येत्य पार्वतीं प्रति स्वचेष्टितं जगौ । ततः शम्भुः स्वयं महिषरूपं, पार्वत्या महिषीरूपं कारयित्वा नगरखाले अशुचिमये स्थितौ, द्वावपि तृतीये दिने तस्मिन् व्यतीते ईश्वरपार्वत्यौ खालान्निर्गत्यागतौ गृहे, तत ईश्वरः शनिपार्श्वे गत्वाऽवग्–त्वदीया दशा गता कल्ये त्वया किमपि मम दुःखं न कृतम् । शनिर्जगौ त्वं कुत्रस्थाः [कुत्राऽस्थाः ?] ईश्वरः स्वस्थितिं जगौ, ततः शनिः प्राह—अहं किं स्कन्धे हन्मि जेतुं हृदये वा किन्तु तां तादृशीं धियं ददामि यया स्वयं दुःखे पतति त्वं त्वशुचिमये खाले स्थितः अतः परं किं दुःखम् अहं यद्दुःखादि जनेभ्यो ददामि तदपि कर्मणा प्रेरितः । ततः शम्भुर्जगौ सत्यमेव कर्मकृतं सुखं दुःखं जीवा लभन्ते—

यादृशं क्रियते चित्तं, देहिभिर्वर्णनादिषु ।
तादृशं कविवन्नूनं, जायते सन्ततं जने ॥१॥

इति लौकिककथा शनिशम्भुजल्पनविषया समाप्ता ॥३१॥

[32] निष्कृपोपरि मरुस्थलीवर्णनम् ।

माता गंगासमं तीर्थं, पिता पुष्करमेव च ।
तीर्थं फलति कालेन, माता-तीर्थं पुनः पुनः ॥१॥

इत्यादि ध्यात्वा मातापितरौ कावडिकायां स्थापयित्वा विप्रस्तीर्थानि करोति । तीर्थानि कुर्वन् मरुस्थल्यां गच्छन् अधः प्रचुरसिकतायां हिण्डितुमशक्नुवन् जलं स्तोकं पिबन् मृगतृष्णिकां पश्यन् पदे पदे जलभ्रान्त्या धावन् खिन्नः सन् प्रथमं पितरं स्कन्धादुत्तारयामास । पिताऽवग् अहमक्षमस्तीर्थं [कर्तुं], कथमुत्तारयसि ? पुत्रोऽवग् इयं तु मरुस्थली रुक्षा एवं मातरमपि स्कन्धादुत्तार्य स्वेच्छयाऽचालीत् । मातापितरौ पादचरिणौ पुत्रस्य पृष्ठौ [पृष्ठतः] दुःखेन चलतः ॥

इत्यादि मरुस्थलीवर्णनं निष्कृपोपरि ॥३२॥

[33] ध्याने [विचारे] वैद्यकथा ।

यादृशं क्रियते चित्तं, सदसद्वस्तुवर्णने ।
कवेरिव भवेत्तादृग्, जनानां भावुकात्मनाम् ॥१॥

तथाहि—एकदा श्रीरामस्य सुबुद्धिनामा कविरभूत्, स च श्रीरामकारितं पम्पासरः काव्यैर्नित्यं वर्णयति स्म । वैद्या बहवः श्रीरामस्य परिवारस्य रोगोत्पत्तौ चिकित्सां कुर्वन्ति स्म । अन्यदा सुबुद्धिकवेः सरो वर्णयतस्तद्ध्यानाज्जलोदरं वर्द्धितं, वैद्यो विचारविज्ञस्तस्य चिकित्सां कारयति बहुप्रकारैः, परं गुणो न भवति, यतः—

वैद्यस्तर्कविहीनो, निर्लज्जा कुलवधूर्व्रती पीनः ।
कटके च प्राघूर्णको, मस्तकशूलानि चत्वारि ॥२॥

तत एकस्तत्र वैद्यो वृद्धो विचारज्ञः समागात् । राज्ञा तस्य रोगचिकित्सायै आदिष्टम् । ततस्तेन वृद्धेन वैद्येन शरीरस्वरूपं विलोक्य शालिदालिघृतादिवर्यं [भोजनं दत्तम्] ददता तस्य तथा भोजनं कुर्वाणस्य वैद्येनेत्यादिष्टम्, मरुस्थलं वर्णय । तत एवं वर्णयति—

मृगतृष्णां सदा दर्शं, दर्शं तृषितव्रक्षसम् ।
ओष्ठ तालु गलादीनि, शुष्यन्ति स्म दिने दिने ॥३॥

इत्यादि वर्णयतस्तस्य रोगिणो जलोदररोगो गतः । श्रीरामेण पृष्टं—भो वैद्य ! मरुस्थलवर्णनेन कथमस्य रोगो ययौ ? वैद्योऽवग् पूर्वमनेन सरो जलभृतं भूरिशो वर्णितं तेन जलोदररोगोऽभूत् सरोध्यानात्, अधुना मरुस्थलवर्णनात् रोगो गतः 'यादृशं ध्यानं तादृशं मनः, यादृग्मनस्तादृग्वपुर्भवति', शुभाशुभाकर्णनाच्छरीरी प्रसन्नोऽप्रसन्नो भवति, यतः—

वीतरागं स्मरन् योगी, वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य, सरागत्वं तु निश्चितम् ॥४॥

येन येन हि भावेन, युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति, विश्वरूपो मणी यथा ॥५॥

इलिका भ्रमरीध्यानात्, भ्रमरी जायते यथा ।
तथा ध्यानानुरूपः स्यात्, जीवोऽशुभशुभात्मवान् ॥६॥

अतोऽस्य मरुस्थलं वर्णयतो रोगो गतः । ततो वैद्यो मानितः । यतः—

अलंकरोति हि जरा, राजामात्यभिषग्यतीन ।
विडम्बयति पण्यस्त्री—मल्लगायन[क]सेवकान् ॥७॥

इति ध्याने वैद्यकथा ॥३३॥

[34] नीचानीचविचारविषयिकी लौकिकी कथा ।

जन्मना तु ध्रुवं वर्य—मवर्यं जायते कुलम् ।
प्रायो भवति मर्त्यानां, क्रियया विप्रवज्जने ॥१॥

तथाहि—कस्यचिद्विप्रस्य विज्ञस्य यजनयाजनाध्ययनाध्यापनादिषट्कर्मकारकस्य गृहे एकस्तपस्वी स्वं धौतिकं मुक्त्वा गतस्तीर्थयात्रायै, स तपस्वी देवदत्ताह्वः तपःप्रभावाद्ब्रह्मायुष्कः सन् तीर्थे भ्रमति स्म। इतः स द्विजो मृत्युसमये स्वं पुत्रं प्रति प्राह—इदं धौतिकं तपस्विनो देवदत्तस्यास्ति यदा मार्गयति तदाऽर्पणीयं त्वया। पितरि मृते क्रमाद् द्विजपुत्रो निर्वाहाभावात् कुम्भकारकर्म करोति। इतः स तपस्वी तत्रागतः स्वस्य धौतिकस्यार्थं गृहं पृच्छन् (जज्ञौ)। परमस्य गृहे कुम्भकारकर्म दृष्ट्वा धौतिकं तथैव मुक्त्वाऽन्यत्र तीर्थयात्रायै गतः। क्रमाद् स द्विजः कुम्भकारकर्म्म मुक्त्वा भारवाहोऽभूत्। पुनस्तत्रागतः स्वं धौतिकं पूर्ववत्तत्र दृष्ट्वा तथैव मुक्त्वा गतः। स भारवाहः परलोकं गच्छन् स्वपुत्राय परम्परागतं धौतिकसम्बन्धं जगौ। ततस्तस्मिन् तत्पुत्रो राजसेवकोऽभूत्। तत्रापि पूर्ववत्तत्रागतस्तस्य गृहेऽन्यत्कर्म दृष्ट्वा यात्रायै गतः, स सेवको मृतः, तस्य पुत्रो ग्रामहट्टकोऽभूव। पुनः स तपस्वी तत्रागात्। तस्य गृहे अनीदृशं कर्म्म दृष्ट्वा धौतिकं सम्भाल्य तथैव मुक्त्वा गतः। ततो ग्रामहट्टको वैदिकद्विजयोगाव चतुर्वेदी द्विजो जातः। इतो भ्रान्त्वा तपस्वी तत्रागात् पूर्वक्रियां वैदिकीं यजनयाजनादिकां दृष्ट्वा हृष्टोऽभूत्। ततस्तेन द्विजेनोक्तं—भो तपस्विन्! भवता कथं हृष्टं, तपस्व्यवग्—यजनादिविद्ब्राह्मणादारभ्य सर्वं सम्बन्धं तस्याग्रे, ततः स तपस्वी स्वधौतिकं लात्वा जगौ—यादृशो योगस्तादृक पुमान् भवति। उत्तममध्यमजघन्यादिविचारो न क्रियते। ततः स तपस्वी स्वस्थानं ययौ ॥

इति नीचानीचादिविचारकथा लौकिकी ॥ ३४ ॥

[35] धर्मे भोजकथा ।

भोजराजा मरणसमये सर्वदर्शनिनो यथायोग्यं सन्भान्य मंत्रीशानाकार्य जगौ—'पुण्यं स्तोकं कृतं, पापं बहु' तेन भवद्भिर्मम मरणादनु मम एको हस्तोऽञ्जनलिप्तो, मनाक्चन्दनरसालिप्तो हस्तो द्वितीयो विधातव्यः । मन्त्री प्राह—कथमेवं प्रोच्यते ? भोजः प्राह—लोको मामेवंविधं मत्त्वा [मत्वा] पुण्यं कुर्वन्ति । ततो भोजे मृते तथैव कृत्वा दाहार्थं नीयमानं भोजं भूपं, लोका जगुः—कथं राज्ञो हस्तावीदृशौ कृतौ । ततो मन्त्रिभिर्भूपोक्तं प्रोक्तं ततो बहवो जनाः पुण्ये कृतादरा बभूवुः ॥ इति धर्मविषये भोजकथा ॥ ३५ ॥

[36] कृपणत्वे छलभूपकथा ।

एकदा झाल्लोवाटिकाधिपच्छलराजा पूर्वं दानं न ददौ । मरणसमये दानेच्छाऽभूत् । पुत्राणामग्रे प्राह—मम एतासां गवां, एतेषां घोटकानां एतेषां रथानां, [एतासां च] रमाणां दानेच्छाऽस्ति । तदा मन्त्र्यादिभिः पुत्रैश्च विमृष्टं—असौ सर्वं राज्यं दास्यति, उत्तरमस्य दीयतेऽधुना—"मरणादनु सर्वं दास्यते" । एवं जल्पिते [जल्पिताः] ते भूभुजा पुत्राः किमपि न ददुः, स च मृतः । एवं यत्स्वहस्तेन प्रथमं दीयते, तदेवात्मीयं, नान्यत् । मरणसमये हिता अपि पुत्रा विघटन्ते ॥ इति कृपणत्वे छलभूपकथा ॥३६॥

[37] धर्मदृढतोपरि डीसावालसारङ्गसम्बन्धः ।

वटप्रदे डीसावालः मन्त्री सारंगाह्वः, स च मिथ्यात्वं करोति । तस्य माता जैनं धर्मं करोति । एकदा माताऽवग् पुत्र ! त्वं तु मिथ्यात्वं कुरुषे जिनधर्मं तु न कुरुषे । जिनधर्मं विना मुक्तिर्न भवति वीतरागासेवनत्वात् । मम तु मरणावसरोऽस्ति, त्वया मम मरणादनु जैनाः साधवो धर्मशालायां वन्दनीयाः । सारंगो जगावेवमस्तु त्वयार्त्तिर्न कर्त्तव्या । मातरि मृतायां सारंगो जैनान् साधून् न वन्दते मिथ्यात्वमेव करोति । माता स्वर्गता सती पुत्रस्नेहात्पुत्रबोधनार्थं रात्रावभ्येत्यैकं श्लोकं दत्त्वाऽवग्—योऽस्य श्लोकस्यार्थं कथयति तस्य पार्श्वे त्वया धर्मः कार्यः । अहं तव माता । एवं प्रोच्य गतायां मातरि, सारंगः स्थाने स्थाने द्विजादीनां पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ, परं न जज्ञौ । ततः सिद्धपुरे श्रीदेवसुन्दरसूरेस्तपागच्छाधिपस्य पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ जज्ञौ—

कामकान्तं व्रजे स्थानं, शिशिरा वापय श्रुते ।
अत्रोदितं मतं ग्राह्यं, त्वया पुत्रान्तदर्शनात् ॥१॥

'मतं जैनं शिवाय ते'; ततो जैनं धर्मं प्रपद्य सम्यक्त्वधारी श्राद्धोऽभूत् । शत्रुञ्जये गतः, तत्र श्रीऋषभं नत्वा स्तुतिमेवं चक्रे 'धन्यः स मासः, धन्यः स दिवसः, धन्यः स पक्षः' इत्यादि-देवैरपि चालितः सन् न चालितः ॥ इति धर्मदृढताविषये डीसावालसारंगसम्बन्धः ।

[38] प्रस्तरतरणे राममहिमा ।

एकदा पीरोजसुरत्राणेन मुकुन्दपण्डितस्याग्रे प्रोक्तम्—अहं महान् अथवा रामः ? ततस्तेन ज्ञेन जलमानायितं, तत्र अयं पाषाणो जले क्षिप्यतां । राज्ञा पाषाणो जले क्षिप्तो ममज्ज। ततो राज्ञोक्तम्-[व्यक्त्या] व्यक्तं जल्प, भयो नानेयः । ततो ज्ञोऽवग्-रामस्य सेवकैर्हनुमदादिभिर्जले मुक्ताः प्रस्तरास्तेरुः, अयं तु पाषाणो मग्नः, यतः—

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे,
वार्द्धौ वीर (?) तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च ।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः,
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमा सोऽयं समुज्जृम्भते ॥१॥

एवं प्रोक्तो राजा हृष्टः ॥ इति प्रस्तर तरणे राम महिमा ॥३८॥

[39] औचित्योत्पत्तिबुद्धौ छाग–छागमातृकथा ।

एकदा छागो मातरं प्रति जगौ मातर ! दीपालिका समेष्यति मदीयौ शृंगौ त्वं भूषयेस्तदा माताऽवग्–पुत्र ! यदि महिणिमायां (?) अश्विनशुद्धनवम्यां तव कुशलं भविष्यति तदा तव कथितं करिष्ये। एतच्छ्रुत्वा भीमभूपेन छागमारणेऽभिग्रहो गृहीतो, महिणिम पर्वणि जीवहिंसा त्यक्ता, अन्यत्पक्वान्नादिबलिश्च कृतः ॥

इति औचित्योत्पत्तिबुद्धौ छागछागमातृकथा ॥३९॥

[40] अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ।

भोजराजोऽन्यदा रात्रेर्मध्ये काव्यपदत्रयमेवं पुनः पुनरुच्चैर्जजल्पेति—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः, सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः, ...॥ इति

पदत्रयं भूपेन प्रोच्यमानं पुनः पुनः श्रुत्वा चौरः पूर्वं गृहान्तः प्रविष्टो जगौ—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' इति

ततो राजा तं चौरं मत्वा भृत्यपार्श्वात् धृत्वा प्रातस्तं विज्ञं लक्ष्मीदाने[न]सम्मानयामास ॥ इति अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ॥४०॥

[41] अनित्यतायां वस्तुपालमन्त्रिकथा ।

एकदा श्रीवस्तुपालमन्त्री स्तम्भतीर्थे ययौ । तदा लोकाः समेत्योचुः—'युष्माकं शरीरे कुशलमस्ति ! तदा वस्तुपालमन्त्री अवग्—

लोकः पृच्छति मे वार्त्ता, "शरीरे कुशलं तव" ।
कुतः कुशलमस्माक—मायुर्याति दिने दिने ॥१॥

इत्यनित्यतायां सम्बन्धः ॥४१॥

[42] कूटतुलाद्यर्जितविषये श्रेष्ठिकथा ।

कस्मिन् [कस्मिंश्चित्] पुरे श्रेष्ठी कूटमानतुलादिभिः कूटं व्यवहरति । एकपुष्कर-द्विपुष्कर-त्रिपुष्कर-चतुष्पुष्कर-पञ्चपुष्करेत्यादीनि मानतुलानां नामानि ददौ । अधिकं गृह्णाति, स्तोकं दत्ते इत्येवं कुर्वतो व्यवसायाद् मिलितं धनं वर्षप्रान्तेऽग्निना दह्यतेऽथवा स्तेनैर्गृह्यते राज्ञा वा । एकदा लघुपुत्रवध्वा कूटादिव्यवहारं दृष्ट्वा प्रोक्तं—कूटव्यवहारे श्रीर्यात्येव । ततो वध्वा स्वर्णमयं गोलकं कारयित्वा जले क्षेपितः । पुनः स एव मात्सिकैरब्धिमध्यात् कर्पितमीनहृदयात्प्राप्यसेरभ्रान्त्या दत्तः । ततो वध्वोक्तं—भो श्वसुर ! शुद्धमार्गेण व्यवसायं कुर्वतः एवं गृहान्निष्काशितापि श्रीः समेति स्वयम्, ततः शुद्धं व्यवसायं कुर्वतस्तस्य गृहे स्थिरा श्रीर्जाता ॥

इति कूटतुलाद्यर्जितविषये श्रेष्ठिकथा ॥४२॥

[43] बुद्धिविषये मृगावतीकथा ।

कौशाम्ब्यां शतानीको भूपः, तस्य पत्नी मृगावती चेटकभूपपुत्र्यभूत्, अन्यदा राजा सभास्थो दूतमप्राक्षीत्, मम राज्ये यादृशं विद्यते तादृक्कस्यचिदन्यस्य विद्यते न वा ? दूतोऽवग चित्रसभा वर्या नास्ति । ततो राज्ञा चित्रसभा कारयितुमारब्धा, चित्रकृन्मुख्यः सोमश्चित्रकृत् चित्रशालां चित्रयति । सोमोऽन्यदा मृगावत्याः पदाङ्गुष्ठं दृष्ट्वा मृगावत्या रूपं चित्रयति स्म, परं तस्या गुह्ये कृष्णो बिन्दुः पुनः पुनरपसार्यमाणः पपात । ततो राज्ञा राज्या रूपं चित्रलिखितं कृष्णबिन्दुं गुह्यस्थं च वीक्ष्य दध्यौ । अनेन चित्रकृता किं मम पत्नी समग्रा दृष्टा ? ततो राज्ञा सोमो वधायादिष्टः । तदाऽन्ये चित्रकारा जगुः, असौ न हन्यते अस्य दैवतवरोऽस्ति, तथाहि—साकेतनपुरे सुरप्रियो यक्षोऽभूव् । स च प्रतिवर्षं चित्र्यते, चित्रकरं च हन्ति, कोऽपि न चित्रयति यदा तदा पुरं हन्ति । ततो राज्ञा चित्रकराणां वारकः कृतः । चित्रलेखने यस्य नाम घटमध्याद् निर्याति स चित्रयति यक्षम् । एवं प्रतिवर्षं क्रियमाणे एकदा एकस्या स्थविर्याः [स्थविरायाः] एक एव पुत्रस्तस्य वारकः समागात्, तदा माता रौति, तदा तत्र सोमश्चित्रकरः समागात्, ज्ञातं तस्याः पुत्रस्य वारकागमनं, जगौ सोमः, मातस्त्वं मा रोदीः, तव पुत्रं रक्षिष्यामि । ततः षष्ठं कृत्वा शुचीभूय मुखकोशं पिधाय यक्षं चित्रयितुं लग्नः सोमः । यक्षस्तुष्टः जगौ—वरं याचस्व । चित्रकृतोक्तम्—अतः परं त्वया जीवहिंसा न कार्या । मम च देहांशे दृष्टे सम्पूर्णदेहचित्रकलाकरणशक्तिं देहि, तेन तुष्टेन यक्षेण तथाकृतं, सोऽत्रागतोऽसौ सोमः । ततो राज्ञा (तस्या) अङ्गुष्ठं दर्शयित्वा दास्या रूपं चित्रयामास । ततो राजा चमत्कृतः । पुनस्तस्य छिन्नसंडको हस्तः कारितो राज्ञा । ततः स चित्रकृद् मृगावत्या रूपं पट्टे लिखित्वा चण्डप्रद्योतनायादर्शयत् । चण्डप्रद्योतनः तानीकपार्श्वात् मृगावतीं याचते स्म । स न दत्ते । प्रद्योतनस्तत्रागात् । दुर्गं वेष्टयामास । तदा

तमरिं दृष्ट्वाऽकस्मात् शतानीको मृतः। पत्युर्मृत्युकृत्यं कृत्वा मृगावत्या धीमत्या ज्ञापितं मम भर्त्ता मृतः। अहं त्वां वाञ्छामि। परं पुत्रस्य लघोर्दृढं वप्रं कारय पश्चादहं त्वामङ्गीकुर्वे। यदि बलात्कारं करोषि तदात्महत्यां करोमि। ततो राज्ञा वप्रो दृढः कारितः धनधान्यादिभिः पूरितश्च। ततो नायाति सा चण्डपार्श्वे. ततः योद्धुं लग्नः परं दुर्गं लातुं न शक्नोति। इतः श्रीवीरस्तत्रागात्, राजा तत्र गतः, मृगावत्यपि तत्रागात् नन्तुं प्रभुम्। उपदेशः श्रुतो द्वाभ्याम्। मृगावती दीक्षां याचते तदा चण्डो मोहं त्यक्त्वा मृगावतीं क्षमयामास। मृगावती दीक्षामलात्। चण्डप्रद्योतनः प्रभुं महासतीं च नत्वा स्वस्थानमगात्॥ इति बुद्धिविषये मृगावतीकथा ॥४३॥

[44] गर्वोपरिश्रीधराचार्यकथा।

एकदा श्रीधराचार्यो नितवासनिकत्रिंशतिकादिगणितग्रन्थान् कृत्वा तेषां प्रान्ते स्वनाम लिखित्वा गर्वं दधान एकं काव्यं चकारेति—

उत्तरतः सुरनिलयं, दक्षिणतो मलयपर्वतं यावत्।
प्रागपरोदधिमध्ये, नो गणकः श्रीधरादन्यः ॥१॥

तस्य कवेः 'सरस्वतीपुत्रे'ति विरुदं नाम दधानस्य सरस्वती दध्यौ, अहो एष विज्ञोऽपि मूर्खः, यत एवं गर्वं धत्ते। ततो ब्राह्मी जरतीस्त्री [जरत्स्त्री] रूपं कृत्वा श्रीधराचार्यपार्श्वे समेत्येदं प्राह—अहं लेखकं न जाने त्वं तु सर्वं जानासि तेनेदं कथय एकेन द्विकेन किं भवति, श्रीधरोऽवग्–त्रयो भवन्ति, एवं न प्रोच्यते, सम्यग् कथय, ततः श्रीधरः प्राह—द्वादश भवन्ति, एवमपि न भवति। श्रीधरोऽवग्– भो जरति ! त्वं ग्रथिलाऽसि एतदपि न जानासि, मदुक्तं क्वचित् कूटं न भवति, स्त्रियोक्तम् एकविंशतिः, अङ्कानां वामाङ्गत्वात्। ततः श्रीधरो धूनितशिराः प्राह—मातः ! का त्वं, तयोक्तमहं कास्मी[श्मी]रदेशवासिन्यस्मि, तव गर्वं स्फेटयितुमत्राऽगां। श्रीधरोऽवग् को गर्वो मया कृतः, तयोक्तम्—"उत्तरतः सुरनिलयेति" श्लोककरणमेव गर्वस्तव, श्रीधरोऽवग्–मातस्त्वं स्वरूपं प्रकटय, मां कथं विप्रतारयसि, ततो ब्राह्मया निजं रूपं प्रकटितं। वाग्देवीरूपं दृष्ट्वा श्रीधर उत्थाय तस्याः पादयोः पतित्वाऽवग्–मातरहं मुग्धोऽस्मि, यत एवं मया गर्वः कृतः। तयोक्तं–पुत्र ! त्वयाऽतः परं गर्वो न कार्यः, गर्वेण जीवा दुःखिनः स्युरिह परत्र च, यतः—

ज्ञानं मदद‍र्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः।
अमृतं यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ॥२॥
विद्ययैव मदो येषां, कार्प्पण्यं विभवे सति।
तेषां दैवाभिभूतानां, सलिलादग्निरुत्थितः ॥३॥

एवं ब्राह्मीवचः श्रुत्वा श्रीधरो गर्वं तत्याज॥ इति गर्वोपरिश्रीधराचार्यकथा ॥४४॥

[45] गर्वोपरि कृष्णद्वी[द्वै]पायन कथा।

महाभारतान्ते श्रीकृष्णद्वी [द्वै]पायनव्यासेनाभिमानिना श्लोक ईदृशोऽलेखि—

अहं वेद्मि शुको वेत्ति, संजयो वेत्ति वा (नवा) ।
भारतं भारती वेत्ति, देवो जानाति केशवः ॥१॥

दक्षिणसमुद्रात् ११४ योजनैरुत्तरस्यां दिशि अयोध्यातः कुम्भकारो जैनो गिरिना यात्रार्थं गतः, तत्रस्थैः कृष्णद्वी[द्वै]पायनशिष्यैरुक्तम्—अस्माकं गुरुः सर्वं वेत्ति, कुम्भकृदध्य सर्वज्ञं विना न कोऽपि वेत्ति, ततः स कुम्भकारः कृष्णद्वी[द्वै]पायनपार्श्वे गतः सन्प्राह—भ भवत्कृते कथायाः पतिः कः ? कृष्णद्वी[द्वै]पायनोऽवग् युधिष्ठिरादयः कथेशाः, द्रौपद्याः समं कः सम्बन्धो भवति, कानि नात्रकानि भवन्ति ततो व्यासोऽवग् न जाने, ततः कुम्भकारोऽवग

पतिस्वसु[श्वशु]रताज्येष्ठे पतिदेवरताऽनुजे ।
मध्यमेषु च पाञ्चाल्या–स्त्रितयं त्रितयं त्रिषु ॥२॥

तत उत्थाय द्वी[द्वै]पायनः कृताञ्जलिर्जगौ—

त्वमेव विदुरो धीमान् , त्वमेव धर्मिशेखरः ।
त्वमेव वन्दनीयोऽसि, त्वमेवासि कलानिधिः ॥३॥

अहं मूर्खोऽस्मि मूढोऽस्मि, गर्ववान् पापवान् पुनः ।
कृतघ्नोऽस्मि निष्कलोऽस्मि, निर्गुणोऽस्मि च कुम्भकृन्[त् ?] ॥४

इति गर्वोपरिकृष्णद्वी[द्वै]पायनकथा ॥४५॥

[46] दाने धनकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी महेभ्यः, तस्य बहवः स्वजनाः, तस्य भार्या धनवती, पुत्रः कमलः, त पत्नी कमला, धने पत्नीयुते स्वर्गं गते कमलः क्रमात्स्वल्पधनोऽभूत्, कमलस्तु गुणवान् भार्या पतिहितकारिणी, प्राघूर्णकाः बहवः समायान्ति। कमला सर्वेषां प्राघूर्णकानां पत्यानीतानां भ करोति । अन्यदा श्रेष्ठी कृशशरीरां पत्नीं वीक्ष्य प्राहेति—

किं दीससि पिए संपइ, दुब्बला सुगुणावहे ।
जं ते अत्थि अणूरड्ढं, तं पूरेमि कहेह ॥१॥

भार्योऽवग्—घरि आवइ घरि मग्गिढ्ढिअ, पिय तुम्ह नामगुणेहिं ।
तिणि कारणि हूं दूबली, झूरउं रातिदीएहिं ॥२॥

ततो विशेषाद्धनानुसारेण दानं ददतो मुक्तियोग्यं पुण्यमर्जयतस्तौ ।

इत्यादिदाने धनकथा ॥४६॥

[47] धीविषये रिंछग्राहिकथा ।

कोऽपि पुमान् मार्गे निर्ययौ, वने तस्य मार्गे मिलित एको रिञ्छः । यदा रिञ्छस्तस्य पृष्टौ प्रधावति हन्तुं तदा तेन पुंसा कर्णे धृतो रिञ्छः । यथा रिञ्छो तं हन्तुमिच्छति तथा तथा स कर्णयोर्द्दढं मर्दयितुं लग्नः । तदा तस्य वासनिका त्रुटिता, कियन्ति स्पर्धकानि पतितानि भुवि तदा इतोमार्गे कोऽपि आगच्छन्पुमान् तं तथा दृष्ट्वा जगौ किं त्वया क्रियमाणमस्ति तेनोक्तं असौ रिञ्छः कर्णयोर्मृद्यमानः स्पर्धकानि मुञ्चन्नस्ति, द्वितीयोऽवग्-यदि त्वं मह्यमसुं ददस्व तदाऽहमपि कियन्ति स्पर्द्धकानि अर्जयिष्यामि, तेनोक्तमेवं कथं रिञ्छोऽसौ मया तुभ्यं दीयते । द्वितीयोऽवग्-त्वं कृपापरोऽसि, ततस्तेन रिञ्छो दत्तस्तस्य हस्ते । स च तस्य कर्णौ मर्दयितुं लग्नः । प्रथमः स्वस्पर्द्धकानि गृहीत्वा जगौ—कियन्ति स्पर्द्धकानि तव हस्ते चटितानि न वा । स रिञ्छकर्णौ मर्दयन् जगौ—असौ तु किमपि न दत्ते हन्तुं मां वाञ्छति असौ, परोऽवग्, तर्हि मुञ्चासुं । रिञ्छग्राह्यवग्—रिञ्छकर्णागृहीतो लातुं मोक्तुं न शक्यते, ततः स दुःखी जातः । प्रथमः स्वस्पर्धकानि लात्वा सुखीभूत्वा वुद्धथा स्वगृहे गतः ॥

इति धीविषये रिञ्छग्राहिकथा ॥४७॥

[48] उत्कृष्टसुखदुःखसम्बन्धः ।

एकदा श्रीकुमारपालोऽवग् भगवन् ! संसारे कुत्र वहुसुखं पुनः वहुदुःखं, कुत्र सदासुखं पुनर्दुःखमत्यन्तं कुत्रास्ति ? गुरवो जगुः—

अनुत्तरविमानात्तु नाधिकं विद्यते क्वचित् ।
सप्तमं नरकं मुक्त्वा दुःखं नास्त्यधिकं क्वचित् ॥१॥

यतः—अनुत्तरविमानवासिनां सुराणां त्रयस्त्रिंशत्सागराणि नित्यं सुखं, सप्तमनरकवासिनां नरकाणां दुःखं भवति त्रयस्त्रिंशत्सागराणि यावत् । मुक्तश्च सदा निरन्वयं सुखं [प्राप्नोति] जन्ममरणजराद्यभावात् । अतः कारणात् जीवेन पुण्ये आदरः कर्त्तव्यो, न पापे इंति उत्कृष्टसुखदुःखसम्बन्धः संसारे यत्र भवतीति तत्कथा ॥४८॥

[49] श्री प्रभाचन्द्रकथा ।

चन्द्रपुरे श्रीधरो दिगम्बरोऽभूत । तस्य शिष्यः प्रभाचन्द्रआसीत । एकदा प्रभाचन्द्रोऽवग्-भगवन्नहं सर्वविद्यापारगाम्यस्मि । तेन यथाऽऽदेशो दीयते श्रीपूज्यैः तदाहं पूर्वगतं श्रुतं संस्कृतं स्फेटयित्वाऽङ्गवत्प्राकृतं करोमि । गुरुणोक्तम्—तव पाराञ्चितं प्रायश्चित्तं लग्नम् । प्रभाचन्द्रोऽवग्—कथं ममास्मात्पापान्निस्तारो भविष्यति ? गुरुणोक्तं-राजानं प्रतिवोधय । ततः श्रीपुरे श्रीधरभूपस्य प्रतिवोधाय गतः । तेन राज्ञा स्वपुत्री पाठनाय अर्पिता । यद्यन्तरे तां कन्यां भरतशास्त्रादि पाठयामास । क्रमात्तयोः प्रीतिरभूत् । तयो रागान्मैथुनमपि जातं, ज्ञातं राज्ञा । राजा तयोश्चरित्रं दृष्टुं तत्रागात् प्रच्छन्नम् । तदा प्रभाचन्द्रेण काव्यं प्रोक्तम्—

अहो संसारजालस्य, विपरीतः क्रियाक्रमः ।
न परं जड[ल]जन्तूनां, धीवरस्यापि वन्धनम् ॥१॥

एतदाकर्ण्य राज्ञा तस्यैव स्वपुत्री दत्ता । क्रमाद् गुरुभिर्ज्ञातं शिष्यस्वरूपं, ततो गुरुभिरिति ज्ञापितम्—

संसारे हयविहिणा, महिलारूवेण मंडिअं कूडं ।
बज्झंति जाणमाणा, अयाणमाणा न बज्झंति ॥२॥

तेन गुरुपुरो ज्ञापितम्—

तावन्महत्वं पाण्डित्यं, कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावत् ज्वलति नाङ्गेषु, हतः पञ्चेषुपावकः ॥३॥

गुरुप्रोक्तमवगणय्य स्थितस्तत्र तदा गुरुणा ध्यातम्—

नान्यः कृतनयादाधि-र्व्याधिर्नान्यः क्षयाऽऽमयात् ।
नान्यः सेवकतो दुःखी, नान्यः कामुकतोऽन्धलः ॥४॥

कालेन तस्य सर्वा विद्या विस्मृता, मूर्खो बभूव, यतः—

नारीसक्तो जनस्तातं, पितरं भ्रातरं तथा ।
विद्यां न विन्दते लक्ष्मी-वानिव क्वचिदेव तु ॥५॥

एवं केचिन्नारीवशीकृता कृत्याकृत्ये न जानन्ति ॥ इति प्रभाचन्द्रकथा ॥४९॥

[50] लक्षणादिकूटकौतुककलाकथा ।

पद्मपुरे लक्ष्मीधरो राजाऽऽसीत् । तस्यामात्या बहवः । राजा तु याचकेभ्यो भूरिदानं दत्ते । मन्त्रीश्वरा जगुः-एवं दानात्कोशो रिक्तो भविष्यति ।

यथा तथा प्रजाः सर्वाः, प्रपीड्य विभवश्चिरम् ।
मेलितः किं मुधेदानीं व्ययतेऽर्थिप्रदानतः ॥१॥

ततो राजा जगौ—यो मां विशिष्टश्लोककरणेन रञ्जयिष्यति तस्मै दानं दास्ये, नान्यस्मै । ततोऽनेके बुधा वर्यकाव्यादि कृत्वा राज्ञः पुरः कथयन्ति । परं राज्ञः [राजा] शिरो न धूनयति ।

इतः कोऽपि कविरेवंविधं श्लोकं कृत्वा प्रभाते राज्ञः पुरः प्राह—

उत्तिष्ठ नृपशार्दूल ! मुखं प्रक्षालयस्व टः ।
यदा भाषयते (?) कुर्क-स्तदा रात्रिर्विभावरी ॥२॥

तदा राज्ञोक्तं—'प्रक्षालयस्व ट' अत्र त्वया टो निरर्थः कृतः । कविनोक्तं-कुकटशब्दस्य यो 'टो' विद्यते स 'मुखं प्रक्षालयस्व ट' इत्यत्र टः क्षिप्तः । एवंविधां लक्षणकलां तस्य दृष्ट्वा राजा जहर्ष, भूरिदानं तस्मै ददौ ॥ इति लक्षणादिकूटकौतुककलाकथा ॥५०॥

[51] सहसाकृतकार्योपरि–कृष्णकोलयोः कथा ।

वृद्धपुरे विप्रो मुकुन्दोऽभूत्। तस्य कृष्णाह्वः पुत्रः। तस्य गृहमध्ये एकः सदा कोलो मृत्तिकां कर्षयति स्म । एकदा मुकुन्देन धूलिमध्ये रूप्यटङ्को ददृशे। तेन स गृहीतश्च । द्वितीयेऽह्नि पुनः रूप्यटङ्कः प्राप्तः। एवं सप्तदिनेषु सप्त रूप्यटङ्काः प्राप्ताः। एकदा पितरि ग्रामे गते कृष्णो दध्यौ बिलं खनित्वा सर्वे रूप्यटङ्का ग्रहीष्यन्ते यदि तदा वरं भूयसी श्रीर्भवति ..। मद्गृहे आवासं कारयामि । ततो बिले खनिते कोलो निर्गतः। हतश्च तेन निर्दयेन। अग्रतो बिलं बहु खनितं किमपि न निर्गच्छति । इतः पिता ग्रामादागात् पुत्रः पृष्टः किमिदमारब्धं त्वया ? पुत्रोऽवग्– रूप्यटङ्कार्थं। पिताऽवग्–मुधाऽयं कोलस्त्वया हतः। कोलानां विवराणि भूमौ बहुप्रकाराणि भवन्ति। को जानाति कस्मिन् विवरे गच्छति कस्मि[कस्मा]न्निर्गच्छति तेनास्य हननाच्छ्रीरायान्ती स्वगृहे त्वया निषिद्धा । ततः पुत्रो दुःखं करोति। तदा पिताऽवग्–"यस्य यद्भावि तद्भवति" यतः–

यस्य यादृक्स्वभावः स्यात्, जायते सोऽन्यथा नहि ।
वक्रं पुच्छं पुनः केन, सरलीक्रियते क्वचित् ? ॥१॥ इति ।

सहसा कार्यं कृतमनर्थाय भवति, यतः—

सहसा विदधीत न क्रिया–मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥२॥

ततो द्वावप्यलब्धविभवौ दुःखिनौ जातौ चिरम् ॥

इति सहसाकृतकार्योपरि-कृष्णकोलयोः कथा ॥५१॥

[52] आचारविषये द्विजपत्नीकथा ॥

कस्मिंश्चित्पुरे मदनस्य द्विजस्य गौरी प्रिया, श्रीधरः पुत्रोऽभूत्। स क्रमात्तरुणो भूत्वा विद्यां भणितुं विदेशेऽगच्छत् । श्रीपुरे गदाधरविप्रस्यान्ते[न्तिके]चतुर्दश विद्या पपाठ । तं तादृशं ज्ञं ज्ञात्वा स्वां पुत्रीं तस्मै बहुश्रीयुतां ददौ। स तया पत्न्या युक् बहुश्रीकस्तं गुरुमुत्कलाप्य क्रमात्स्व-पितुः पार्श्वे सोत्सवमगात् । अन्येद्युस्तस्य पुत्रोऽभूत्, जन्मोत्सवोऽभूत् वर्धमान इति नाम दत्तं तस्य । स समानवयोभिः क्रीडति सदा। एकदा तस्य गृहांगणे राजपुत्रवणिजादयो बालाः क्रीडितुं लग्नाः। वणिक्कुमारो धूल्यां हट्टं कृत्वा क्रयाणकानि विक्रेतुं लग्नः। द्विजपुत्रो मृतां महिषीं स्वधिया प्रकल्प्य कर्षितुं लग्नः। इत्यादि बहून् क्रीडापरान् मदनो दृष्ट्वा दध्यौ—अयं पुत्रः ईदृशीं क्रीडां किं कुरुते । चकितः सन् मदनः श्रीधरं पप्रच्छ—किं तव पत्नी ढेढपुत्री सम्यक् त्वया पृ[प्र]च्छनीया । ततस्तेन रहसि पत्नी पृष्टा—त्वं तु मया परिणीता, पुत्रोऽपि त्वयि जातः, त्वया समं मयाऽनेकशो भुक्तम्, सत्यं जल्प, कस्य त्वं पुत्री ? तयोक्तम्—अहं पूर्वं चाण्डालकुले उत्पन्ना, अहं पञ्चवार्षिका[की]जाता। तावन्मत्पिता सकुटुम्बो विदेशं प्रति चलितः। क्रमान्मम मातापितरौ मृतौ। अहमेकाकिनी तत्र स्थिता। अहं दुःखिता सती अग्रतो गत्वा कस्मिंश्चिद्देवकुले स्थिता । इतस्तत्र गदाधरद्विजः समागात्, तेन साहं पृष्टा त्वं का ? मयोक्तम्—अहं द्विजपुत्री ।

मम मातापितरौ मृतौ, अहं निराधाराऽभूवं। ततस्तेन द्विजेन निरपत्यकेनाहं गृहे नीता। पुत्रीवाऽहं वर्धिता, तुभ्यं चाभीष्टत्वाद्दत्ता। ततः पुत्रः पितुरग्रे पत्नीस्वरूपं प्राह। ततो मिथो विमृष्टं रहसि पूर्वमेको द्विजः चण्डाली[तः]जातः, यतः—

कैवर्त्तीगर्भसंभूतो, व्यासा नाम महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जात—स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१॥
मण्डूकीगर्भसंभूतो, माण्डवश्च महामुनिः ।
तपसा० ब्राह्मणो जात—स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥२॥
शशकीगर्भसंभूतो, ऋष्यशृङ्गो महामुनिः ।
तपसा०... ... ... ॥३॥
उर्वशीगर्भसंभूतो, वशिष्ठस्तु महामुनिः ।
तपसा०... .... ॥४॥

तस्मादाचार एव प्रधानः, यतः—

आचारः कुलमाख्याति, देशमाख्याति भाषितम् ।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति, वपुराख्याति भोजनम् ॥५॥

ततो न केनापि स्वपूर्वजातसम्बन्धः प्रोक्तः कस्याग्रे (कस्यचिदग्रे) प्रवचनीयः ।

इति आचारविषये द्विजपत्नीकथा ॥५२॥

[53] उचितवैद्यविषये कथा ॥

यो यादृशो भवति तस्य तादृश उपदेशो दातव्यस्तथाहि—लक्ष्मीपुरे चन्द्रभूपो राज्यं कुरुते। स च दयावान् एकदा स्वकर्मकर एक इन्धनानि समानयत्। एकाक्षिसमुत्पन्नफुल्लको दृष्टो राज्ञा। करुणया राज्ञा(तेन)पञ्चशतवैद्यस्याग्रे प्रोक्तम्—अस्य निःस्वस्य नेत्रात्फुल्लकमपसारय। तेन वैद्येन तदा जीर्णकुटीरतीव्रस्थजीर्णतृणान्यादाय प्रज्वाल्य च तद्भस्मना तस्य नि[निः]स्वस्य नेत्रमञ्जितम्। द्वित्रिवारे तस्मिन्नञ्जिते नेत्रात्फुल्लकं गतम्। अन्येद्युर्भूपो निजं नेत्रं कृत्रिमफुल्लयुक्तं कृत्वा वैद्यस्याग्रे प्राह—मम नेत्रोत्पन्नं फुल्लकमपसारय। वैद्येन जात्यमुक्ताफलरत्नादि[दीनि]भस्मकृते आनायिते। राजाऽवग्—नि[निः]स्वस्य तृणभस्मना फुल्लकं गतं मम त्वेवमौषधं किं क्रियते। भो वैद्य! तस्य नि[निः]स्वस्य नेत्रफुल्लकाऽपसारायान्यदञ्जनं कृतं, मम च बहुमूल्यमौषधं कथम्?। वैद्येनोक्तम्—राजन् त्वं भूपस्तेन बहुमूल्यमौषधं नि[निः]स्वस्य तु दरिद्रत्वात्तादृशमेव युक्तम्। ततो राजा यथास्थितनेत्रं कृत्वा प्राह—वयं त्वया कृतं, त्वमुचितज्ञोऽसि। ततो वैद्यो वर्यभूषणादिना मानितः॥ इति उचितवैद्यविषये कथा ॥५३॥

[54] मणकपरीक्षितवैद्यकथा ।

वीरपुरे भूपडनृपस्य वैद्यानां पञ्चशतानि विशन्ते । तस्य चैको मणको राज्ञां मनो रञ्जयति । सर्वान् वैद्यान् विदुषंमन्यान् दृष्ट्वा मणको वैद्यस्योपान्ते गत्वा नालिकेरमेकं तस्मै ददौ, प्राह चेति ममातीव शिरोर्त्तिर्विद्यते, स्फेटय त्वं, ततस्तेनौषध[प्र]योगः प्रोक्तः । एवं प्रच्छन्नं सर्वेषां वैद्यानां गृहेषु गत्वा नालिकेरं दत्त्वा शिरोर्त्तिस्फेटनविषये पृथक्पृथगौषधं जज्ञे । सर्वेषां वैद्यानामुक्तान्यौषधानि कागदे लिलेख मणकस्तेषां हस्तेभ्यः, ततो राज्ञोऽग्रे प्राह मणकः स्वं कृतम् । एते वैद्याः किमपि न जानन्ति । ततो भूपोऽवग्–भो वैद्याः ! यूयं किं सम्यग् रोग-स्वरूपं न जानीथ ? तैरुक्तम्—अस्माभिर्ज्ञायते सम्यग् । ततो मणको वैद्यलिखितौषधमयं कागदं राज्ञा[ज्ञोऽ]ग्रे मुक्त्वाऽवग्–मम रोगस्य स्वरूपं न ज्ञातं, कथमन्येषां नृणां ज्ञास्यति ? अहं मुधा दण्डितोऽस्मि भवद्भिः । एवं लोका अपि दण्ड्यन्ते । मम शिरोर्त्तिस्वरूपं न ज्ञातं ततो राजाऽवग् अस्य मणकस्य यद्गृहीतं तद्दशगुणं ददत, नो चेन्न छुटिष्यते । ततोऽखिलैर्वैद्यैर्दश-गुणं प्रत्यर्पितम् ।। इति मणकपरीक्षितवैद्यकथा ।।५४।।

[55] कर्मोपरि दुष्टभूपकथा ।

चन्द्रपुरात् धनश्रेष्ठी सेवकयुक् चचाल विदेशं प्रति । मार्गे वृक्षस्याधस्तात् तस्थौ श्रेष्ठी । भृत्यः पादौ श्रेष्ठिनश्चम्पयति स्म । वार्त्तां कुर्वन् सेवकः प्राह—स्वामिन् ! यदि तव राज्यं भवति तदा त्वं कथं राज्यं पालयति ? श्रेष्ठी प्राह—त्वां मन्त्रिणं करिष्ये सर्वाः प्रजाः सुखिनीश्च करिष्ये । ततः श्रेष्ठी प्राह—कदाचित् कर्मयोगात्तव राज्यं स्यात्तदा त्वं कथं राज्यं करिष्ये[सि ?] । भृत्योऽवग्–यद्यहं राज्यं लभिष्ये[लप्स्ये] तदा सर्वं जनं दुःखिनमेव करिष्ये । ततश्चलितः श्रेष्ठी मार्गे गच्छतोस्तयोरकस्माल्लक्ष्मीपुराधीशे पुत्ररहिते मृतेऽमात्यैर्गजाद्यधिष्ठानयोगतः श्रेष्ठिसेवकस्य चम्पकस्यास्य राज्यं दत्तम्। जाते राज्ये भृत्योऽवग्—असौ मम स्वामी गच्छन् वाल्यताम्, ततो भीतः श्रेष्ठी, पश्चादानीतोऽमात्यैश्चम्पकभूपोपान्ते । तेन राज्ञा श्रेष्ठी मन्त्रिमुख्यः कृतः । राजा सर्वान् बहुकरग्रहणात् दुःखीचकार, केचिल्लोका गुप्तिगृहे क्षिप्ताः, केचित्कदर्थ्यन्ते, केचिद्बद्धाः शृङ्खलायाम् ।

इतो दीपालिका समागात्तदानीं गुप्त्यादिस्थैर्जनैः श्रेष्ठी प्रोक्तः वर्षेण दीपपर्व समागच्छ-न्न[दस्ति]स्ति । यदि दिनत्रयं[दिन]चतुष्टयं वा राज्ञा मोच्यन्ते[मोच्यामहे] वयं तदा वयं स्वजने मातृपितृभ्रात्रादिभिः[मातापिताभ्रात्रादिभिः] सह मिलित्वा सुखमनुभवामः । ततः श्रेष्ठिनाऽमात्येन राजानं विज्ञप्य लोकः स्वस्वगृहं प्रेषितः, मिलिताः स्वजनादिभिः सह वर्यान्नपानमोदकादिभिः भक्षणात्सुखिनोऽभूवन् ।

इतो रात्रौ राज्याधिष्ठितदेवेन समेत्य राजानं कशाघातैस्ताडयन्नाह—त्वं मया राज्ये स्थापितोऽसि लोकानां दुःखोत्पादनार्थं, कथं सुखिनस्तान् करोषि, यद्यतः परं लोकान् सुखिनस्त्वं करोषि तदैवं कुट्टयिष्यते मया । प्राग्वत् राजा लोकान् तथैव दुःखिनश्चकार । श्रेष्ठी प्राह—स्वामिन् ! कथं कुट्यन्ते एते लोकाः ? राजा तदा रात्रिस्वरूपं प्रोक्तवान्, अहं कथं करोमि

"इतो व्याघ्र इतस्तटी"। ततो लोकैरुक्तम्—अस्माकं भाग्यानुसारेण भवानेव राजाकृतो दैवेन कस्य दोषो दीयते ॥ इति कर्मोपरि दुष्टभूपकथा ॥५५॥

[56] स्वभाग्यविषये मेघकथा ।

श्रीपुरे चन्द्रभूपो राज्यं करोति स्म । तत्र धीरः श्रेष्ठी, धारिणी [तस्य]प्रियाऽभूत् । क्रमात्पुत्रो मेघाह्वोऽभूत् । धर्मकर्मशास्त्राणि पाठितः । स पित्रा परिणायितः । एकदा पितुः पार्श्वे पुत्रोऽवग्—अहं श्रियोर्थं विदेशं यास्यामि । यतः—

विदेशे मनुजाः प्राप्ताः, प्रायोऽर्जयन्ति वैभवम् ।
स्वस्य शक्तिं च जानन्ति, चरित्रं देहिनामपि ॥१॥
यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च माननीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥२॥

इत्युक्त्वा बलात् पितरं पर्यवसाप्य चन्दनैः शकटानि भृत्वा चलितुं प्रस्थानं बहिर्ददौ, तदा पिताऽवग् यदि त्वं कुसुमपुरेऽगमिष्यः[गमिष्यसि] तदा तत्र त्वया सावधानेन चिन्त्यम् । तत्र धूर्त्ताः सन्ति । ते तु त्वां छलयिष्यन्ति । प्रथमं तत्रत्या मण्डविका ग्राह्या, चन्दनं तु स्वर्णतौल्येन विक्रीष्यते त्वया । पुत्रः प्राह—तव वचः प्रमाणं । ततश्चलितो मेघो गच्छन् कुसुमपुरादर्वाग् पञ्चगव्यूतीर्गतः । तदा तत्र चत्वारो धूर्त्ताः तत्र [तस्य] संमुखमीयुः । सार्थसमीपे चन्दनैरिङ्गिष्टकं कृत्वा शीतमुत्तारयितुं तस्थुः । इतस्तत्रागतो मेघश्चन्दनं ज्वाल्यमानं दृष्ट्वा प्राह—किं भवद्भिश्चन्दनं ज्वाल्यते ? तैरुक्तम्—अस्मत्पुरे चन्दनं कणसमं तोलयित्वा विक्रीयते गृह्यते च । मेघो दध्यौ—अत्र चन्दनं स्वर्णतुल्यं श्रुतं साम्प्रतमेते ···· ···· चन्दनं कुर्वन्तः सन्ति । ततः किं करिष्यते मया । तदा मेघं कृष्णास्यं वीक्ष्य ते जगुः—किं भवता कृष्णास्यं कृतं ? समुसमग्रतः स्वागमनपितृजल्पनादिस्वरूपं जजल्प सः । कोऽत्र चन्दनस्य लाताऽस्ति । विक्रीयतोऽत्रैव मया शुल्कमुद्धरति । यूयं चन्दनं यदि ग्रहीष्यथ तदा भवद्भ्यो दास्ये । ते जगुरस्माकं चन्दनेन किं प्रयोजनम् । अस्मद् गृहेऽपि चन्दनं घनं विद्यते । पुरेऽपि च यदि चन्दनं विक्रेतुं वाञ्छाऽस्ति तदाऽत्रैव पुरे वणिग्भ्यो दापयिष्यतेऽस्माभिः । ततस्तैस्तत्र वणिजां कर्णबन्धेन कणतौल्येन दापितम्, सत्यंकारोऽपि दत्तः । स च मेघश्चन्दनं तेभ्यः सत्यंकारतो दत्त्वा पुरमध्ये गतो द्रष्टुं पुरीं चन्दनं स्वर्णतौल्येन विक्रीयमाणं दृष्ट्वा कृष्णाननोऽभूत् किं करिष्यते ? चन्दनं तु पुरा विक्रीतम् । कामसेना वेश्यागृहे गतः, तया पृष्टः, स चन्दनविक्रयसम्बन्धं जगौ । वेश्ययोक्तं—त्वं वाहितस्तैः अत्र धूर्त्ताः एव बहवः सन्ति, ते वैदेशिकं छलयन्ति । यदि मदुक्तं कुरु तदा तथा धियं दास्यामि यथा तव चन्दनं वलति । तेनोक्तं—भवदुक्तं करिष्यते मया । वेश्या जगौ—त्वं तत्र गच्छ, चन्दनं कर्पयित्वा चन्दनग्राहकाणां पुरः प्रोक्तव्यं[प्रवक्तव्यम्] कणा[न्] आदावानयन्तु यथा तैः सह चन्दनं तोलयित्वा दीयते । यदा तैर्युगन्धरी तत्रानीयते तदा त्वया वक्तव्यं—वयं तु वैदेशिकाः स्वर्णमूल्यं चन्दनं ज्ञात्वाऽत्रागच्छामः । भवद्भिस्तु कणैरित्युक्त्वा चन्दनं गृहीतम् ।

तेन मुक्ताकणा आनीयन्तां भवद्भिः। युगन्धरीयमस्मत्पुरेऽस्ति, ततो विवादे जायमाने राजपार्श्वे तैः सह गन्तव्यम्। राजा मुक्ताफलैः सह तोलयित्वा चन्दनं तावकं तेभ्यो दापयिष्यते। ततो वेश्योक्तमङ्गीकृत्य मेघो राजपार्श्वे तैः सह विवादेन सदृशं कं (कण्ठं) शिथिलं कारयामास। ततो मण्डविकाः पितुर्वचसा लात्वा शनैश्चन्दनं विक्रीय बह्वीः कोटीरर्जयामास मेघः, ततोमदनावेश्यायै बहुधनं दत्त्वा पश्चात्स्वपुरीमागात्। पितुर्मिलितः पिता मुमुदेतराम्। ततः सप्तक्षेत्र्यां श्रियं व्ययति स्म पितरि स्वर्गं गते स्वयं गृहस्वामी भूत्वा दानादि ददानो महातीर्थेषु शत्रुञ्जयादियात्रां चकार, मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमर्जयामास।

मेघस्यापि सोमनामा पुत्रोऽभूत्, जन्मोत्सवः कृतः, पाठितः धर्मकर्मशास्त्राणि, परिणायितश्च। श्रेष्ठी मेघः समुत्पन्नवैराग्यः पुत्रे गृहभारं मुक्त्वा दीक्षां ललौ, कर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ मेघः॥ इति स्वभाग्यविषये मेघकथा ॥५६॥

[57] कर्मोपरि अनिरुद्धभूपकथा।

एकदा अनिरुद्धराजा प्राह—गुरुपार्श्वे—भगवन्! पाण्डवा विज्ञा अभूवन्। तैरेवं युद्धं किं कृतम्? तेषां वारके श्रीनेमिनाथो जिनोऽभूत्।

गुरवो जगुः—भवितव्यताग्रे को [कोऽपि] न छुटति।

अनिरुद्धोऽवग्—यदि सावधानीभूय स्थीयते तदा किं करोति कर्म? तदा—

गुरवो जगुः—त्वयैतानि कार्याणि न कर्तव्यानि, यद्येतानि करिष्यन्ते तदाऽनर्थो भविष्यति।

अनिरुद्धोऽवग्—कानि कार्याणि?

गुरुराह—त्वया चतसृषु दिक्षु न गन्तव्यं। यदि कार्यं कदाचिद्भवति तदा न पूर्वस्यां गन्तव्यम्। यदि पूर्वस्यां गच्छेस्तदा पापर्द्धिर्न कार्या। यदि पापर्द्धिं कुरुषे तदा सूकरो न हन्तव्यो। यदि सूकरं हनिष्यसि तदा सूकरी न हन्तव्या। यदि सूकरीं हंसि तदा धवला त्याज्या। यदि धवला हता तदा त्वया गृहे न नेया। यदि गृहे नयसि तदा तस्या मांसं न भक्षणीयम्। यदि भक्षयसि मांसं तदा त्वया उपरि पानीयं न पेयं। यदि पानीयं पिबसि तदा तम्बोलो न भक्षणीयः [ताम्बूलं न भक्षणीयम्] इत्यादि नियममङ्गीकृत्यऽनिरुद्धभूपः स्वगृहे समागात्, क्रमात्सर्वं नियमं विसस्मार। कुष्ठी जातः, ततस्तं तादृशं दृष्ट्वा गुरुभिरुक्तं—कर्मणोऽग्रे कोऽपि न छुटति। ततो विशेषतोऽनिरुद्धभूपः पुण्यं कुर्वाणः पूर्वकृतानि कर्माणि नाशं चकार, यतः—

कत्थई जीवो बलिओ, कत्थइ कम्माइं हुंति बलिआइं।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वनिबद्धाइं वयराइं ॥१॥

एवं सर्वैः जीवैरपि कर्मवशगतैः संसारे दुःखसुखानि पापपुण्ययोगाल्लभ्यन्ते।

इति कर्मोपरि अनिरुद्धभूपकथा ॥५७॥

[58] अतिथिसंविभागव्रते सांतलकौटुम्बकादि कथा ।

वीरपुरे धीरस्य कौटुम्बिकस्य मदनाह्वा पत्नी बभूव । क्रमात्तयोः सप्त पुत्रा बभूवुः । नामान्यमूनि तथाहि—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७

चन्द्र-भीम-सोम-देवदत्त-धनदत्त-मदन-सान्तला इति सप्त परिणायिताः ।

एकदा सप्तसु पुत्रेषु हलानि खेटयत्सु सप्तापि वध्वः कौटुम्बिकेन निन्दनार्थं प्रेषिताः । तदा सप्तापि वध्वो निन्दनार्थं क्षेत्रं प्रतिचेलुः । मेघे वर्षति सप्तापि वध्वो वटवृक्षस्याधः स्थिता मिथो वार्त्तां कर्त्तुं लग्नाः ।

इतः कौटुम्बिकोऽपि क्षेत्रं प्रति चलितो मार्गेऽब्दे वर्षति छन्नं वटतरोः समीपे वधूजल्पितं श्रोतुं स्थितः वृद्धा वधू प्राह—मम क्षीरं रोचतेतराम् ।

द्वितीयाऽवग्—क्षिप्रचटिकाम् ।

तृतीया चाह—सालिदालिघृता[दीन्] रोचते ।

चतुर्थी—ओदनं मुद्गघृतयुतम् ।

पञ्चमी—पक्वान्नम् ।

षष्ठी—मोदकान् ।

सप्तमी जगौ—यदि भवति किमपि तदाऽर्थिभ्यो दत्त्वा जिम्यते यादृशमन्नादि यदा चटति तदा तादृशेन निर्वाहः क्रियते । उच्चाटो नानीयते च सन्तोष एव कर्त्तव्यः । किं करोति श्वश्रूश्वसु[श्वसुर]रादिकः । कर्म एव प्रधानं वीक्ष्यते ।

एतत्तासां प्रोक्तं श्रुत्वा श्वशुरो गृहे पश्चात्समेत्य भार्यायाः पुरः (कौटुम्बिकः) प्राह—षण्णां वधूनां क्षीरादि देयं, सप्तम्याश्चोद्धरितं कदन्नं दातव्यं, ताभ्यस्तथा तथा कृतं यथा सप्तमी दुःखिनी जाता कान्तस्याग्रे प्राह—मह्यं श्वश्रूः कदन्नं दत्तेऽहं मरिष्यामि ।

सान्तलोऽवग्—भो प्रिये ! त्वया दुःखं न कार्यम् , अहं दिशं [विदेशं] गत्वा तथा करिष्ये यथा तवेप्सितं भविष्यति । ततो मातुरहं कदाचिद्बहुकालात्तव मिलामि तदा त्वयाऽहमुपलक्ष्यसे [क्षिष्ये] नवेति मातरं पप्रच्छ ।

माताऽवग्—यो गर्भे नवमासान् व्यूढः स कथं नोपलक्ष्यते । ततो रात्रौ प्रियापार्श्वेऽवग् स त्वयाऽयं कञ्चुको नोत्तार्यः ।

एवं प्रोक्त्वा[प्रोच्य] सान्तलो विदेशं प्रति चचाल, सूर्यपुरोपान्ते सान्तलः स्थितो विश्रामार्थम् ।

इतः तस्मिन् पुरे नृपे पुत्ररहिते मृते पञ्चदिव्यैरभिमन्त्रितैः सान्तलस्य राज्यं तत्रत्यमभूत् । 'सहस्रमल्ल' इति स्वं नाम कथयामास राजा । क्रमाच्चतुर्दश प्रिया अभूवन् । मातापित्रोः सहोदराणां नामापि चित्ताद् विस्मृतः [व्यस्मरत्] ।

राज्ये जाते नृणां सर्वे, मातापित्रादिसोदराः ।
न चित्ते स्मृतिमायान्ति, यतोऽन्धं कुरुते रमा ॥१॥

तत्र पुरे स्तोकं वारि ज्ञात्वा सरो मन्त्रिपार्श्वात्खानयितुं राजा[ज्ञा] प्रारब्धं, बहवो जनाः सरः खनन्ति स्म, नरं प्रति मानकं धान्यस्य घृतस्यार्धशेरं दीयते एकैको द्रम्मश्च ।

इतश्चान्यदा राजा सरो द्रष्टुं गतः। सरो विलोकयन् स्वकुटुम्बं सरः खनत् वीक्ष्य राजा दध्यौ—किमिदं मम कुटुम्बं विद्यते । कर्मणः पुरः कोऽपि न छुटति । स्वं कुटुम्बं दृष्ट्वा राजा गृहे गतो द्वितीयदिने धीरस्य सकुटुम्बस्याघ्यर्धं ग्रासं राजा चकार । क्रमान्मातापित्रोर्मन्त्रिपार्श्वात् सरः खननं निषिद्धम् । धीरो दध्यौ किमयं राजा करोत्येवम्। ततो राज्ञोक्तमन्यदा एकैका वधूर्वारकेण तक्रार्थं मम गृहे प्रेष्या । ततो दिनं दिनं [प्रतिदिनं] वधूरेकैका तक्रं ग्रहीतुं याति । राजगृहे यदा पञ्च वध्वो यान्ति तदा राजा तक्रं दापयति, यदा सप्तमी याति राजगृहे तदा नृपो दुग्धं दधि वा दापयति स्म तस्यै। यदा सा स्वगृहे याति तदा परा वध्वो जल्पन्ति—इयं कुशीलिनी विधते, तेन न ज्ञायते मार्गे स्थास्यति न वा, सान्तलस्तु कुत्र गतो न ज्ञायते । जीवन्नस्ति मृतो वा । एकदा राज्ञोक्तम्—भो स्त्रि ! जीर्णं कञ्चुकं त्यज, नवीनं परिधेहि । साऽवग्—त्वं लोकस्य पाताऽस्ति तवैवं वक्तुं न युक्तं । सर्वे तपस्विनो दुर्बला निराधारा प्रे[प्रो]षितभर्तृकादयो ये वर्त्तन्ते तेषां धर्ममार्गे राजा स्थापयति । यदि वृत्तिश्चिर्भटिकान् भक्षयति तदा को रक्षिता । पूर्वं परिणीतं पतिं मुक्त्वाऽस्मिन् भवे नान्यमङ्गीकरोमि । यदि बलात्कारं करिष्यसि तदाहं तुभ्यं स्वस्य हत्यां दास्ये । त्वं प्रजापालोऽसि, मया किमुच्यते !

इतो राज्ञा कौटुम्बिकं सकुटुम्बमाकारयितु[तुं]भृत्यान् प्रैषीत् । भृत्यास्तमाकारयितुं यदा गताः तदा स कौटुम्बिको नन्दनान्प्रति आह—न ज्ञायते राजा किं करिष्यते । प्रथमं भूपेन लघुपुत्रपत्नी रक्षिता । आत्म[अस्मा]भिरन्यायः कोऽपि न कृतः । राजा दुष्टो भवति, यतः—

वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो, नीरमार्जारमर्कटाः ।
जातवेदाः कलादाश्च, न विश्वास्या इमे क्वचित् ॥२॥

ततो बिभ्यन् कौटुम्बिकः सकुटुम्बो राजपार्श्वे गतः, राज्ञोक्तम्—भवद्भिः सरो रुचिरं न खनितं तेन त्वं कारागृहे क्षिप्यसे । कौटुम्बिकोऽवक्—अस्माभिरपराधः कोऽपि न कृतः । यथा रुचिस्तव स्यात् तथा कुरु । ततो राज्ञा स्वगृहोपान्ते स्थापितः । स्वयं स्नानं कर्त्तुमुपविष्टः, तदा हस्ते चिह्नं वीक्ष्य प्राह—भूपोऽयं मत्पुत्रः । ततो राजा स्नानं विधाय मातापित्रोः भ्रातॄणां भ्रातृजायानां च पादेषु विनयात्पपात । ततो जनकं भूपोऽप्राक्षीत्—तात ! त्वमत्र कथमागाः ? कौटुम्बिकोऽवग्—तत्र नीवृति[तौ] दुष्कालोऽपतत् ततोऽस्माकं निर्वाहो दुःशको जातः । ततोऽस्माभिः पृथ्व्यां भ्रमद्भिरत्रागतम् । ततो राजा तां पूर्वपत्नीं पट्टराज्ञीं चक्रे प्राहेति भूपः—त्वमात्मीयं मनोरथं दानादिषु पुण्यात्पूरय । लक्ष्मीस्तु भूयस्यस्ति । मातरं प्रति प्राह—त्वया पूर्वं प्रोक्तं यो गर्भे उद्वह्यते स बहुकालादुपलक्ष्यते तदर्थं मयैतत्कृतम् । ततः सर्वेषां सोदराणां ग्रामाणि पञ्च

पञ्च ददौ। ततो लक्ष्मीवन्तो जाताः सन्तो लघुभ्रातरं भपं विनयेन न मन्यन्ते । प्रायः श्रीमतां विनयो न भवति—

भक्ते द्वेषो जडे प्रीति—रुचितं गुरुलङ्घनम् ।
मुखे कटुकतात्यन्तं, धनिनां ज्वरिणामिव ॥३॥

क्रमात्तेषामन्यायेन चलतां ग्रामा उद्वसा जाताः पुनर्दुःखिनो जाताःसन्तो भूपं सेवन्ते श्रियोऽर्थं "क्षीणश्चन्द्रः सूर्यं सेवते"। ततो राज्ञा सज्जनत्वात्ते भ्रातरो मानिता लक्ष्मीदानात् ।

अन्येद्युस्तत्र गुरुरागात् । धर्मं श्रोतुं नृपोऽगात् । धर्मं पप्रच्छ, मया किं कृतं पुण्यम् । गुरुभिरुक्तम्—

पूर्वं श्रीपुरे कमलश्रेष्ठी बभूव । तस्य भार्या कमला । तौ द्वावपि गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वाऽतिथिसंविभागव्रतं ललतुः। तद्व्रतं सम्यक्प्रपाल्य त्वं स प्रियो भूपोऽभूः, ततो विशेषतोऽतिथिसंविभागव्रतं शुद्धमाराध्य पञ्चमस्वर्गे राजा राज्ञी च मर्त्यजन्म प्राप्य कर्मक्षयात् मुक्तिं जग्मतुः ॥

॥ इति अतिथिसंविभागव्रते सान्तलकौटुम्बिकादिकथा ॥५८॥

[59] सत्योपरि मुनिकथा ।

एकस्मिन् पुरे कोऽपि मुनिः कस्यापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः । तेन नत्वा मुनिः पृष्टः—भगवन् ! त्रिगुप्तिगुप्तोऽसि । मुनिनोक्तं—नाहं गुप्तः । कथम् ? तेनोक्तम्—

एकदाऽहं कस्यापि गृहे भिक्षार्थमगमं, तस्य प्रियाया वेणीदण्डं दृष्ट्वा स्वभार्यां स्मृतवानहम् । अतो मनोगुप्तिर्मम नास्ति । पुनरेकदा भिक्षार्थमिभ्यगृहेऽगममहं तेन कदलीफलानि मे दत्तानि अन्यगृहे मया पृष्टेन व्याहृतम् । तेन तद्वैरिणा तत् नृपाय निवेदितम्, देव ! भवद्वाटिकाया रम्भाफलानि श्रीदश्रेष्ठिगृहे यान्ति । राज्ञोक्तम्—कथं ज्ञायते ?

तेनोक्तम्—श्रेष्ठिना मुनेर्दत्तानि मया तु मुनिमुखात्श्रुतम् । एवंविधानि सदाफलकदलीफलानि भवद्वाटिकां मुक्त्वाऽन्यत्र न सन्ति, तच्छ्रुत्वा नृपेण श्रेष्ठी दण्डितः, अतो मे वाग्गुप्तिर्नास्ति। येन श्रेष्ठिदण्डनेऽहं हेतुरभूवम् । तथाऽहमेकदाऽटव्यां श्रान्तः विश्रान्तश्च प्रमिलां[प्रमीलां]प्रापम् । तत्रैकः सार्थः स्थितोऽभूत् रात्रौ सार्थपतिनोक्तम्—प्रातरग्रे चलिष्यते तेन सकालमन्नानि कुरुत जनाः, ततः सर्वो जनोऽन्नपाके लग्नः एकेनान्धकारवशादेकस्मिन्पक्षे मम मस्तकपार्श्वे पाषाणं मुक्त्वा चुल्लकः कृतः, तन्मध्ये वह्निरुद्दीपितः, मया शिरोऽपाकृतम् अतो मे कायगुप्तिरपि नास्ति । अतो नाहं भिक्षार्हः । तस्य सत्यभाषणे श्रेष्ठी हृष्टः प्रतिलाभ्य प्रेषितो मुनिः। श्रेष्ठी प्रशंसयाऽनुत्तरविमानादिसुखमर्जितवान् । मुनिस्तु तादृशं तादृशमात्मानं निन्दन् चिरं चारित्रं प्रपाल्य क्रमाद्दिवं गतः ॥ इति सत्योपरि मुनिकथा ॥५९॥

[60] पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ।

नो चेव भासिअव्वं, अत्थिणा दुक्खकारणं ।
अलियं अभक्खाणं, पेसुन्नं मम्मवेहाई ॥१॥
संतो वि हु वत्तव्वो, परस्स दोसो न होइ विबुहाणं ।
किं पुण अविज्जमाणो, पयडो छन्नो अ लोअस्स ॥२॥
विअरइ अब्भक्खाणं, इअरस्स वि जो जणस्स दुबुद्धी ।
सो गरिहिज्जइ लोए, लहइ दुक्खाइं तिक्खाइं ॥३॥
जो पुण जईण समिआण, सुद्धभावाण बंभयारीणं ।
अब्भक्खाणं देई, मच्छरदोसेण दुट्ठमई ॥४॥
निव्वत्तिऊण पावं, पावेइ सो दुहमणंतं ।
सीआ इव पुव्वभवे, मुणि–अब्भक्खाण–दाणाउ ॥५॥

यथा अत्रैव भरते मिणालाकुण्डपुरे श्रीभूतिः पुरोधाः, सरस्वती भार्या, पुत्री वेगवती, तत्रकदा साधुः शुद्धव्रत आगात्, उद्याने प्रतिमां स्थितः, लोको वन्दते भक्त्या, साधुपूजां दृष्ट्वाऽलीकमात्सर्येण वेगवती लोकानाह—एष मुण्डः पाखण्डी किं पूज्यते ? ब्राह्मणान्मुक्त्वा, एष मया रमण्या सह रममाणो दृष्टः इति कूटमालं साधोर्दत्तवती। लोका मुग्धास्तदनु साधुपूजनादिभ्यो निवृत्ताः, मुनिनापि लोकविरक्त्या ज्ञातम्—तदलीककलङ्कादि, ततो जिनशासनेऽपभ्राजना मन्निमित्ता[मा] भूयादिति मनसि कृत्वा यावत्तैष कलङ्को नोत्तरति तावता मया न भोक्तव्यमिति प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गे स्थितः। ततः शासनदेवतासान्निध्यात्—

ततो—"वेगवईए देहे वि[वे]अणा समुट्ठिआ तिव्वा ।
पाउब्भूया अरई सूणं वयणं च सहसत्ति ॥१॥"

ततस्तया संजातपश्चात्तापया साधुमूले गत्वा सर्वलोकसमक्षं स्वनिन्दापरया मुधैव तदालं साधोर्दत्तं मात्सर्येणेति क्षमयित्वा पादयोर्लग्ना, ततः शासनदेव्या सज्जीकृता, धर्मं श्रुत्वा दीक्षां गृहीत्वा चिरं पालयित्वा सौधर्मे देव्यभूत्। ततो जनकसुता सीता जाता । क्रमाद्रामेण परिणीता, रावणेनापहृता, सा च पश्चादानीता तदा पश्चाद्धवात्स्यस्थितालीककर्मयोगाल्लोकैः कलङ्को दत्तः। ततः पुण्ययोगादग्निचिताप्रवेशतः शुद्धा, ततो जिनशासने प्रभावना जाता।

इति पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ॥६०॥

[61] सुभद्रा–कथा ॥

कायोत्सर्गे इहलोके यत्फलमभूत्सुभद्रायाः, तत् उदाहरणं वक्ष्ये ।

वसन्तपुरे जिनदासश्रेष्ठी, तस्य सुता सुभद्राः बौद्धभक्तेन चम्पापुरीनिवासिना नरेण कपटश्राद्धीभूय बुद्धदासेन स्वगृहं परिणीय नीता, सा कुटुम्बकलहे पृथग्गृहे स्थापिता सा, तत्र

प्रायो भिक्षार्थं अनेके साधव आगच्छन्ति। एषा संयतेषु रक्ता इति अन्यवचोभिर्भर्त्सिताऽपि तेषु साधुषु भक्ति करोति। अन्यदा साधुलोचने पतितं तृणं जिह्वया कर्षयन्तीं सुभद्रां दृष्ट्वा [श्वशुर]लोकेन तिलको भाले संक्रान्तो भर्तुर्दर्शितः, स मन्दस्नेहोऽभूत्प्रियायां, सुभद्रया स वृत्तान्तो ज्ञातः, प्रवचनोड्डाहभीतया रात्रौ कायोत्सर्गः कृतः। ततस्तदा तत्र शासनदेव्योक्तं—प्रातरस्याः पुर्या द्वारेषु स्तब्धेषु मया, चालन्याऽऽकृष्टोदकेन त्वया प्रतोली उद्घाट्या, ततो जिनशासनप्रभावना भवति। तदा बह्वीभिः सतीभिरनुद्घाटितेषु द्वारेषु पटहस्पर्शनपूर्वं सुभद्रया देवतयोक्तविधिना प्रतोलीत्रयमुद्घाटितं, चतुर्थमधुनापि तथैवास्ति तत्र ततो विशेषाज्जिनशासनप्रभावना जाता, ततः सर्वकुटुम्बेन जैनो धर्मः प्रपेदे, साधव आराधिता, जिनेन्द्र आराधितः, मिथ्यात्वं त्यक्त्वा सुभद्रा[श्वश्रा]दयोऽपि पुण्यमर्जयामासुः। इति सुभद्रा कथा ॥६१॥

[62] निर्मोहकुटुम्बे गोपालकथा।

सुस्थितग्रामे गोपालकुटुम्बी वसति, तस्य प्रिया गुणवती, पुत्रः कालकः, वधूटी कामदेवी सर्वेऽपि विरहासहाः सुस्नेहमानसाः एकत्रैव तिष्ठन्ति स्म, न विदेशं गच्छन्ति च।

अन्येद्युस्तत्रागतश्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे संसाराऽसारतां श्रुत्वा अनित्यतां भावयन्ति स्मेति—

एगोहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सई।
एवमदीणमणसो, अप्पाणमणुसासई ॥१॥

अन्यदा वर्षाकाले कालके हलखेटनाय गते तत्र पितृमातृवध्वाद्याः समाजग्मुः।

अत्रान्तरे स्वर्गे कोऽपि देवोऽन्यदेवं प्रति प्राह—अधुना यादृशं गोपालकुटुम्बं निर्मोहं मिथोऽस्ति तादृशमन्यत्र दृश्यते ततस्तत्रैत्य तौ देवौ मनुष्यरूपं कृत्वा गतौ। एकः सर्परूपं कृत्वा हलं खेटयन्तं पुत्रं दशति स्म। पुत्रेऽचेतनीभूते यदा पित्रादयः शोकं रोदनादि न कुर्वते, तदा अपरो देवो मनुष्यरूपभृत्प्राह—भो भो गोपालादयः कालके मृतेऽपि भवद्भिः कथं न रुद्यते पिता प्राह तदा—अनाहूतो मया यातो, न मया प्रेषितो गतः।

यथाऽऽयातस्तथा यातः का तत्र परिदेवना ॥१॥

जननी प्राह— एकवृक्षसमारूढा, नानारूपा विहंगमाः।
प्रातर्दिशो दिशं यान्ति, का तत्र परिदेवना ॥२॥

कलत्रं परिजगौ—पृथक्पृथक्स्थिते काष्ठे, अपरे तटिनीपतौ।
संयुज्येते वियुज्येते, तत्र का परिदेवना ॥३॥

ततस्तौ देवौ प्रकटीभूय निर्विषीकृत्य पुत्रं निर्मोहमिदं कुटुम्बमिति व्यावर्ण्य स्वस्थाने गतौ। इति निर्मोहकुटुम्बे गोपालकथा ॥६२॥

[63] प्रासादकरणे आरासणवासिपासिलपुण्यम् ।

आरासणे मं० गोगासुतः पासिलो दौर्बल्यादतीव दुःखितोऽभूत् । यतः—

वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं, जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् ।
तृणैश्च शय्या वसनं च वल्कलं, न बन्धुमध्ये निधनस्य जीवितम् ॥१॥

अन्यदा तैलपूर्णां कूपिकां गृहीत्वा पत्तने विक्रयार्थं गतः । तत्र त्रिभुवनविहारप्रासादे देवान्नन्तुं गतः । देवान्नत्वा विहारस्तम्भादिषु प्रमाणं गृह्णन् तत्र वाम्नव्या ! श्र० छाण्डापुत्र्या हसितं, किमियत्प्रमाणं प्रासादं कारयिष्यसि ?

पासिलेनोक्तम्—यदि कदाचिद्भगिनि ! प्रासादः कार्यते तदा प्रतिष्ठासमये त्वयाऽऽ-[गन्तव्यम्] गम्यम् । गतः स्वपुरे पासिलः । १० उपवासैरयम्बिकाऽऽराधिता प्रसन्नाऽभूत् । यतः अम्बिकाऽवग्—मार्गय [वृणु] वरम् । तेनोक्तम्—यथा नवीनः प्रासादः निष्पाद्यते तथा कुरु । देवतयोक्तम्—सीसकखनिः रूप्यमयी कृता । ततस्तेन नमिनाथस्य प्रासादः कारितः ।

स च विम्वप्रतिष्ठावसरे पत्तने गत्वा तां छांडापुत्रीं स्वभगिनीत्वेन प्रतिपन्ना[न्नः]ऽऽनीता सन्मानिता च तेन । सा प्रतिष्ठा जाता संघभक्त्यवसरे प्रथमं गुरून् परिधाय श्रीसंघः पट्ट[दु] कूलवस्त्रैः परिधापितस्तेन । भगिन्या तया पट्टकूलेषु दीयमानेषु प्रोचे इमानि मम बहूनि सन्ति परं त्वया प्रासादः कारितः परं ममायं मण्डपोऽस्तु । तेनोक्तमेवं भवतु । तदा गुरुभिरिदं काव्यमुक्तम्—

गोगाकस्य सुतेन मन्दिरमिदं श्रीनेमिनाथप्रभो-
स्तुङ्गं पासिलसंज्ञकेन सुधिया श्रद्धावता मन्त्रिणा ।
शिष्यैः श्रीमुनिचन्द्रसूरिसुगुरोर्निग्रन्थचूडामणे-
र्वादीन्द्रैः प्रभुदेवसूरिगुरुभिर्नेमेः प्रतिष्ठा कृता ॥२॥

तत्पुण्येन स पासिलः स्वर्गसौख्यमासाद्य क्रमात्स शिवं गमिष्यति ।
इति प्रासादकरणे आरासणवासिपासिलपुण्यम् ॥६३॥

[64] प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्पः ।

एकदा श्रीदेवसूरयो मेडताग्रामे चतुर्मासकं कृत्वा फलवर्धिग्रामे मासकल्पं स्थिताः। तत्रत्य पारसाभिधश्राद्धेनान्यदा जालिमध्ये अम्लानपुष्पपूजितो लेष्टुराशिर्दृष्टः । ततः श्रीगुर्वादेशेन तद्विरलीकरणे श्रीपार्श्वबिम्वं दृष्टम् , तस्य प्रासादकारणाय श्रीपार्श्वनाथेनोच्यते स्वप्ने समागत्य । ततः श्राद्धेन तेन पारसेन स्वस्य द्रव्याभावे उच्यमाने प्रत्यहं मदग्रढौकिताक्षतसुवर्णीभवनेन द्रव्यं बह्वपि भावीति प्रत्ययो दर्शितः । ततः कारितः प्रासादः, एकस्मिन्पार्श्वे मण्डपादि सर्वं निष्पन्नं तावता तत्पुत्रेणैतद्द्रव्यं कुतः समेतीति निर्वन्धपूर्वं पृष्टेन सा० पारसेन यथावत्कथनेऽक्षता न सुवर्ण्यभवन् । द्रव्याभावात्प्रासादस्तावानेव तस्थौ । सं० ११९९ वर्षे फा० शु० १० बिम्बस्थापनं

१ 'मि' इति विद्यते, D प्रतौ ।

सं० १२०४ माघ शु० १३ कलशध्वजारोपः । श्रीदेवसूरिप्रहितात्मीयशिष्यश्रीमुनिचन्द्रसूरिभिः श्रीगुरुपादैः प्रतिष्ठितः [प्रतिष्ठापितः] प्रासादः ।

तत्र फलवर्धिपार्श्वे अजमेरनागपुरादिश्राद्धा गोष्ठिकाश्चिन्ताकारा जाताः । तत्र प्रासादेऽधुनाऽप्येका प्रतिमा पूज्यते । द्वितीयां प्रतिमां न सहते पार्श्वदेवः ।

इति प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्पः ॥६४॥

[65] अथान्तरिक्षपार्श्वकल्पः ।

स्नात्रजलैस्तैलैरिव, साम्प्रतमपि यस्य दीप्यते दीपः ।
स श्रीमदन्तरिक्ष–श्रीपार्श्वः श्रीपुरे जयति ॥१॥

रावणराज्यसमये पुष्पवटुकेन स्वस्वामिमालिविद्याधर पूजाकृते भविष्यत् श्रीपार्श्वप्रतिमा वालुकामयी विद्यया कृताऽग्रतश्चलिते च सरसि क्षिप्ता प्रतिमा सा च देवसान्निध्यादखण्डितरूपा चिङ्गउलिकदेश चिगल्लकपुराधिपतिश्रीपालराज्ञा[राजेन] समुत्पन्नासाध्यकुष्ठेन तस्मिन्सरसि स्नानं कृतं । तस्याः प्रतिमायाः पार्श्वराज्ञः [राजस्य] कुष्ठं गतं । सुमहोत्सवं राजा गृहे समायातः । राज्या पृष्टं कुतो रोगोऽगमत् ।

राज्ञोक्तम्—अस्मिन्सरसि स्नात्रकरणात् ।

राज्योक्तम्—अत्र कोऽपि देवोऽस्ति, मध्ये वलिः कृतः अम्बया प्रत्यक्षीभूयोक्तं विम्बनिष्पत्तिस्वरूपं च, ततश्चोक्तम्—

सप्तदिनजाततर्णकादिरथं कृत्वाऽत्रागन्तव्यं । ततो मया बिम्बसर्पणीयं तथाकृते देव्योक्तम्—भवता पश्चान्न विलोकनीयं, प्रतिमा पश्चादायाति नवेति विकल्पादकस्मात् राज्ञा पश्चाद्विलोकितम् । अन्तरिक्षे स्थिता प्रतिमा । तत्रैव श्रीपुरं वासितं । प्रतिमानयनसमयेऽम्बाया व्यग्राया समागच्छन्त्या एकः सुतो विस्मृतः, तस्यानयनाय क्षेत्रपाय प्रोक्तम्, तेनापि विस्मारितः, ततोऽम्बया रोषेण स सिरसि दण्डेन हतः, सोऽद्यापि क्षेत्रपशिरसि दृश्यते, ततो देवस्नात्रोदकेन सिक्तो दीपो वर्धते, दीप्यते देवस्नात्रजलेन, रोगा उपशमं गच्छन्ति । इति अन्तरिक्षपार्श्वकल्पः ॥६५॥

[66] टीडासम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिन्नगरे टीडाह्वो ज्योतिष्कोऽस्ति । एकदा टीडेन रात्रौ मण्डकाः क्रियमाणा रात्रौ छन्नं सुप्तेन गणिताः । प्रातस्तत्रैत्य मण्डकप्रमाणं प्रोक्तं, ततो ज्योतिष्कोऽपि ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कुम्भकारस्य गर्दभो गतः । तेन धनं दत्त्वा पृष्टं—मम गर्दभः कदा लप्स्यते ? बुधोऽवग्—लभ्यते, रात्रौ गर्दभस्थितिं वीक्ष्य प्रातर्जगौ ।

अतीव ख्यातिरभूत्तस्य । कस्यचिद्धारो गतस्तेन बुधः पृष्टः । बुधेन मुद्रिकादासी हार गृहीता [ग्रहीत्री] ज्ञाता, ततो लग्नं मण्डयित्वा हारो वालितः । ततो राज्ञा टीडमञ्जलिमध्ये कृत्वा प्रोक्तम्—किं मम हस्तमध्येऽस्ति ? टीडोऽबुधो यदा न जानाति तदा राज्ञा धृतः प्राह स्वं स्वरूपमिति—

सूतइं सूतइं मांडा गण्या, राति भमंतइं गादह लाध ।
मुद्रडीइं इह हारज गलिओ; ह्वडां टीडो जोसी ग्रहीओ ॥१॥

ततः राजा चमत्कृतो राजा बुधं तं बहुधनदानेन सन्मानयामास बुधोऽवग्—भूपाद्य-प्रभृति मया यथा तथा न वक्तव्यम् । इति टीडासम्बन्धकथा ॥६६॥

[67] "गरुआ सहजिइं" गाथा सम्बन्धः ।

गरुआ सहजिइं गुणकरइं, कंतमकारणजाजाणि ।
करसणसींचइं सरभरइं, मेघ न मागइं दाणु ॥१॥

तथाहि—कस्मिँश्चिन्नगरे धनदत्ताभिधो वणिग्वसति स्म । तस्य गृहे कश्चित्प्राघूर्णक आगतः । अस्य भोजनं देयमित्यभिधाय श्रेष्ठी हट्टे गतः । स प्राघूर्णकः स स्वादु रसवत्या प्रीणितस्तया, तेन प्राघूर्णकेन पत्राणि अडागराणि भक्षितानि । कानिचिन्निर्विकल्प्य भगिनीत्यभिधाय तस्यै अर्प्पितानि । ततो धनदत्तो गृहे आगतः तानि पत्राणि पत्यै अर्पितानि तया [तदा] तेन चिन्तितमहो असदृशमेतत्, ततस्तया मनोगतं भावं तस्य पत्युरवगत्याभिहितं—"गरुआ सहजि" इमां गाथां पूर्णां प्रोक्त्वा [प्रोच्य] तस्य निर्विकारप्राघूर्णकाऽर्पितपत्रसम्बन्धं प्राह पत्नी—भो पते ? त्वया किमपि अलीकं न चिन्त्यं, पत्राणि भक्षय, ततस्तेन पत्न्योक्तं कृतम् ।

इति 'गरुआ सहजिइं' गाथासम्बन्धः ॥६७॥

[68] कूपकम्बलिकापातकसम्बन्धः ।

व्ययंन्ति केचिन्मनुजा धनं मुधा–विमृश्य कार्यैकपरा जडाशयाः ।
स कूपवाहा इव कूपकम्बली–प्रघातकान्मानवतोऽतिधूर्त्तकान् ॥१॥

तथाहि—कस्मिंचिन्नगरे बहवः कूपवाहका गोधूमान् वयन्ते स्म । अत्रावसरे कश्चित्-पथिकस्तस्मिन्मार्गे समागात्, तेन जलयन्त्रघट्या जलं पीत्वा प्रोचे भो कूपवाहकाः! कः कूपमध्ये एता जलघटीर्जलैः पूरयति ? ततस्तैः कूपवाहकैः प्रोक्तं हसद्भिः—भवत्पिता घटीर्भरति । पथिकोऽवग्—यदि मम पिता घटीर्भरति तन्न शीतं लगन्[द्] भावि । ततस्ते प्रोचुरतो निजपितुः शीत-रक्षायैका कम्बलिका[किं] न दीयते ? ततः प्राह तर्हि इयं कम्बलिका कूपे मया शीतरक्षायै क्षिप्यमाणाऽस्ति, एवं प्रोच्य कम्बलिकां क्षिप्त्वा गतः । ततो यदा गोधूमा निष्पन्नाः तदा ते विभागीकर्त्तुं लग्नाः । ततः पथिकः प्राह—मम पित्रा कूपाज्जलं कर्षितमस्ति ममापि भागः कर्त्तव्योऽतः, ततो विवादं कृत्वा राजकूले स्वं भागं याचते स्म । तदा सर्वैरप्युक्तं—कूपे कम्बलिका तेन क्षिप्ता, अतोऽस्यापि गोधूमभागो दीयतां । ततः सोऽपि गोधूमभागं प्राप ।

इति कूपकम्बलिकापातकसम्बन्धः ॥६८॥

[69] मनोनियन्त्रणे तापससम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे चन्द्रोभूपो राज्यं करोति स्म । तत्र पुराद्बहिरेकस्तापसस्तपस्तपन् नारीमुखं न वीक्षते कदाचित् । यदा चतुःपञ्चाष्टाद्युपवासे पारणकं समायाति । लोकैरभ्यर्थितो लोकगृहे पृथक् पृथक्पारणकं चक्रे । एकदा स भूपेन पारणकायाभ्यर्थितः भूपगृहे पारणकं कर्त्तुं गतः। भूपेन भक्तिः कृता वर्याहारदानात्, ततो राज्ञा बहुमानतो वर्यसुखासनारूढः स्वस्थानकं प्रति चचाल राजमार्गे । इतोऽकस्मात्तस्य कामलतापण्यस्त्री संमुखा मिलिता, तापसो नेत्रे निमीलयामास। ततस्तया तस्य शीर्षे दृढं दशार्द्धपूजा कृता । ततः स सद्यः पश्चाद्वलितो, राज्ञो ज्ञापितं वेश्या ऽवहीलनस्वरूपम्, ततो वेश्या साऽऽकारिता राज्ञा पृष्टा च । त्वया कथमेष ऋषिर्दशार्द्धपूजया पूजितः । सा प्राहाऽयमेव पृच्छयतां । ततः स पृष्टः प्राह—मयाऽस्याः संमुखाऽऽगताया नेत्रे निमीलिते । ततस्तयोक्तम्—

आंखि म मींचिसि मिंचि मन, नयनि निहाली जोइ ।
जइ मन मींचिसि आपणउं, अवर न बीजी कोइ ॥१॥

मनो यदि नियन्त्रितं तदा नेत्रे अपि वशीकृते यतः—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।
अत एव मनो बाढं, नियन्त्रणीयमन्वहम् ॥२॥

ततः स तापसो मनो नियन्त्र्य मृत्वा स्वर्गे गतः ।

इति मनोनियन्त्रणे तापससम्बन्धः ॥६९॥

[70] सुसंगतिकुसंगतौ हस्तिसम्बन्धः ।

पद्मपुरे भूपस्य हस्ती सहस्रयोधी सदा साधुशालायाः समीपे बध्यते । स च साधोः शान्तदान्तत्वादि दृष्ट्वा शान्तोऽजनि । ततो वैरिणो भूपहस्तिनं शान्तं ज्ञात्वा राज्यं ग्रहीतुं वाञ्छन्ति । क्रमाद् मन्त्रिणा श्रुतं, राज्ञो ज्ञापितं च ततो भूपेनोक्तं—सर्वत्र मन्त्रि[मन्त्री]बुद्धया राज्यरक्षां करोति । ततो मन्त्रिणा स एव हस्ती शौनिकशालायाः समीपे बद्धः । ततस्तेषां कर्म्म दृष्ट्वा हस्ती युद्धाय सज्जो भवति स्म । इति सुसंगतिकुसंगतौ[त्योः] हस्तिसम्बन्धः ॥७०॥

[71] यादृग्भूपमनस्तादृग्लोकमनःप्रबन्धः ।

एकदा विक्रमादित्यो भट्टमात्रयुतो बहिरुद्याने गतः ।

विक्रमार्क प्राह—मम मनो गच्छतां कार्पटिकानां मारणेऽस्ति ।

भट्टोऽवग्—तर्हि तेषामपि तव मारणे समस्त्यधुना ।

ततो मन्त्रिणाऽग्रे भूत्वा तेषां पुरः प्रोक्तं—विक्रमार्को मृतः, ततस्तैः प्रोक्तं—तर्हि वयं जातम् । अद्यास्माकं दारूणि महार्घ्याणि भविष्यन्ति । तेऽग्रे गताः । ततः राज्ञो जल्पितं— तेषां ज्ञापितं, ततो राज्ञोक्तम्—आगच्छन्त्य एता आभीर्यो भोज्यन्ते परिधाप्यन्ते ।

भट्टमात्रोऽवग्—एतासां मनो वयं भविष्यति ।

ततस्तासामग्रे भट्टमात्रेणोक्तं—विक्रमार्को मृतः ।

ततस्ताभिर्झटित्येव दध्यादिभाजनानि भग्नानि प्रोक्तं—हा विक्रमार्क ! सत्यवादक ! सात्त्विक ! न्यायप्रवर्त्तक ! सर्वजीवसुखकारक ! किं मृतः । ततस्ता भूमौ लोठं लोठं रुदन्ति ततस्तासामीदृशं चेष्टितं राज्ञा प्रकटीभूय बहुधनदानान्मानितास्ताः ।

इति यादृग्भूपनस्तादृग्लोकमनःप्रबन्धः ॥७१॥

[72] दानपरीक्षायां कर्ण-युधिष्ठिरसम्बन्धः ।

युधिष्ठिरराजो दानं ददानः केनापि न चाल्यते ।

कर्णभूमिपतिर्दत्ते, दानमभ्यर्थिते सदा ।
युधिष्ठिरस्तु पूर्वाह्ने, नापराह्ने कदाचन ॥१॥

इति श्रुत्वा द्वौ देवौ धार्मिकरूपं विधाय नृपगृहद्वारे गतौ, तदा दानं दत्त्वा राजा सुप्तः । प्रतीहारेण साधर्मिकागमनं ज्ञापितं राज्ञः । युधिष्ठिरेण ज्ञापितं—सदावसरो न भवति दानदाने ।

ततस्तौ कर्णभूपगृहद्वारे गतौ, प्रतीहारेण तयोरागमनं ज्ञापितं, ततः कर्णः स्नानार्थमुपविष्टः खलिखरण्टितदेहः प्राह—प्रेष्येतां तौ, दानं दास्यते यतः—

चलं चित्तं चलं वित्तं, चलं जीवितमावयोः ।
विलम्बो नैव कर्त्तव्यो, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥२॥

कर्णस्यैतद्वचः श्रुत्वा तौ देवौ प्रकटीभूय प्रोचतुः—अधुना तव तुल्यो दानी भुवि न विद्यते । इति दानपरीक्षायां कर्णयुधिष्ठिरसम्बन्धः ॥७२॥

[73] अथ बुद्धौ अन्यायपत्तनगतश्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ।

तामलिप्तिपुरात्पुत्रस्य विदेशे व्यवसायार्थं गच्छतस्तातेनेति शिक्षा दत्ता—अन्यायपुरपत्तने न गम्यम् [गन्तव्यम्] । तत्र च अन्यायो नृपः, अविचारको मन्त्री, सर्वग्राह्यारक्षकः, अशान्तिनामा पुरोहितः, गृहीतभक्षः श्रेष्ठी, मूलनाशः तत्सुतः, यमघण्टा कुट्टिनी, रणघण्टा तत्पुत्री, अन्ये द्यूतकारा बहवस्तत्र । धूर्त्त सर्वलोकः ।

ततः पितुः शिक्षामादाय चलन् दैवादनीतिपत्तने गतः । प्रथमं तत्र चत्वारो मीलिताः श्रेष्ठिनः, तैरुक्तं—व्यवसायकरणमिह दुःशकं, क्रयाणकमस्मभ्यं देहि, चलिता यन्मार्गयिष्यसि तदा वस्तुना तव यानं भरिष्यते । ततस्तेन सर्वं वस्तु तेभ्यो दत्तं, साक्षिणः कृताः, ततः स पुरमध्ये चचाल, वर्त्मनि एको धूर्त्तो वर्ये चाखडिके प्राभृतीकृत्य प्राह—यदा त्वं चलतः पुरात् तदा मां हृष्टं कुर्याः । ततोऽग्रत एकधूर्त्तः सहस्रटङ्ककान् मम पित्रा नेत्रं ग्रहणके तव पितुः पार्श्वे मुक्तमस्ति तच्चलतार्प्पणीयम् । ततः श्रेष्ठिसूः प्राह—अग्रे सर्वं वर्यं भविष्यति । ततः स श्रेष्ठिपुत्रः पुर्याः शोभां विलोक्य वेश्यापुत्र्या गृहे गतः । तत्र स्थितः, तया समं प्रीतिर्जाताऽत्यन्तं, ततस्तेन स्ववस्तुविक्रयादिस्वरूपं तस्याः पुरः प्रोक्तं, तयोक्तं—वर्यं न कृतं, तथापि तथा करिष्ये यथा ते सुखं भविष्यति । ततः सखीवेषं कारयित्वा रणघण्टाया मातुर्गृहे तं साऽनैषीत् । तदा रात्रौ

ते चत्वारः श्रेष्ठिनः समेत्य पप्रच्छुः । अस्माभिरेकस्मान्नराद्वस्तु गृहीतमस्ति तस्याग्रे प्रोक्तमस्ति-यदा त्वं चलिष्यसे तदा यानं भृत्वा दास्यते । वेश्याऽवग्—कदाचिन्मशकैर्यानं भृतं मार्गयिष्यति तदा किं क्रियते भवद्भिः । ते प्रोचुरेवं बुद्धिः स्तस्य कुतः ।

तत उपानद्दाता धूर्त्तः समागतः, तेनाप्युक्तं—मया तस्यैव चाखड्यौ दत्ते प्रोक्तं—हृष्टं मां कुर्याः, अहं तु हृष्टो न भविष्यामि, ततस्तस्य वस्तु ग्रहीष्यते । वेश्याऽवग्-यदि स त्वां भूपपार्श्वे नीत्वा वदिष्यसि—राज्ञः सुतो जातः, त्वं हृष्टोऽथ न तदा किमु ।

तत एको धूर्त्तः पुनरागतः प्राह—मया सहस्रटङ्ककान् दत्त्वा तस्य श्रेष्ठिसूनोः प्रोक्तं-मम पित्रा तव पितुर्गृहे चक्षुर्ग्रहणके मुक्तं तच्चलता दातव्यम । यदा चलिष्यति स तदा चक्षुर्मार्गयिष्यामि ।

वेश्याऽवग्—वयं न कृतं कदाचित् स गदिष्यति अस्मत्पितुः पार्श्वे बहूनां जनानां नेत्राणि ग्रहणके सन्ति, तेन त्वं स्वं चक्षुस्तुलायां मुञ्च, ततस्तेन द्वितीयचक्षुपा समं तोलयित्वा दास्यामि ततस्त्वं हारयिष्यसि ।

एवं प्रोच्य सर्वे स्वस्थानं गताः । एतत् श्रुत्वा चलनावसरे मशक राजपुत्रजन्म-चक्षुस्तोलनयुक्तिभिः साधिकां श्रियं तेभ्यो ललौ । इति बुद्धौ अन्यायपत्तनगतश्रेष्टिपुत्रसम्बन्धः ॥७३॥

[74] निर्घृणत्वे वैद्यसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे द्वौ भ्रातरौ वैद्यौ वैद्यकशास्त्रकुशलौ लोकान् चिकित्सयन्तौ लक्ष्मीमर्जयतः स्म । एकदा वृद्धभ्राता कस्मिंश्चिद्ग्रामे गतः । तत्र कमपि पुरुषं चिकित्सयित्वा धनमादाय पश्चादागच्छन् स्वपुरसमीपे समागात्, तत्र चितां प्रज्वलन्तीं दृष्ट्वा तु दध्यौ । अहं ग्रामे ऽन्यत्रागममेकः कोऽपि मृतोऽत्र तस्य चिता ज्वलन्ती दृश्यते । मम भ्रात्रा अस्य नाडिं विलोक्य किमपि धनं गृहीतं न वेति । ततो वैद्यो दध्यौ—

साम्प्रतं दृश्यतेऽत्रैव, प्रज्वलन्ती चिता किल ।
ग्राममागामहं मे तु भ्रातुः किं चरितं नवा ॥१॥
चितां प्रज्वलितां दृष्ट्वा, वैद्यो विस्मयमागतः ।
नाहं गतो मम भ्रातुः, कस्येदं हस्तलाघवम् ॥२॥

इति निर्घृणत्वे वैद्यसम्बन्धः ॥७४॥

[75] ताजिकग्रन्थविरचनसम्बन्धः ।

एकदा गूर्जरधरित्र्यां मुद्गलाः बहवः खरशानतः समागताः । तैर्गूर्जरधरित्रीमनुजा धृताः । तेषु मध्ये एको विद्वान् आचार्यो धृतः । स च नीतः खरसाणे स च तत्रस्थस्तेषां मुद्गलानां भाषां स्तोकदिनैर्जज्ञौ । एकदा यस्य मुद्गलस्य गृहे तिष्ठति स्म । स मुद्गलो वैरिग्रामं लुण्टितुं गतः ।

इतो मध्याह्नसमये तस्य मुद्गलस्य माता पदच्छायामवित्वा विलोक्य क्षणमूर्ध्वस्थिता उदरं कुट्टयन्ती रोदितुं लग्ना । हा पुत्र ! कथं हतः ? किं करोमि त्वया विनाऽहम्, तवाऽऽधारे

इदं कुटुम्बमासीत्, इत्यादि विलप्य विलप्य रुदतीं श्वश्रूं दृष्ट्वा पुत्रवधूः पटच्छायां विलोक्य हृष्टमनाः श्वश्रूं प्रति प्राह—मातर्मा रोदनं कुरु, तव पुत्रः कुशल्यस्ति। एकः शरो मस्तके लग्नोऽस्त्येकः पादे, एको वामहस्ते च. क्षेमेण सन्ध्यायां समेष्यति, ततः श्वश्रूर्वध्वा रुदती रक्षिता। सन्ध्यायां यादृशं वध्वा प्रोक्तं तादृशं तेनाचार्येण दृष्टं। ततो द्वयो—एते द्वे अपि कुशलिनी[न्यौ], परं वधूस्तु (श्वश्रा) अप्यधिका। ततस्तेन सूरिणा तत्रस्थेन यवनिकं शास्त्रं पठित्वा ताजिको ग्रन्थो नवीनो बद्धः। ततः सोऽत्र गूर्जरधरित्र्यां सूरिणा नीतः। सूरिस्तु ततस्तत्क्षणमत्रागतः, ग्रन्थस्ततो निराम्नायोऽभवत्। तस्मिन ग्रन्थे अतीतानागत—भाविभूतादिसर्वं प्रोक्तमस्ति परं तादृग्बुद्धिं विना सम्यग् न ज्ञायते। स चाधुनाऽत्र विद्यते। इति ताजिकग्रन्थनिश्चनसम्बन्धः ॥७५॥

[76] मकरवानरसम्बन्धः ।

एकदा पुष्पाकरवनादेको वचनप्रियो वानरः कदाचिद् भ्रमन् वने वने फलाहारं कुर्वन् समुद्रतटे गतः। तत्रैकं समुद्रमर्यादाजलान्तर्लुठन्तं मकरं वीक्ष्य वानरः प्राह—मित्र! किं जीवितनिर्विण्णोऽसि त्वं यदत्र व्याधभूमौ समागाः? ततो मकरोऽवग्—

यस्य यद्विहितं स्थानं, यस्य यद्धेतवे कृतम् ।
तत्रैव रमते चित्तं, तत्र नान्यत्र वानर ! ॥१॥

उक्तं च—सर्वस्वर्णमयी लङ्का, न मे लक्ष्मण ! रोचते ।
पितृपर्यागतायोध्या, निर्धनापि सुखावहा ॥२॥

किंच—जणणी[1] जम्मुप्पत्ती,[2] पियसंगो[3] जीवियं[4] धणासा य[5] ।
पच्छिमनिद्दा[6] वरकामिणी,[7] पंचवि [सत्तवि] दुक्खेण मुच्यंते ॥३॥

अद्याहं सफलजन्माऽभूवं तव दर्शनेन, उक्तं च—
साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः ।
तीर्थं पुनाति कालेन, सद्यः साधुसमागमः ॥४॥

तस्मादत्र भवान् स्थलोत्पन्नः समागतः। भवादृशां गोष्ठ्यपि दुर्लभा। ततो वानरः प्राह—हे मकर ! अद्यप्रभृति त्वं मे प्राणाधिकमित्रं वर्तसे, मित्रस्य पुरः स्वसुखं दुःखं च प्रोच्य प्रायः सुखी जनो भवति। उक्तं च—

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना, न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां सन्नतगात्रिसंगतं, मनीपिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥५॥

ततो मिथो वानरमकरयोः प्रीतिरजनि। वानरो वर्यफलानि मकराय विश्राणयति, मकरश्च निजपत्न्यै दत्ते, साऽपि फलाऽऽनयनसम्बन्धं पप्रच्छ। ततस्तेन वानरमित्रसम्बन्धः प्रोक्तः। ततः सा सगर्भा मकरी चिन्तयामास। यो वानरो नित्यमीदृशानि फलानि सुस्वादूनि भक्षयति तस्य हृदयं पीनमतीव मृष्टं मांसममृतोपमं भवति, ध्यात्वेति पतिं प्रति मकरी प्राह—मम गर्भानुभावात् तव मित्रवानरहृदयभक्षणदोहदो जातोऽस्ति। तं दोहदपूरणं विना मम प्राणा गमिष्यन्ति।

ततो दयिताकदाग्रहं मत्वा सोऽन्यदा वानरं प्रत्यवग्-मित्र ! त्वदीयभ्रातृजाया त्वामाकारयति, तत्र तव भक्तिं करिष्यति। ततः स वानरो भ्रातृजायामिलनार्थं मकरपृष्ठिमारूढः कियन्तीं वेलामतिक्रान्ता* । ततः कपिः प्राह—मया तत्रगतेन किं कर्त्तव्यं ? तव पत्नी मम कीदृशीं भक्तिं करिष्यति । तदहो मकरो दध्यौ—मया तु बहुजले समानीतोऽत्र । इदं जलमुत्तीर्य पश्चाद्‌गन्तुं मया विना न शक्नोति । अतः सत्यमेव वच्मि । ततः पत्न्या दोहदस्वरूपं प्रोक्तं तेन वानराग्रे । ततो वानरो दध्यौ-तत्र यदि गतोऽहं तदा मृत एव, अतो बुद्धिर्विधीयते मया । ततोऽवग्वानरः-मित्र ! मां त्वं तत्र नयन्नसि परं भ्रातृजयामनोरथ एवं पूर्णो न भावी। मकरोऽवग्-किमिदं वदसि ? वानरोऽवग्—मम वटे चित्तं विद्यते । हृदयं तूदम्बरे वृक्षे समस्ति, तेन गृहीत्वा यदि गम्यते तदा भ्रातृजायामनोरथः सफलो भवति । ततो मकरः पश्चाद्वलितः अब्धितटे समागात्। ततो वानरो तत्पृष्ठित उत्तीर्य वृक्षमारूढः प्राह-मित्र गच्छ, पश्चात् मैत्र्याः श्रितं [स्थिति] मम भ्रातृजाया अग्रे प्रोक्तव्यं-वानरो वटाच्चित्तमुदुम्बरात् हृदयं मुक्तं लातुं गतोऽस्ति । अहं तु त्वया सह मैत्रीं न करिष्येऽतः परं, यतः—

जलजन्तुचरैर्नित्यं, जलमार्गानुसारिभिः ।
स्थलजैः संगतिर्न स्याद्-ब्रुवन्ति मुनयो ध्रुवम् ॥६॥

इति वटचित्तमुदुम्बरिहृदयम् । इति मकरवानरसम्बन्धः ॥७६॥

[77] सत्पात्रदानसम्बन्धः ।

दानं धर्मेषु रोचिष्णु, तच्च पात्रे प्रतिष्ठितम् ।
मौक्तिकं जायते स्वाति-वारि शुक्तिगतं यथा ॥१॥
केसिं च होइ वित्तं, चित्तं केसिं पि, उभयमन्नेसिं ।
वित्तं चित्तं पत्तं, तिन्नि पुण्णेहिं लब्भंति ॥२॥

कश्चिद्राजा दानपराङ्मुखोऽन्यदा महाटव्यां गतः। सपरिवारोऽटवीं पश्यन् भूपो मधूकाभिधस्य[वृक्षस्य]अधस्तात् स्थितः, स मधूको वृक्षस्तदा बिन्दून् मुञ्चति । राज्ञोक्तं—भो पण्डित ! अयं मधूकः कथं रटति ? तदैकेन पण्डितेन भूपप्रतिबोधायेति प्रोक्तं—

यदास्ति पात्रं न तदास्ति वित्तं, यदास्ति वित्तं न तदास्ति पात्रम् ।
एवं हि चिंतापतितो मधूको मन्येऽश्रुपातै रुदनं करोति ॥३॥

श्रुत्वैतद्भूपः सत्पात्रदानपरोऽभूत् । इति सत्पात्रदानसम्बन्धः ॥७७॥

[78] दाने सुदर्शनश्रेष्ठिकथा ।

चम्पापुर्यां जिनदासश्रेष्ठी, तस्य गृहे महिषीपालः सुभगनामा बभूव । स च सदा महिषीं चारयितुं वने याति । एकदा शीतकाले वनमध्ये कायोत्सर्गस्थितं यतिं दृष्ट्वा दयापरो

* 'न्तो' इति शुद्धं दृश्यते । अथवा-न्तः । अथवा 'कियन्ती वेलाऽतिक्रान्ता'।

महिषीपालस्तस्य साधोरुपरि शीतरक्षानिमित्तमेकं कम्बलं ददौ। तत्पुण्येन क्रमात्तस्य श्रेष्ठिनः सुदर्शननामा पुत्रोऽभूत्। स च क्रमात्पुरोहितपत्नीकपिलयाअभयाराज्ञ्या चाक्षोभितः सन् ताभ्यां छलाच्छूलायां क्षेपितः। शीलमाहात्म्यात्सा शूली स्वर्णमयं सिंहासनमभूत्। इत्यादिसम्बन्धः स्वयमेव ज्ञातव्यः। इति दाने सुदर्शनश्रेष्ठिकथा ॥७८॥

[79] दाने कृष्णकथा ।

मिथ्यादृष्टिसहस्रेषु, वरमेको ह्यणुव्रती ।
अणुव्रतिसहस्रेषु, वरमेको महाव्रती ॥१॥
महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तीर्थकृत् ।
जिनाधिपसमं पात्रं, न भूतं न भविष्यति ॥२॥

एकदा मथुरायां नगर्यां नन्दगोकुलेन स्वपुत्रो नारायणो वनं भ्रान्त्वा समागतः पृष्ट इति भो वत्स ! त्वया भोजनं कृतं नवेति ? तदा नारायणेनोक्तं—

स्वच्छन्दतः स्वभवने स्वयमर्जितान्नं, कान्ताकराग्रपतितं यतिदत्तशेषम् ।
ये भुञ्जते सुरपितॄनपि तर्प्पयित्वा, ते भुक्तवन्त इह, तेन, मया न भुक्तम् ॥३॥

यतः—पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ ।
असईसुविहियाणं, भुंजेई कयदिमालोओ ॥४॥

इति दाने कृष्णकथा ॥७९॥

[80] दाने कुरुक्षेत्रब्राह्मणादिकथा ।

कुरुक्षेत्र ब्राह्मणः, ब्राह्मणी, तत्पुत्रश्च एते त्रयः प्रीतिपरास्तिष्ठन्ति। एकदा स्वगृहागताभ्यां साधुभ्यां स्वस्वभागसक्तुमध्याद्भावात्सक्तवस्तैर्दत्ताः। तद्दानपुण्येन तस्मिन्नेव भावभूरिस्वर्णकोटिवृष्टिरभ्येत्य सुरैः प्रशंसा कृता तेषां च ततस्तेन पुण्येन मुक्तिमपि गमिष्यन्ति ।

इति दाने कुरुक्षेत्रब्राह्मणादिकथा ॥८०॥

[81] प्रतिक्रमणक्षमाविषये युधिष्ठिरकथा ।

एकदा युधिष्ठिरभूपो द्यूतहारितराज्यः भीमादिभ्रातृयुतो वनं प्रति चचाल। कस्मिंश्चिद्वने सन्धा[न्ध्यायां] तरोरधस्तस्थौ। तदानीं सामायिकं गृहीत्वा प्रतिकर्म[प्रतिक्रमण] कृत्यं कृत्वा स्मृतपञ्चनमस्कारो यावत्स्वपिति तावद्भीमोऽवग्—वने उपसर्गा उत्पद्यन्ते, रात्रौ तु विशेषतो भयं स्यात्तेनाऽहमादौ प्रथमयामे जागर्मि। भीमस्य जाग्रतः कलिनामा राक्षसस्तत्रागाद्भीमं क्षोभयितुं तदा मिथो द्वाभ्यां युद्धं वाढं कृतं न कस्यापि जयविजयौ भवतः स्म। मिथः खिन्नौ तौ पृथक्पृथक्स्थितो भीमस्तु सुप्तः। ततो द्वितीयप्रहरे अर्जुनो जागर्त्ति, तत्रापि भीमवद्युद्धमर्जुनेन तेन समं युद्धं कृतं ततो मिथस्तौ खिन्नौ पृथक्स्थितौ। तृतीयप्रहरे तथैव सहदेवनकुलौ तेन समं युद्धं

चक्रतुः। चतुर्थप्रहरे युधिष्ठिरराजः स्वयमेवोत्थाय सामायिकं लात्वा नमस्कारान् गणयन् तस्थौ, यावत्प्रतिकर्म[प्रतिक्रमण]कर्तुकामो धर्मध्यानपरोऽभूत् तावदितः सोऽपि असुरः कलिः सप्तताल-प्रमाणं वस्तु [वपु] कृत्वोपसर्गयितुं लग्नः। एवं पट्पञ्चचतुस्त्रिद्विप्रभृतिहीनहीनतरव्याघ्रादिरूपाणि कृत्वा युधिष्ठिरं ध्यानाच्चालयितुं लग्नः। युधिष्ठिरस्तु प्रतिक्रमणं कुर्वन् सर्वथा मुक्तवैरः सन् स्थितः। तदा तेन [शरीरं] कृष्णक्रमुकप्रमाणं कृतं यावत् तावद्युधिष्ठिरेण वर्तुलकेन स्थगितः सः प्रातर्भीमादीन् सर्वान् भ्रातॄन् सुप्तान् दुःखेनोत्थाप्य युधिष्ठिरः पप्रच्छ—भो भ्रातरः! कथमेवं सुप्ता यूयं? तदा तैः स्वं स्वं रात्रिवृत्तान्तमुक्तं। तदा युधिष्ठिरोऽवग्—सोऽसुरोऽत्रास्ति यावद्वर्तुलकं पश्चात्करोति तावत् स कल्यसुरः सन्तुष्टः स्वरूपं प्रकटीकृत्य युधिष्ठिरं तुष्टावेति—

धन्यस्त्वं पुण्यवान्भाग्यात् सौभाग्यसरलाशयः।
विद्यसे धरणीपीठे, जगद्वन्द्यक्रमाम्बुजः ॥१॥

कल्यसुरोऽवग्—एवं यः क्षमां करोति स कलावपि स्वं कार्यं करोति मुक्तिभोग्यं सात्-मर्जयति च। ततो युधिष्ठिरोऽपि प्रतिकर्म[प्रतिक्रमणं] कृत्वा सामायिकं पारयित्वाऽवग्—भो असुर! मया तव योऽपराधः कृतः स क्षम्यतां त्वया। एवं मिथस्तौ क्षमयांचक्रतुः।

इति प्रतिक्रमणक्षमाविषये युधिष्ठिरकथा ॥८१॥

[82] अथ कर्णकद्विजकल्पितसम्बन्धः।

कर्णः स्वर्णदानं भूरि दत्त्वा स्वर्गे गतः। तत्र स्वर्णमेव पश्यति, नान्यत्। ततः पृष्टो गुरु प्राह—न त्वयाऽन्नादिदानं दत्तं, तेन हेम पश्यन्नभूत्। ततो दातुं चन्द्रपुरे शृगालः श्रेष्ठी बभूव। तत्रान्नं दत्त्वा जिमते एकदा कोऽपि नायातः तदा खिन्नः श्रेष्ठी। कोऽपि देवश्चालयितुं योगिरूपभृत् अन्नं लातुमागतः, श्रेष्ठी भोजनं दातुमुत्थितः। सोऽवग्—नाहमन्नं गृह्णामि, किन्तु तव पुत्रमांसं। ततः पुत्रं हत्वा तन्मांसं ददौ। ततः श्रेष्ठी जगौ मां स्वर्गं नय। स देवरूपभृत् तव पुत्रं विना नाहं स्वर्गं दातुं क्षमः। ततः खिन्ने श्रेष्ठिनि देवेन पुत्रः प्रकटीकृतः ततो विशे-षतोऽन्नदानं ददौ। इति दाने कर्णकद्विजकल्पितसम्बन्धः ॥८२॥

[83] तीर्थे धनव्ययने दुर्गतसम्बन्धः।

मन्त्रिवाग्भट्टेन तीर्थोद्धारे विधीयमाने तदर्थद्रव्यार्थं सर्वव्यवहारिनामसु लिख्यमानेषु एकेन मारवेन—दुर्गतेन यात्रागतेन स्वसर्वस्वं द्रम्मपञ्चकं पुण्यार्थं मन्त्रिणोऽर्पितं। मन्त्रिणा तन्नामनि धुरि लिखिते व्यवहारिणो रुष्टाः। तान् रुष्टान् दृष्ट्वा वाग्भट्टमन्त्री जगौ, एतेन सर्वस्व-मर्पितं तथा चेद्भवद्भिरर्प्यते तदा भवतां नाम धुरि स्यादिति वचसा प्रसन्नीकृतास्ते महेभ्या उत्थाय तत्पदौ प्रणेमुः। तेन मारवेन पादलिप्तपुरे रन्धनाय चारीं यच्छता द्रम्मभृतो लोट्टको लब्धः। पारणानन्तरं मन्त्रिणोऽग्रे मुक्तः। मन्त्री तं दृष्ट्वा जगौ त्वद्भाग्येनायं भवतश्चटितस्तेन त्वमेव गृहाण। ततो मारवेन लब्धधनार्द्धं तत्र तीर्थे व्ययितम्, मन्त्रिणः सन्मानितः, स क्रमात्प्रासादो निष्पन्नस्ततः बहुधनं व्ययितं मन्त्रिणा, तथाहि—

लक्षत्रयीविरहिता द्रविणस्य कोटीस्तिस्रो विविच्य किल वाग्भटमन्त्रिराजः ।
यस्मिन् युगादिजिनमन्दिरमुद्दधार, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१॥

इति तीर्थे धनव्ययने दुर्गतसम्बन्धः ॥८३॥

[84] लूणिगवसहीति नामसम्बन्धः ।

पूर्वं धवलके लूणिग-माल[देव]-वस्तुपाल-तेजपालाः सोदरा निर्द्रव्या वसन्ति स्म । अन्यदा लूणिगस्यान्त्यावस्थायां पुण्यव्यये लक्षलक्षनमस्कारा मानिताः भ्रातृभिः । तैरुक्तं च—अपरं वस्तु याचस्व । विमलवसहिकायां देवकुलिकामनोरथोऽभूत् मे, यदि सिद्ध्यति तदा मम मनःसमाधिर्भवति । भ्रातृभिरुक्तम्—यदि श्रीः संपत्स्यते तदा कारयिष्यते । तदनु भाग्याज्जाते राजव्यापारे श्रीअर्बुदे श्रीमातावोडापार्श्वाद् भूर्द्रम्मैराच्छाद्य गृहीता। ३६ द्रम्ममूटका[आ]स्तीरिताः। तैरुक्तमतः परं न त्वं द्रम्मैः पर्वतमपि गृह्णासि ।

[सं०] १२८३ प्रासादारम्भः । १२९२ सम्पूर्णः ।

द्रव्यकोटी १२५३ लक्षलूणिगवसहिकायां व्ययिताः ।

इति लूणिगवसहीति नाम दत्तम् ॥८४॥

[85] अथ देवसूरिकान्हडयोगिसम्बन्धः ।

अन्यदा भृगुकच्छे श्रीदेवसूरिपार्श्वे कान्हडकाह्वयोगी ८४ सर्पकरण्डिकाश्चाऽऽदायागतः। मया समं वादं कुरुत, आसनं वा स्वं त्यजत यूयम् । गुरुभिरासनोपविष्टैः परितः सप्त रेखाः कृताः। उक्तं च—मयि सर्प्पान् यथारुचि मुञ्च । ततः कान्हडकेनैकोऽहिर्मुक्तः। एकां रेखामपि गुरुकृतां नाक्रमति स्म । द्वितीयो द्वितीयाम्, एवं बहवोऽहयो मुक्ताः, परं षष्ठी रेखा केनापि सर्पेण नाक्रमिता नाक्रामि वा। योगिनोक्तमेकशो [मेकैकशो] भूमावुपविशन्तु । प्रभुभिरुक्तं—किं भूमावुपविशनेन, यः सबलोऽहिस्तमहिं मुञ्च । ततश्च कान्हडेन नलिकान्तः आकृष्य [नलिकान्तराकृष्य] रक्तः सिन्दूरिकः सर्पो दृष्टिपातमात्रेण कदलीपत्रं भस्मसात्कुर्वन् मुक्तः। वाहनसर्पो रेखां न लङ्घते । इतः सिन्दूरसर्प्पेणोत्तीर्य जिह्वया रेखा भग्ना । वाहनसर्प्प उपरितनप्रेरणया आसनपादे चटितुं प्रवृत्तः। लोको हाहारवं कुरुते। गुरवो ध्यानपरायणा बभूवुः। एतस्मिन्नवसरे गुरुध्यानप्रभावादेत्य शकुनिकया सर्प्पद्वयमुत्पाद्य[त्य]दूरतरं क्षिप्तं । जितो योगी दीनवदनीभूय टोडरमुत्तार्य गुरुचरणयोः पतितः प्राह—प्रभो ! ममैतदेव सर्पद्वयमाजीविका तेन क्वास्ति तत्सर्पद्वयम् ? प्रभुभिरुक्तं नर्मदातीरे कुरुकुल्लयागत्योवाच । मास ४ [मासचतुष्टयं] संमुखवटाधिरूढया व्याख्यानं श्रुतं, तेन कथं प्रभूणां गुरूणामुपद्रवं द्रष्टुं शक्नोमीति सर्पोऽपाकृतः। गुरुभिः स्तुतिरूपं काव्यं जगदे । देव्योक्तं—इदं कोशे तिष्ठतु, न प्रकाश्यं । प्रातर्द्वारलिखितं काव्यत्रयं मत्स्तुतिरूपं यः पठिष्यति तस्य सर्पोपद्रवो न भविष्यतीति विज्ञप्य स्वस्थानं गता। कान्हडो गुरुजितः। स्वां कलां सर्वां मुक्त्वा गुरुपादसेवापरोऽभूत् ।

इति देवसूरिकान्हडयोगिसम्बन्धः ॥८५॥

[86] सुपात्रदाने कर्णभूपचारणसम्बन्धः ।

अन्येद्युः कर्णराजो दानफलं मुक्त्यादिसौख्यं श्रुत्वा प्रतिप्रभाते भारशतमितं सुवर्णं दत्त्वोत्तिष्ठति सिंहासनात् । अत्रान्तरे एकदा कर्णस्य सत्पात्रदानेच्छायां प्रातः प्रथमं चारणद्वयं श्राद्धमिथ्यात्वधर्मवासितं समागात् । तदा ध्यातं कर्णेनेति, सत्पात्राय मया पूर्वं दानं दातव्यं, सद्गतिहेतवे, यतः—

अन्नदातुरधस्तीर्थकरोऽपि कुरुते करम् ।
तच्च दानं भवेत्पात्रे, दत्तं, बहुफलं यतः ॥१॥

एवं ध्यायन् कर्णः पात्रपरीक्षापरो यावद्दानं न दत्ते तावदेकेन चारणेनोक्तं—

पत्तपरिक्खह किं करुह, दिज्जउ मग्गंताह ।
वरसंतह किमु अंबुदहं, जोइं सम-विसमाइं ॥२॥

तदा कर्णः प्राह—वरसु वरसु अंबरहत-वरसीडां फल जोइ ।
धत्तूरइ विस इक्खुरस, एवडुं अंतर होइ ॥३॥

इति सुपात्रदाने कर्णभूपचारणसम्बन्धः ।

[87] अथ संसारासारतायां कथा ।

संसारम्मि असारे, नत्थि सुहं वाहिवेअणापउरे ।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसिअं धम्मं ॥१॥

तथाहि—श्रीपुरे धनश्रेष्ठी, धनो प्रिया, चन्द्रः पुत्रः, तस्य पत्नी रूपश्रीः, चन्द्रः पत्नीमोहितः पत्न्योक्तं कुरुते । एकदा पत्न्योक्तं—मां प्रति श्वशुराद्यो यथातथा जल्पन्ति । ततः स मातापितॄन् मुक्त्वा विदेशं प्रत्यचलत् । मार्गे तृषा लग्ना पत्न्याः । सा च जल्पति स्म पयो विना मम जीवितं नास्ति । ततो जगदे तेनाग्रतश्चलत सरो यावत् । साऽवग्—अत्रानय पयः । ततस्तस्यां मोहितः स पयो नेतुं चचाल । सिंहो दृष्टः, जीवितव्यं तृणमिवावगणय्य सरसि गत्वा पयः पश्चादानीतवान्, यावत्प्रियाऽभूदचेतना । तां क्रमात्सचेतनीकृत्याग्रतश्चचाल । ततः कस्यचित्पुरोपान्ते कूपोपकण्ठे भार्यां मुक्त्वा पुरमध्ये भक्तमानेतुं गतः । तत्रस्था सा समीपकूपे एकं कुष्ठिनं पङ्गुं रागं कुर्वाणं दृष्ट्वा मोहिताऽभूत्, भर्तृविषये निःस्नेहाऽभूत् । तया पङ्गुपुरः [पङ्गोः पुरः] प्रोक्तं-त्वं मम भर्त्ता भव । तेनोक्तं-कथमेवं जल्पसि ? क्वाहं, क्व त्वं ? ततः क्षणाद्भर्त्ताऽगात् । आनीतं भक्तं त्रिधा कृत्वा एकं भागं स्वस्य, एकं पङ्गोः, एकं पत्युः कारितं तया । ततश्चलन्त्या तया स पङ्गुः सार्धं नीतः । मार्गे कदाचित्तं पुरुषमुत्पाटयति । कदाचित्सा क्रमाद्धन्तुमिच्छति,सा पतिं, क्रमात्कस्मिंश्चित्पुरे पुरपार्श्वे गत्वाऽवग् सा, ममापहृत्य यात्ययं, ततो राजाऽऽगात् । तयोक्तं-ममायं पङ्गुर्भर्त्ता, असौ मुधाजल्पकः । ततो राज्ञा निष्कासितोऽसौ चन्द्रो दध्यौ—

यस्यै निजं कुलं त्यक्तं, जीवितार्थं च हारितम् ।
सा मयि भवति निस्नेहा, कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः ॥२॥

ततो राज्ञा स्वस्वरूपं प्रोच्य संसारं तत्याज सः । इति संसारासारतायां कथा ॥८७॥

[88] अथ पुण्यसारकथानकम्

साकेतनपुरे भानुप्रभस्य भूपस्य मान्यो धनामित्राभिधः श्रेष्ठी बभूव । तस्य श्रेष्ठिनो धनमित्राभिधा प्रियाऽभूत् । साऽन्यदा रैकुम्भं स्वप्नेऽपश्यत् । क्रमात्सा पुत्रमसूत । जन्मोत्सवं कृत्वा तस्य सूनोः पुण्यसार इति नाम दत्तं पितृभ्याम् । क्रमाद्यौवनं प्राप सः । धन्यां कन्यां धर्मकर्मशास्त्रकुशलः पुण्यसारः पितृदत्तां समहं परिणिन्ये । क्रमात् पितरि स्वर्गं गते पुण्यसारस्य स्वप्ने लक्ष्मीरभ्येत्यैवमवोचत—अहं त्वद्गृहे त्वदर्जितपूर्वपुण्यादेष्यामि । पुण्यसारोऽवग्—कथमेष्यसि त्वं ? तयोक्तं—प्रातस्त्वया गृहस्य चत्वारः कोणा विलोकनीयाः । ततः प्रगे चत्वारः कुम्भा रैभृताः दृष्टाः कोणेषु पुण्यसारेण । ततोऽनर्थभिया भूपस्याग्रे गत्वा रैकुम्भागमनोदन्तं जगाद । राजा तत्रागतस्तान् रैकुम्भान् दृष्ट्वा विस्मितोऽभूत् । लोभाद्राजा तान् रैकुम्भान् स्वकोशे निनाय । द्वितीयेऽह्नि पुण्यसारस्तथैव रैकुम्भान् दृष्ट्वा भूपाग्रे जगाद । रैकुम्भस्वरूपं लोभाद्भूपस्तानपि कुम्भान् स्वगृहे नीतवान् । एवं तृतीयेऽपि दिने भूपेन रैकुम्भा गृहीताः । चतुर्थे दिने तथैव कुम्भेषु आनीतेषु भूपेन मन्त्री जगाद—कुम्भाः सर्वे गताः । न ज्ञायते केन हृताः । तदा देवतयोक्तं—भो राजन् ! पुण्यसारस्य पुण्येन । तस्य पुण्यसारस्य गृहे रैकुम्भाः मया मुक्ताः । त्वं तु मुधा गृह्णासि । ततो राजा तान् सर्वान् कुम्भान् श्रेष्ठिगृहे दृष्ट्वाऽवग्—भो श्रेष्ठिन् ! त्वं धन्योऽसि यस्येदृक्षं भाग्यं विद्यते । ततो राज्ञा सन्मानितः श्रेष्ठी गजारूढः स्वगृहे समागात् । ततो भूपस्तस्य श्रेष्ठिमुख्यतां ददौ । लोको जगौ—'लक्ष्मीः पुण्यानुगामिनी' भवति । ततः स पुण्यसारः सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं सफलीचक्रे ।

तत्र सुनन्दः केवली समागात्, भूपो नन्तुं ययौ, पुण्यसारोऽपि गतः, सर्वेऽपि उपविष्टाः धर्मं श्रोतुं । देशनान्ते धनमित्रोऽवग्—भगवन् ! मत्पुत्रेण प्राग्भवे किं पुण्यं कृतं ? सूरिरवग्—अत्रैव पुरे धनाढ्यो नरोऽभूत् । सद्गुरोः पार्श्वे धर्मं जीवदयामयं श्रुत्वा जिनधर्ममङ्गीकृत्य शुद्धां जीवदयां पपाल । दानं शुद्धं दत्ते च यतिभ्यः, क्रमाद्गुरुपार्श्वे व्रतं जग्राह । सदा सिद्धान्तपठने श्रवणे गुरुवैयावृत्ये परः प्रान्तेऽनशनेन विपद्य तृतीये स्वर्गे देवो महर्द्धिकोऽभूत् । तत्रायुः प्रपाल्य पूर्वपुण्ययोगात्तवाङ्गजोऽजनि । तदा पुण्यसारः पश्चाद्भवसम्बन्धं श्रुत्वा जातिस्मृतिं प्राप्य विशिष्य ततो महातीर्थेषु शत्रुञ्जयादिषु स्वां श्रियं व्ययति स्म । पिताऽपि धर्मं करोति स्म । क्रमान्मातापितृभिः समं पुण्यसारः संयमं जग्राह । तपस्यां शुद्धामाराध्य स्वर्गे सुरा अभूवन् । ततो मनुष्यभवं प्राप्य शिवं यास्यन्ति सर्वेऽपि । इति पुण्यसार कथानकं प्रबलपुण्यविषये ज्ञातव्यं भव्यजनैः । इति प्रबलपुण्यविषये पुण्यसारकथानकम् ॥८८॥

[89] अथ जीवदयायां चतुर्मित्राणां कथा ।

सत्थवाहसुओ दक्खत्तणेणं, सिट्ठिसुओ सुरूवेण ।
बुद्धीइ अमच्चसुओ, जीवइ पुण्णेहिं रायसुओ ॥१॥
दक्खत्तं पंचरूयं, सुंदरे सयसमं विआरिज्जा ।
बुद्धी पुण्णसहस्सा, सयसहस्साइं पुण्णाइं ॥२॥

तथाहि—अमात्यपुत्रः,[१] राज्ञः(ज)पुत्रः,[२] श्रेष्ठिपुत्रः,[३] सार्थवाहपुत्रः[४] । एते सुहृदो मिथः, राजपुत्रेणोक्तं—अहं पुण्यैर्जीविष्यामि । अमात्यपुत्रेणोक्तं बुद्ध्या । श्रेष्ठिपुत्रेणोचे—रूपेण । सार्थवाहपुत्रेणोक्तं—अहं दक्षत्वेन जीवामि । ते चत्वारो विदेशं प्रति चलिताः । कस्मिंश्चिदुद्याने स्थिताः । दक्षः सार्थवाहपुत्रः पुरमध्येऽगात् । कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो हट्टे गतः । तदा तस्य हट्टे बहुग्राहकजनः समागात् । भूरिर्लाभोऽभवत् । श्रेष्ठिना ध्यातं-अस्य दक्षत्वेन मम बहुलाभोऽभूत् । ततः श्रेष्ठी जगौ-उत्थीयतां, जिम्यते । सार्थवाहपुत्रोऽवग्—वयं चत्वारो मित्राः[मित्राणि]स्मः । एकैकं विना न जिमामः । ततः सर्वे तत्राकार्य श्रेष्ठिना जिमिताः सदन्नदानात् । पञ्चरूपकव्ययस्तत्राभूत् ।

द्वितीयदिवसे श्रेष्ठिपुत्रः रूपवान् गणिकागृहे गत्वा शतमितप्रमाणं भोजनं लब्धवान्समित्रः ।

तृतीयदिने अमात्यपुत्रः पुरमध्ये गतः । द्वयोः सपत्न्योरेकस्मिन्पुत्रे विवादोऽभूत् । केन भङ्क्तुं न शक्यते । तत्रामात्यपुत्रो जगौ द्विधाकृत्वाऽयं द्वयोर्दीयते तदा सपत्न्योक्तमेवं भवतु । मात्रोक्तं अस्या अयं भवतु । ततोऽमात्यपुत्रोऽवग्—अस्या अयं पुत्रो ज्ञातव्यः, ततः सहस्रमितै रूप्यैर्जेमनं सर्वेषामभूत् ।

चतुर्थे दिने पञ्चदिव्ययोगेन राजपुत्रो राजाऽभूत् । ततः सर्वे सुहृदः सन्मानिताः राज्ञा त्रयाणां मित्राणां मनो मानयामास । गुरवस्तत्रागताः । गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा राजा पप्रच्छ-मया किं कृतं येन राज्यमभून्मम ? सार्थवाहपुत्रश्रेष्ठिपुत्रा मात्यपुत्रैः किं कृतम् ? गुरवो जगुः—राजन् ! त्वं पूर्वभवे श्रीधनः कौटुम्बिकोऽभूत्, गुरुपार्श्वे जीवदयामयं धर्मं श्रुत्वा जीवदया शुद्धा पालिता, तेनात्र भवे राजाऽभूत् । सार्थवाहपुत्रेण प्राग्भवे गुरुभक्तिः कृता, तेनास्य दक्षत्वं जातं । श्रेष्ठिपुत्रेण जिनस्य प्रतिमा एकदोज्वालिता तेनास्य रूपसम्पदभूत् । अमात्यपुत्रेण ज्ञानवतां भक्तिः कृता तेनाऽमात्यपुत्रस्य बुद्धिर्जाताऽत्र । धर्मं श्रुत्वा सर्वेऽपि सविशेषं धर्मं कृत्वा स्वर्गं गत्वा क्रमान्मुक्तिं गमिष्यन्ति । इति जीवदयायां चतुर्मित्राणां कथा ॥८९॥

[90] अथ मल्लिकार्जुनभूपजेता श्रीआम्बडप्रबन्धः ।

पुहविकरंडे बंभंड,–संपुडे भमइ कुंडलिज्जंतु ।
तुह अंबडदेव जसो, अलद्धपसरो भुयंगव्व ॥१॥   कोडिदानं ।

अथ कदाचित् सर्वावसरे स्थितः चौलुक्यनृपतिः । तदा कोङ्कणदेशीयमल्लिकार्जुनस्य राज्ञो मागधेन 'राजपितामह' इति बिरुदं प्रोक्तं । कुमारभूपालः श्रुत्वा दध्यौ-एतस्य मल्लिकार्जुनस्य राजपितामहेति बिरुदं मयोत्तारणीयं । अन्यदा सभायां राजबीटकं हस्तेकृत्य भूपः प्राह—यस्य तस्य निग्रहणाय शक्तिरस्ति स सुभटो बीटकं गृह्णातु । श्रुत्वैतत् कोऽपि सुभटो बीटकं न गृह्णाति, तस्यातीवबलं श्रुत्वा । ततः आम्बडेन करौ योजयित्वोक्तं—स्वामिन्नादेशो दीयतां मम त्वया, त्वत्प्रसादात्तं बिरुदं तस्मादपसारयामि ततो । राजा हर्षितो बीटकं तस्य ददौ । ततो महतीं सेनामादायाम्बडमन्त्रीश्वरो भूपं प्रणम्य पत्तनाच्चलितः । ततश्चलन्मन्त्री दुस्तरवारिपूर्णां कलविणीं नदीमुत्तीर्य परस्मिन् कूले सेनानिवेशं कृतवान् । आम्बडमन्त्रिणागमनं श्रुत्वा मल्लि-

मल्लिकार्जुनभूपपराभूतः कृष्णवदनः कृष्णच्छत्रालङ्कृतमौलिः कृष्णगृ-रादिपटकुटीकः(?) पत्तनपरिसरेऽभ्येत्य स्थितः। स्वागमनं कस्यापि न ज्ञापितं तेन। इतः कुमारपालभूपेन बहिरागतेन पृष्टं कस्य ईदृशी सेना कृष्णाम्बरा? तत एकेन नरेणोक्तं—मल्लिकार्जुनभूपपराभूतस्याम्बडस्य, सेनायां लज्जया बहिःस्थितोऽस्ति। ततो राज्ञा चिन्तितं यदीदृक्षी लज्जा तस्य तदाऽनेन मल्लिकार्जुनो वशीकरिष्यते। ततस्तमाम्बडं सन्मान्य पुनः सार[स]परिवारं तं वैरिणं जेतुं भूपश्चालयामास। ततश्चलन् क्रमात्तेनैव वर्त्मना कुङ्कुणदेशे गत्वा स द्विधा सैन्यं कृत्वान्तरा मल्लिकार्जुनं क्षिप्त्वा युद्धं कर्त्तुमाम्बडः सज्जोऽभूत्। क्रमादाम्बडो युद्धं कुर्वन् हस्तिस्कन्धात्पातयित्वा जगाद-स्मरेष्टदेवतं। ततोऽपि आम्बडेन मल्लिकार्जुनशिरश्छित्त्रं, सुवर्णपात्रेण तच्छीर्षं स्थगयित्वा मल्लिकार्जुनशृङ्गारिकोटिशाटीप्रभृतिवस्तूनि लात्वा पत्तनं प्रति चचालाम्बडः। ततः क्रमात्पत्तने जयजयेति विरुदं कारयन्नात्मनः पुरमध्ये आम्बडः प्रविष्टः। तत्रात्मीयं मन्त्रिणं मुक्त्वा मल्लिकार्जुननृपस्य समभ्येत्य श्रीकुमारपालनृपतेः पुरा प्रणामपूर्वं मल्लिकार्जुनमस्तकं स्वर्णस्थगितं। शृङ्गारकोटिशाटिका १। मांणिकओ पच्छेवडओ २। पापक्षयंकरहारु ३। संयोगसिद्धिसिप्रा ४। तथा हेमकुम्भ ३२। मुटकपट्। मुक्ताफलानां। श्वेतचतुर्दन्तहस्ती १। पात्राणां १२० सार्द्ध १४ कोटिरूप्यटङ्ककान् मुमोच। ततस्तानि शृङ्गारकोटिशाटिकादीनि आम्बडमन्त्रिणा प्राभृतीकृतानि दृष्ट्वा राजा जहर्ष, तत आम्बडमन्त्रिणो राजपितामह इति विरुदं ददौ।

इति मल्लिकार्जुनभूपजेता श्रीआम्बडप्रबन्धः ॥९०॥

[91] अथोदयनमन्त्रिप्रबन्धः।

मारुमण्डलवास्तव्यः श्रीमालवंशीय ऊदाभिधो वणिक् वर्षाकाले घृतं विक्रेतुं गच्छन्-कस्मिन्ग्रामेऽन्तरा केदारान् रात्रौ बध्यमानान्प्राह—कस्य यूयं सेवकाः? तैरुक्तं—वयममुकस्य कामुकाः, वणिजोक्तं-मम कामुकाः कुत्र सन्ति? ततः स ऊदाकः सकुटुम्बस्तत्र गत्वा वायटीयजिनायतने विधिवद्देवान् वन्दते स्म। तं तथा देवं वन्दमानं दृष्ट्वा कया छिम्पिकया श्राविकयोक्तं—कस्यातिथिर्भवान्? तेनोक्तं—वैदेशिकोऽहं, भवत्या एव, ततः सुश्राद्धं तं मत्वा कस्यचिद्गृहे स्वद्रव्यदानेन छिम्पिकया भोजितस्तया स सकुटुम्बः। तृणमयं कुटीरकमर्पितं तस्य। सुश्रावकत्वात्तया कालेन प्राप्तविभवः ऊदाको गृहं कारयितुमिष्टिकानिचयं लात्वा खातं कारयन् महान्तं सेवधिं प्राप। ऊदाकेन सा छिम्पिका बहुद्रविणदानेन सन्मानिता। ततः लक्ष्म्या उदयस्तस्याभवत्तेन 'उदयन' इति नाम जातं, यतः—

कृतप्रयत्नानपि नैति कांश्चन, स्वयं शयानानपि सेवते परान्।
द्वयेऽपि नास्ति द्वितयेऽपि नास्ति, श्रियःप्रचारो न विचारगोचरः ॥१॥

तेन कर्णावत्यामतीतानागतभविष्यचतुर्विंशतिजिनसमलंकृतः प्रासादः कारितः। तत्र श्रीऋषभजिनो मूलनायकः कृतः। क्रमादुदयनमन्त्रिणस्तस्य पुत्राश्चत्वारः क्रमाद्भूवन्-बाहडदेव[१]-बाहड[२]-आम्बड[३]-सोल्लाः[४]। इति उदयनमन्त्रिप्रबन्धः ॥९१॥

[92] अथ भाग्ये आभडप्रबन्धः।

श्रीमालज्ञातीयः श्रीपत्तनवास्तव्य उच्छिन्नवंश्य आभडनामा वणिग्बभूव। कांस्यकारक

हट्टेषु घर्घरकघर्षणं कुर्वन् पञ्च विशोपकानर्ज्जयित्वा दिनव्ययं कुर्व्वाणो द्विःसन्ध्यमपि श्रीहेमसूरिपार्श्वे प्रतिक्रमणादिपरस्तिष्ठति । अन्यदा रत्नपरीक्षाशास्त्रार्थं विज्ञाय तद्विषयेऽतीवकुशलोऽजनि । कदाचिच्छ्रीहेमसूरिपार्श्वे परिग्रहपरिमाणं गृह्णन् श्रीहेमसूरिभिस्तद्देहलक्षणविज्ञानविचक्षणैर्लक्षत्रयद्रव्यपरिमाणं कारितः । क्रमादाभडस्य पुत्रोऽभूत् । पत्न्या स्तन्यं न । तेन छागीं गृहे लिलासुरभूत् । कस्मिंश्चिद्दिवसरे कस्यचिद्ग्रामसमीपे छागीयूथं अवाहे[आवाहे] पानीयं पिवन्तीं [पिवन्तं] ददर्श । एकस्याश्छाग्या जलं पिवन्त्या जलं द्विधाभूत् । तत्कण्ठे दवरकवद्धं मणिं वीक्ष्य तां छागीं द्रव्येण जग्राह । तद्रत्नं समुत्तेजयित्वा[समुत्तेज्य] सपादलक्षटङ्ककैः सिद्धराजभूपस्य ददौ । ततो व्यवहारी जातः । एकदा मञ्जिष्ठावाहिकानि वहूनि विदेशादागतानि जग्राह । तन्मध्ये स्वर्णकुशा वहवो निर्गताः । ततःप्रभृति दिनेदिने वर्द्धन्त्या श्रियालङ्कृतः । ततः प्रतिवर्षं श्रीशत्रुञ्जयस्य यात्रा महासमुदायेन चकार सः । जैनप्रासादा भूरिशः कारिताः । निजप्रशस्तिरहिताः जीर्णोद्धाराश्च । गुप्तवृत्या साधर्मिकेभ्यो धनं व्ययन साधुभ्योऽन्न-पानवस्त्रादि च स्वं जन्म सफलीचकार ।

छलिछन्नद्रुम इव, मृत्स्नाछादितसमस्तवीजमिव ।
प्रायः प्रच्छन्नकृतं, सुकृतं शतशाखतामेति ॥ १ ॥

इति आभडप्रबन्धो भाग्ये ॥९२॥

[93] अथ सम्यक्त्वे आम्रभटप्रबन्धः ।

'राजपितामह' इति विरुदं वहन् श्रीआम्रभटोऽभवच्छ्रीकुमारपालस्य मन्त्री,—

द्वात्रिंशद्द्रम्मलक्षान् भृगुपुरवसतेः, सुव्रतस्यार्हतोऽग्रे ।
कुर्व्वन् माङ्गल्यदीपं ससुरवरनरश्रेणिभिः स्तूयमानः ॥
योऽदादर्थिव्रजाय त्रिजगदधिपतेः सद्गुणोत्कीर्त्तनायां ।
स श्रीमानाम्रदेवो जगति विजयतां दानवीरोऽग्रयायी ॥१॥

कुमारे परलोकं प्राप्ते अजयपालो राज्ये उपविष्टः । ततः सर्वे मन्त्रिणस्तं भूपं नेमुः । आम्रभटेनोक्तं—देवबुद्ध्या वीतरागस्य, गुरुबुद्ध्या हेमचन्द्रसूरेः, स्वामिबुद्ध्या कुमारपालस्य नतिर्मया कार्या, नान्यस्य । (जैनधर्मवासितसप्तधातुरनमन्) अजयपालेनोक्तः—यदि मम प्रणामं करोषि तदा ते जीवितव्यं भविष्यति, नान्यथा । ततः श्रीजिनविम्बं प्रपूज्यानशनं गृहीत्वा संग्रामायाजयपालेन सार्द्धं प्रवर्तते, संग्रामं कुर्वन् जिनध्यानेन मृत्वाऽऽम्रभटः स्वर्गं जगाम । यतः—

वरं भट्टैर्भाव्यं वरमपि च खिङ्गैर्धनकृते,
वरं वेश्याचार्यो [यैं]वरमपि महाकूटनिपुणैः ।
दिवं याते दैवादुदयनसुते दानजलधौ,
न विद्वद्भिर्भाव्यं कथमपि वुधैर्भूमिवलये ॥२॥

इति सम्यक्त्वे आम्रभटप्रबन्धः ॥९३॥

[94] अथ शत्रुञ्जयोद्धारप्रबन्धः भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्च ।

अन्येद्युः सुराष्ट्रीयं सुसरनामानं राजपुत्रं जेतुमुदयनमन्त्री कुमारपालेन चालितः शत्रुञ्जयपार्श्वे गत्वा दध्यौ, रणे जीवितव्यसन्देह इति विमृश्य शत्रुञ्जये देवं नन्तुं गतः। स मन्त्री महापूजादीन् विधाय रात्रौ प्रभोः पुरो ध्याने उपविष्टः। तदाऽकस्मान्मूषको दीपवर्त्तिमादाय प्रासादान्तर्गच्छन् दृष्टः, चिन्तितं च मन्त्रिणा-अयं प्रासादः काष्ठमयस्तेन कदाचिद्विध्वंसो भावी, तदा का गतिः, दीपवर्त्तिर्विध्यापिता। ततो जीर्णोद्धारं चिकीर्षुरभिग्रहं लात्वोदयनः स्कन्धावारे आगमत् ।

तत्र गत्वा युद्धं वैरिणा कृतं, वैरिबले जिते वैरिण्यपि हतेऽकस्मात् शरः कुस्थानके लग्नः भूमौ पतितोऽश्वात्, ततः सकरुणं क्रन्दन् आवासे कटकमध्ये आनीतः पृष्टः, किं सेवकेन दुःखं विद्यते भवतः। तेनोक्तं—संग्रामे जयाजयौ विद्येते एव। एक एवाभिग्रहो मे मनस्यपूर्णोऽभूत्। सेवकेनोक्तं—कोऽभिग्रहः ?

उदयनः प्राह—श्रीशत्रुञ्जये प्रासादोद्धारः, भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्चिन्तितः मया। तौ न जातौ यावत्तौ न भविष्यतस्तावन्मया भूशयनैकभक्तकराभिग्रहो लले। यदि मदीयावभिग्रहौ मम वाग्भट्टादयः पुत्राः शृण्वन्ति तदा ते पुत्राः सिद्धिं नयन्ते स्म।

ततः स्थगीकः, तेनोक्तं—यावदहं भवतः पुत्राणामग्रे नाकथयिष्यं तावन्मम भवतः······।

ततः उदयनमन्त्री हृष्टोऽवग्—त्वमपि धन्यः पुनरेको मनोरथोऽस्ति, स्थगीका(?)ऽवग् कथ्यतां द्वितीयोऽपि मनोरथः।

तत उदयनो जगौ—यदि साधवोऽत्रागच्छन्ति तदा ममाराधनां कारयन्ति, ततः सद्गतिः स्यात्, ततः कमपि वण्ठं साधुवेषं कारयित्वाऽग्रे आनीतो, जिनबिम्बमानीतं, द्वौ प्रणम्याराधनां कृत्वा क्षमितः सर्वजीवः स्वर्गं गतः। वण्ठेनाग्रतः सम्यक्संयम आराधितः। तत्र स्वसेवकान् मुक्त्वा उदयनस्य पश्चात् कटकं पत्तने आगतम्। उदयनमरणाभिग्रहग्रहणादिवृत्तान्तः सर्वः स्थगीकेन वाग्भट्टाऽऽम्रभट्टादीनामग्रे प्रोक्तं। ततो द्वाभ्यामाम्रभट्टवाग्भट्टाभ्यां द्वावभिग्रहौ गृहीतौ। ततस्ताभ्यां बहुद्रव्यव्ययाच्छ्रीशत्रुञ्जये जीर्णोद्धारः कारयितुमारब्धः। वर्षद्वयेन शत्रुञ्जयप्रासादे निष्पन्ने वर्द्धापनिकायामागतायां तस्य सुवर्णजिह्वा कारिता। क्षणाद्वितीया प्रासादपतनज्ञापिका वर्द्धापनिकागता, तस्य हेमजिह्वाद्वयं कारितं। यतो मम पश्चात्क उद्धारः कारयिता, ततस्तत्र गत्वा चतुःसहस्रैरश्वैः शिलापट्टकः पृष्टः; किं क्रियते, तेनोक्तं—पूर्वंसभ्रमः प्रासादो वातेन पातितः। यदि निर्भ्रमः प्रासादः कार्यते तदा चिरं तिष्ठति, पुनः सन्ततिर्न भवति।

ततस्तेनोक्तं—प्रासादकविधानात् भरतभूपपङ्क्तिर्लभ्यते तदा सन्तत्या किमेवं विसृश्य सं० १२११ प्रासादः पुनः कारितः। वाहडनाम्ना पुरं स्थापितं, तत्र त्रिभुवनपालविहारः कारितस्तत्र पार्श्वबिम्बं स्थापितं। तीर्थपूजाकृते चतुर्विंशत्यारामान् नागरं परितो वप्रं देवलोकस्य च ग्रामवासादिकृतं—

सप्तषष्टियुता कोटी, व्ययिता यत्र काञ्चनी।
स श्रीवाग्भट्टदेवोऽयं, वर्ण्यते न बुधैः कथम् ॥१॥

आम्रभट्टेन भृगुपुरे शकुनिकाविहारोऽकारि, तत्र षट्कोटिमितं हेम्नां लग्नम् ।

इति शत्रुंजयोद्धारप्रबन्धः, बहुद्रव्यव्ययाद्भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्च कारितः ॥९४॥

[95] अथ ध्वजोत्तारण–पुनरारोपणसम्बन्धः ।

अन्यदा सिद्धराजजयसिंहो रुद्रप्रासादं महान्तं कारयित्वा ध्वजारोपणसमये सर्वजैनप्रासादानां ध्वजोत्तारणं कारितवान्, मन्त्रिभिर्वारितोऽपि न तस्थौ । स भूपो मालवमण्डले गत्वाऽन्येद्युः श्रीनगरमहास्थाने आगमत् । सर्वेषु प्रासादेषु ध्वजारोपं वीक्ष्योक्तं भूपेन, केषां प्रासादा एते ? तैरुक्तं—शिव–ब्रह्म–जिनप्रासादा एते । ततो रुष्टो राजाऽवग्–मया सर्वेषां जैनप्रासादानां ध्वजारोपो निषिद्धः, भवद्भिरिदं पताकादि किं क्रियते जैनप्रासादेषु । तैरुक्तं, श्रूयतां—

पुरा श्रीमन्महादेवेन कृतयुगप्रारम्भे महास्थानमिदं स्थापितम् । श्रीऋषभदेव–श्रीब्रह्मप्रासादौ स्वयं स्थापितौ, प्रदत्तौ ध्वजौ । तस्मादनयोः प्रासादयोः सुकृतिभिरुद्ध्रियमाणयोश्चत्वारो युगा व्यतीताः [चत्वारि युगानि व्यतीतानि] । श्रीशत्रुञ्जयमहागिरेः पुरा नगरमेतदुपत्यकाभूमिः, यतो नगरपुराणेऽप्युक्तम्—

पञ्चाशदादौ किल मूलभूमे–र्दशोर्ध्वभूमेरपि विस्तरोऽस्य ।
उच्चत्वमष्टैव तु योजनानि, मानं वदन्तीति जिनेश्वराद्रेः ॥१॥

इति कृतयुगे आदिदेवः श्रीऋषभस्तत्पुत्रो भरतस्तन्नाम्ना भरतखण्डमिति प्रतीतं—

नाभेरुता (?) स वृषभो मरुदेविसूनु–र्यो वै चचार समदृग् मुनियोगचर्याम् ।
तस्यार्हन्त्यसोमुपय (?) पदमामनन्ति, स्वस्थः प्रशान्तकरुणः समदृक्सुधीश्च ॥२॥

अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरक्रमः ।
दर्शयन्वर्त्म वीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतः ॥३॥

इत्यादि पुराणोक्तानि भूरिशो भूपाग्रे कथितानि तैर्द्विजैः, यथा तेन तदाद्यस्थापनाय ऋषभदेवौकः कोशात् श्रीभरतनामाङ्कितं पञ्चजनवाह्यं कांस्यतालमानीय भूपस्याग्रे मुक्तं द्विजैः । ततः प्रभृति स्वं निन्दयित्वा भूपः सर्वेषु जिनप्रासादेषु पुनर्ध्वजारोपणं चकार ।

इति ध्वजोत्तारण–पुनरारोपणसम्बन्धः ॥९५॥

[96] जिनध्यानपूजाफलविषये शुकीकथा ।

कस्मिंश्चिद्वने शमीपादपे शुकः शुकीयुतो वसति स्म । क्रमात्तयोः शुकः पुत्रोऽभूत् । एकदा शुक्योक्तं–पुत्रो मदीयः, शुकेनोक्तं–पुत्रो मदीयः, ततो विवादे जायमाने भृशं संप्रति भूपतिपार्श्वे ययौ । शुकीशुकौ स्वं स्वं रुचितं प्रोचतुः ।

ततो राज्ञोक्तं—अयं शुकस्य पुत्रः, ततः शुकी दुःखिताऽजनि, शुकः स्वं पुत्रं गृहीत्वा गतः । शुकी जिनालये गत्वाऽऽदिजिनप्रतिमां वीक्ष्य नत्वा वनात्पुष्पाण्यानीय पूजयामास । ततः क्रमाज्जिनध्यानेन मृत्वा शुकी मन्त्रीश्वरपुत्री तिलोत्तमा नामाऽभूत् । वर्द्धमाना पित्रा सर्वकला पाठिता पुत्री ।

एकदा जिनप्रासादे श्रीयुगादिप्रतिमां वीक्ष्य क्षणां[णं] मूर्च्छित्वा जातिस्मरणं प्राप्य पश्चात् शुकीभवं ददर्श। ततो ज्ञातं राज्ञः स्वरूपं ततस्तया धर्मकर्म कुर्वत्याऽन्यदा पितुरग्रे प्रोक्तं–तात ! त्वया स्वीयास्तुरङ्गमा राज्ञां वडवान भोगाय मोक्तव्याः। ततस्तथाकृते मन्त्रिणा बह्वयो राजवडवा बहून् किशोरकान् प्रसूताः। तदानीं राज्ञः सर्वे किशोरकाः नृपपार्श्वात्तातगृहे तया नीताः।

ततो राज्ञोक्तं—मन्त्रिन् ! कथं मम किशोरास्त्वया गृहे गृहीताः। मन्त्रिणोक्तं—मत्पुत्र्या मदालये आनीताः। ततो राज्ञोक्तं–मन्त्रिपुत्रीपार्श्वे त्वया कथं मदीयाः किशोराः स्वपितुर्गृहे नीताः ? मन्त्रिपुत्र्योक्तं भवद्राज्ये एवं विधो न्यायो वर्त्तते। यः पुत्रः स पितुरेव, ततो ये ये किशोरास्ते ते घोटकस्वामिनो भवन्ति, तेनैते किशोरा मम तातस्य।

राज्ञा ध्यातं—इयमतीव विदुपं[षीं]मन्या वर्त्तते। तेन मया प्रथमं परिणीय तथा कर्त्तव्या यथा दुःखिनीभूता एतस्याः कृतं जल्पितं च एतस्या मस्तके पतति।

ततो राज्ञा मन्त्रिणं सन्मान्य वस्त्रादिना महता प्रपञ्चेन तिलोत्तमा परिणीता। कियद्दिनानन्तरं प्रोक्तं—रे विदुपं[षीं]मन्ये ! त्वया मद्गेहे पुत्रयुक्तयाऽऽगन्तव्यं, नान्यथा। ततः सा पितृगृहे गत्वा बुद्धिमती पितृपार्श्वाद्द्रव्यमादाय राजगृहं यावत्सुरङ्गां दापयामास छन्नं। ततस्तत्र तया देवविमानतुल्यं महद्भूमिगृहं कारितं। तत्र वाउलकवदरीरोपिते। ततः वर्यपल्यङ्कादिरचना कारिता। पञ्चपा सखीयुता तत्र देवीरूपतुल्या विशिष्टाभरणादिभूपितगात्रा ताम्बूलादि आस्वादयन्ती तिलोत्तमा वादित्रादि वादयामास।

तदा क्रमाद्राजा तं दिव्यवादित्रनिनादं श्रुत्वा तं विलोकितुकामोऽभूत्। इतः तिलोत्तमा स्वां सखीं विदुषीं राज्ञः पार्श्वे प्रेपयामास।

राज्ञोक्तं—त्वं का ? तयोक्तं–ज्ञानवती विद्याधरी पवनवेगविद्याधरपुत्रीसेविकाऽस्मि। राजा दध्यौ–यस्या एवंविधा सेविकाऽस्ति सा कीदृशी भविष्यति। ततो राज्ञोक्तं–यत्र तव स्वामिनी वर्त्तते तत्र मां नेष्यसि। तदा तयोक्तं—यदि भवतो रोचते तदा तत्र त्वामेकाकिनं नेष्यामि। ततो राजा हृष्टस्तया तत्र रात्रौ नेत्रयोः पट्टकं बन्धयित्वा नीतः। चक्षुपः पट्टकोऽपचक्रे, ततः तां दिव्यरूपां कन्यां वीक्ष्य दध्यौ स। किमियं विद्याधरी, किमियं देवाङ्गना, किमियं पातालकन्या च ? इयं यदि मम प्रिया भवति तदा कृतार्थोऽहं भवामि। तत्र नाटकादि निरीक्ष्य छन्नं राजा पश्चादागतः। एवं सा विद्याधरी राजानं तत्रानयति।

एकदोक्तं–सा विद्याधरी भवत्स्वामिनी मां वृणुते न वा ? मम स्वामिनी विद्याधरं वरं समीहते। ततो राजा दध्यौ, एकदा तस्या भोगो मम भवति तदाहं कृतार्थो भवामि एवं चिन्तयामास। एकदा राजा यावत्तत्र गतस्तावत्सा सखी कुत्र गता कार्यार्थमपरा अपि तत्सेविका अन्यत्र गता। तदा तिलोत्तमयोक्तं—काऽस्ति या तु पादुके मदीये आनयति ? तदाराज्ञा पादुके मस्तके कृत्य तस्यार्प्पिते। तयोक्तं–कस्त्वं ? तेनोक्तमद्य त्वां विलोकितुं त्वत्सेविकयाऽऽनीतः। तयोक्तं–वरं जातम्। एवं द्वितीयदिने तयोक्तं काऽस्ति या वदरीवाउलकपत्राणि आनयति मदीयक्षते बन्धनार्थं, ततस्तेन तदपि कृतं। ततो राज्ञोक्तम्—एकशो मम त्वां भोक्तुमिच्छाऽस्ति। ततस्तयोक्तं–यथातथा कमपि मत्कान्तं मुक्त्वाऽन्यं पुरुषं न समीहे, परं तव भक्त्या तुष्टास्मि, यदि तव रोचते तत्कुरु।

ततो राज्ञा भुक्ता तिलोत्तमा क्रमादाधानमभूत् पुत्रोऽप्यभूत् । ततस्तया सर्वं भूमिगृहादि विसर्जितं, यद्यद्राज्ञाकृतं गमागमादि तत्सर्वं पितुःपार्श्वाद्वहिकायां लिखितं तया । ततो राजा तां कन्यां स्मारं स्मारं चिन्तयामास । कदा तस्याः स्त्रिया योगो मम भविष्यति । ततो ग्रथिलप्रायो जातस्तस्या दर्शनं विना । इत्येवं मंत्रिपुत्री तिलोत्तमा पुत्रयुता भूरिसखीयुता सुखासनारूढा महोत्सवपूर्वकं राज्ञः पार्श्वे गता यावत्तावद्राज्ञः सेवकैः भवत्पत्नी तिलोत्तमा पुत्रयुता आगच्छन्त्यस्ति । राज्ञा ध्यातं कथं तस्याः पुत्रो जात इति राजा चमत्कृतः । तत्रागता पत्नी । मन्त्रिणा पुत्रीलिखापिता वहिकाऽग्रे मुक्ता । राजा तां वाचयित्वा चमत्कृतस्तामङ्गीचकार । सत्यं त्वमेव विदुषी लोकानामग्रे, सर्वं प्रोक्तं । ततो राज्ञी स्वं जातिस्मरणस्वरूपं जगौ राज्ञोऽग्रे । ततः संप्रति राजा विशेषतः पुण्यं करोति । पुत्रस्य जिनदत्त इति नाम दत्तं । तता राज्ञी श्रीजिनधर्मं कृत्वा क्रमात् स्वर्गभागभूत् ।

॥ इति जिनध्यानपूजाफलविषये शुकीकथा ॥९६॥

[97] अथ सिद्धि–बुद्धिरउलाणीप्रबन्धः ॥

अणहिल्लपुरे पत्तने चौलुक्यकर्णभूपपुत्र जयसिंहदेवो यात्रां कृत्वा सहस्रलिङ्गसरोवरमध्ये वगस्थलोपरि स्थितः ।

अत्रान्तरे वहवो याज्ञिकवैदिकादिद्विजा यात्रायां चलिताः । गङ्गागोदावर्यादितीर्थेषु स्नात्वा केदारभूमौ गताः । हिमाद्रिमध्ये औषधार्थं भ्रमद्भिस्तैर्योगी दृष्टः । तस्य सिद्धिबुद्धिनाम्न्यौ रउलाणीत्यभिधाने द्वे क्षुल्लिके तत्रोपरिष्टे दृष्टे । दृष्ट्वा प्रणामं कृत्वोपविष्टास्ते । योगिन्या कुशलप्रश्नः कृतः, कुतः समायाता यूयं ? तैरुक्तं–श्रीपत्तनात् । तदा ताभ्यां क्षुल्लिकाभ्यामुक्तं तत्र कोऽधिपः ? तैरुक्तं–सिद्धचक्रवर्ती जयसिंहदेवः । तत्रेदं श्रुत्वा ते द्वे अपि योगिन्यौ क्रुद्धे । ते तदा कथयितुं लग्ने–रे रे द्विजा ! यदि तस्य चेत् सिद्धत्वं तदा चक्रवर्त्तित्वं कुतः ? यदा चक्रवर्तित्वं तदा सिद्धत्वं कुतः ? इति विमृश्य ते राज्ञः चक्रवर्त्तिविरुदपरीक्षार्थं समागते पत्तने । राज्ञा सभोपविष्टेन राजमार्गे गच्छन्त्यौ ते कदलीपत्राधिरूढे दृष्टे, राज्ञाऽभ्युत्थानं कृतं । भूपेनागमनकारणे पृष्टे ताभ्यामुक्तं सिद्धचक्रवर्त्तित्वं नाम ज्ञानार्थमावामागते । त्वं कथं सिद्धचक्रवर्त्ती ? राजाऽवग्–कथयिष्यते, ततश्चोत्तारको दापितस्तयोः, दिनानि व्रजन्ति, राजा सन्देहेऽपतत् ।

[1]अत्रावसरे सान्तूआसचिवेन राज्ञोऽग्रे पृच्छा कृता, किमर्थं दुर्बलो भवान् ? राजाऽवग–सिद्धिबुद्धिसमागमन–तत्पृच्छाभ्यामहं दुर्वलः, किमुत्तरं दीयते !

तदा सज्जनः शर्कराफलं राज्ञः करे दत्त्वा स्थितः । राजा फलं न गृह्णाति । क्षणेन गृहीतं भूपेन । सज्जनः पितुः समीपे गत्वा सर्वमुक्तवान् । राज्ञश्चिन्तार्त्तिं ज्ञात्वा पित्रोक्तं–भो वत्स ! अस्माभिः किं क्रियते ? अस्माकं राउल गते कोऽपि मानं न ददाति । राजा कर्णदेववारके ईदृशाः कुहेडा वहुतरा अभविष्यन् । मया सर्वेऽपि ते भग्नाः । एषावार्त्ता प्रासादाधःस्थेन मन्त्रिणा श्रुता । पुरा राज्ञोऽग्रे गत्वा कथिता । ततो राज्ञा प्रगे पृथक्पृथग्वारत्रयमाकारितः

(१) किमुत्तरं दातव्यमनयो, षण्मासा गताः अन्येद्युरेकहरिपालसाकरीयापुत्रः सज्जनः शर्कराफलं केलयित्वा भूपोपान्तेऽस्थात् अत्रावसरे····इति अधिकः पाठो दृश्यते, D. संज्ञक प्रतौ ।

कथयति हरिपालः धर्मध्यानभङ्गो भवति मम तेन नागच्छामि । सान्तूः स्वयं तत्रागतः, उक्तं च राज्ञा तवाकारणायाहं प्रेपितः । आगम्यतां, तेनोक्तं-साम्प्रतं देवपूजावसरः, अतो भव्यं संजातं, त्वं साधर्मिको मम गृहमागतः । कुरु देवपूजां, कुरुष्व भोजनं यथा गम्यते । अमात्येन तथैव कृतं। भोजनानन्तरं सुखासनारूढौ राज्ञः समीपे गतौ । राज्ञोक्तं-काका ? सर्वावसरे किमद्यकल्ये नागम्यते ।

हरपालेनोक्तम । आर्त्ता नरा धर्मपरा भवन्ति । तथा त्वमार्त्तौ सत्यां 'काका' कथयसि, अन्यथा नामापि न गृह्णासि । राज्ञोक्तं—पूर्णं हास्येन, किन्तु तथा क्रियतां यथा मम नाम न याति । तेनोक्तं—देव दाप्यतां दाप्यतां भव्या सारलोहमयी मुष्टिः क्षुरिकाया । राज्ञा दापिता । अष्टदिनावधि कृत्वा हरपालः स्वगृहमागात् । तस्याः क्षुरिकायाः शर्करामयं फलकं कारितं तथा यथा *चन्द्रहासलोहभ्रान्ति प्राप्ता । गजवेलीतुल्याऽभूत् सा प्रतिका(हा)रश्च स्वर्णमयः* कारितः सान्तूहस्ते प्रदत्ता राज्ञोऽग्रे तत्स्वरूपं धीप्रपञ्चयुक्तं निवेदितं। प्रगे राजा सभायामुपविष्टः, सिद्धिवृद्धिरउलाणीद्वयं तत्रागात्। मन्त्री प्राह—राजन ? रउलाण्योर्बहूनि दिनानि ययुः । किमपि कलां दर्शय । कामप्यनयोः कलां विलोक्य विसर्ज्यतां च, यदा तेनेत्थं सगोपमुक्तं, तदा राज्ञा सबहुमानं रउलाणीद्वयं पृष्टं-भो ! कथ्यतां भवतीभ्यां का कला ज्ञायते, को गुरुर्युवयोः ? ताभ्यामुक्तम्-अचलनाथो गुरुरावयोः । राज्ञाऽप्युक्तमस्माकमपि स एव गुरुः ।

अत्रान्तरे प्रतीहारः समागतः, प्रणामं कृत्वा देव ! कल्ये कटकाधीश्वरेण प्रमाडिभूपेन भवतां कृते प्राभृतं कृतमस्ति । राज्ञोक्तं-किं किम् ? प्रतीहारेणोक्तं द्वारे सन्ति अमात्यास्त एव निवेदयिष्यन्ति । राज्ञा समाकारिताः । आयाताः, प्रणामं कृत्वा व्यजिज्ञपन्-देव ! पोडश रूप्यहस्तिनः, द्वादशपेटिकासडिभृताः, पृष्टौ प्रयाणकत्रये सन्ति । देव ! तव कृते वङ्गालदेशाधीशेन छुरिका भव्या बहुवस्तुयुता प्रेषिताऽभूत् । सा छुरिका प्रमाडिभूपेन प्रेपिताऽस्ति । राज्ञोक्तं प्रथमं निष्काश्यतां, तेन स पट्टकूलविण्टनकसप्तमध्यान्निःकाश्य राज्ञः करे समर्प्पिता। राज्ञा स्वयं दृष्टा वर्णिता च । सभासदान् प्रदर्शिता । प्रत्येकान्यैरपि वर्णिता । सिद्धिवुद्धिरउलाणीभ्यां दृष्टा वर्णिता। राज्ञः करे पुनः समर्प्पिता । तत्रान्तरे सान्तूकेनोक्तं-देव ! पूर्णमपराभिर्वार्त्ताभिः, रउलाणीभ्यां सह क्रियतामालापः। दर्शनीया निजा कलाः। विलोकनीयाश्च प्रतिकूलाः। राज्ञोक्तं-दर्शय स्वाः स्वाः कलाः । ताभ्यां द्वासप्ततिकलादिकौशल्यं दर्शितं । मन्त्रिणोक्तं-त्वं स्वां कलां दर्शय । राज्ञोक्तं यथायुक्ति उच्यताम्। मन्त्रिणोक्तम् , इयं लोहमयी क्षुरिका भक्ष्यताम् । अपरैरुक्तम् आः ईदृशं सद्वस्तु न भक्ष्यते । अमात्येनोक्तं-चेद्राज्ञ उदरे भव्यं वस्तु व्रजति तदा किमयुक्तं ? यावद्राज्ञा क्षुरिकाफलं भक्षितं तावदन्येन करे धृत्वोक्तं—देव ! युष्माभिर्यथाऽऽत्मीयकला दर्शिता तत्फलकतीक्ष्णं सारमयं भक्षितं तथा रउलाणीभ्यामपि दर्श्यते कलास्तदा वरं, यावद्राजा मुष्टिमर्प्पयति तदा मन्त्री जगौ उच्छिष्टं मुष्टिकं कथं दीयते ? मन्त्रिणोक्तं-धातुपु छोतिर्न लगति राजा वारिणा सह प्रक्षाल्य यावद्ददाति (?) तावत्ताभ्यामुक्तं-देव ! त्वमेवेदृशशक्तियुक्तः युक्तं सिद्धचक्रवर्त्तिनामविरुदं तव, नान्यस्य शक्तिरीदृशी। लोकः सर्वोऽपि विस्मितः। ते योगिन्यौ भूपं सन्मान्य स्वस्थानं ययतुः। पूर्वमन्त्रिणं वहुद्रव्यदानात्सन्मानयामास । राज्ञस्ततः श्री जयसिंहदेवस्य सिद्धचक्रवर्त्तिविरुदं प्रकट्यभूत् ।

इति सिद्धि-बुद्धिरउलाणीप्रबन्धः ॥९७॥

[98] अथ भाग्ये सोमिलकथा ।

सप्तद्वीपाधिपस्यापि, तृष्णा यस्य विसर्प्पिणी ।
दरिद्रः सतु विज्ञेयः, सन्तुष्टः परमेश्वरः ॥१॥

किंच—दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यः, सन्तोपतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ।
विभूपणं शीलसमं कुतोऽस्ति, लाभोऽस्ति नारोग्यसमः पृथिव्याम् ॥२॥

न चैवं ध्यातव्यं यदर्थच्युतोऽहं कथं वर्त्तिष्ये । यतो वित्तं हि विनाशि स्थिरं च पौरुषम् । उक्तं च—

सकृत्कन्दुकपातं हि, पतत्यार्यः पतन्नपि ।
कातरस्तु पतत्येव, मृत्पिण्डपतनेन हि ॥२॥

किं बहुना कार्यं केचित्तरा धनभोगभागिनः केचिच्च रक्षितार एव भवन्ति ।

तथा चोक्तम्—अर्थस्योपार्जनं कृत्वा, नैव भोग्यः समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य, मूढः सोमिलको यथा ॥३॥

तथाहि—अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम तन्तुवायः । स चानेकविधरचनारञ्जितानि पार्थिवजनोचितानि वस्त्राणि सदैव विदधाति । परं भोजनादधिकधनं न संपद्यते । ये चान्ये स्थूलवस्त्रसम्पादकाः कोलिकास्तान् लक्ष्मीवतो वीक्ष्य भार्यां प्रति प्राह-प्रिये नात्र स्थातुं युक्तं, भार्याऽवग्-भो प्रिय ! मिथ्यावच इदं यदन्यगतानां धनं भवति उक्तं च—

न हि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य च भवितव्यता नास्ति ॥ ४ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म, कर्त्तारमनुधावति ॥५॥

यथा छायातपौ नित्यं, सुसंबद्धौ परस्परम् ।
एवं कर्म च कर्त्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥६॥

तस्मादत्रैव तिष्ठ, व्यवसायं विना न कर्म्म फलति । उक्तं च—

न यथैकेन हस्तेन, तालिका संप्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्तं, न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥७॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्तः, भोज्यकाले च भोजनम् ।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रे, प्रविशेन्न कथंचन ॥८॥

उद्यमेन हि सिध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य, पतन्ति वदने [प्रविशन्ति मुखे] मृगाः ॥९॥

अपरं च—स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म, सिद्धिश्चेन्न भवेद् भुवि ।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र, दैवान्तरितपौरुषम् ॥१०॥

तदवश्यं मया देशान्तरं कर्त्तव्यमित्युक्त्वा [गन्तव्यमित्युक्त्वा] वर्द्धमानपुरं गतः ।

अथ तत्र वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयोऽपि स्वगृहं प्रति प्रस्थितः । अथार्द्धमार्गे महाटव्यां गच्छतस्तस्य रविरस्तंगतः । तदभयात्समग्र्यग्रोधवृक्षस्य स्थूलशाखामारुह्य यावत्सुप्तः तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ क्रुद्धौ मिथो जल्पन्तौ शृणोति, तत्रैकः प्राह भो कर्त्तः ! त्वं बहुधा मया निवारितोऽसि यथाऽस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादना[द]धिका श्रीर्नास्ति अतो भवता कदाचिदपि तदधिका श्रीर्न देया। तत्कथमस्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तं। स प्राहापरः—भो कर्मन् ! अवश्यं मया व्यवसायिनां व्यवसायानुरूपं फलोदयो देयः । तस्य च परिणतिस्त्वया दत्ता, इत्यतस्त्वमेवापहरेति । तत् श्रुत्वा यावदसौ प्रबुद्धः सन् सुवर्णग्रन्थिमन्वेषयति तावद्रिक्तो ग्रन्थिः स्वर्णैस्तेन दृष्टः, ततश्चिन्तयामास—अहो मया कष्टेनार्जितं धनं हेलया गतं, तद्व्यर्थः श्रमः । ततो धनरहितोऽहं कथं भार्यादीनां मुखं दर्शयिष्यामीति । भूयोऽपि वर्द्धमानपुरं गतः, तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमर्जयित्वा भूयोऽपि स्वगेहं प्रति अन्यमार्गेण चलितः । मार्गे रविरस्तं गतः तदा न्यग्रोधे स तस्थौ । कष्टं कष्टं भोः किमेतदारब्धं, दैवहतकेन पुनः स एव न्यग्रोधरूपी राक्षसः संप्राप्त, इत्येवं चिन्तयन् स्वप्नायमानः स वृक्षशाखायां द्वौ पुरुषावपश्यत् । तत्रैकोऽवग्—भो कर्त्तः ! किं त्वयैतस्य सोमिलकस्य निर्भाग्यस्य स्वर्णशतपञ्चकं दत्तं, किं न वेत्सि भवान् यद्भोजनाच्छादनादृतेऽस्याभ्यधिकं नास्ति । अपरः प्राह—भो कर्मन् ! मयाऽवश्यं देयं व्यवसायिनां तस्य परिणामस्त्वया व्यतारि, तत्किमुपालभसे । तत् श्रुत्वा यावदसौ सोमिलको ग्रन्थिमन्वेषयति तावद्रिक्तः ततः परमवैराग्यसंपन्नो व्यचिन्तयत् अहो मां धिग्, किं जीवितेन धनं विना, ततोऽत्र वटवृक्षस्य शाखायामात्मानमुद्बध्य प्राणत्यागं करोमि । एतद्ध्यात्वा यावच्छाखायामात्मानमुद्बध्य निक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थोऽवग्—भो सोमिलक ! किमेवं साहसं कुरुषे । स एवाहं वित्तापहारी यत्तव भोजनाच्छादनाधिकां श्रियं न सेहे, तद्गच्छ गृहं तथा न मे स्याद्व्यर्थं दर्शनं तत्प्रार्थ्यतामभीष्टं वरमिति । सोमलिक आह—यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धनं, सोऽब्रवीत्—भद्र ! किं करिष्यसि भोगत्यागरहितेन धनेन यतो भोजनाभ्यधिको नास्ति तव भोगः । सोमलिकः प्राह—यद्यपि भोगो न भवति तथापि तद्भवतु, उक्तं च, यतः—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि, सदा धनविवर्जितैः ।
सेव्यते च नरो लोके—र्यस्य स्याद्वित्तसंचयः ॥१॥

शिथिलाश्च सुबद्धाश्च, पतन्ति न पतन्ति च ।
निरीक्षिता मया भद्रे, वर्षाणि दश पंच च ॥२॥

अस्य सम्बन्धः कथ्यतां, तथाहि—

कस्मिंश्चित्पुरोपान्ते वने वा प्रलम्बवृषणाह्वः शण्डोऽभूत्। स च मदातिरेकात् परित्यक्तयूथो नदीतटानि शृङ्गाभ्यां विदारयन् स्वेच्छया शस्यानि भक्षयन् अरण्यचरो बभूव।

अथ तत्रैकः शृगालो वसति स्म। भार्यया सह कदाचिन्नदीपुलिने उपविष्टो विद्यते। एतस्मिन्नवसरे तस्य दृग्गोचरे प्रलम्बवृषणः समागात्। तस्य शण्डस्य प्रलम्बवृषणौ दृष्ट्वा शृगाल्या शृगालोऽभिहितः स्वामिन्! पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ क्षणेन प्रहरेण दिनेन वा पतिष्यत एतौ एवं ज्ञात्वा भवानस्य पृष्ठे यातुमर्हसि। शृगालोऽवग्—प्रिये! न ज्ञायते कदाचिदेतौ पतिष्यतो वा न तत्किं मां श्रमाय नियोजयसि। अत्रस्थ एव तौ पतितौ त्वया सह भक्षयिष्यामि, अथवा अस्य पृष्ठौ यास्याम्यहं। यदि तदात्मीयस्थानमन्यः कोऽपि समेत्याश्रयिष्यति तदेतत्कर्त्तुं न युक्तम्। उक्तं च—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ॥१॥

साऽब्रवीत् एतद्वचनं कापुरुषस्यैव, यतः—

यत्रोत्साहसमालम्बो, यत्रालस्यविहीनता।
नय-विक्रमसंयोग—स्तत्र श्रीरखिला ध्रुवम् ॥२॥

यथा च—न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मनः।
उद्योगेन विना तैलं, तिलेभ्योऽपि न जायते ॥२॥

यच्च त्वं वदसि एतौ पतिष्यतो नवा इति वक्तुं न युक्तम्। ततः प्रियाप्रेरितो जम्बूको मूषकादिभक्ष्यं त्यक्त्वा तयोर्वृषणयोर्वाञ्छया तस्य शण्डस्य पृष्ठौ बभ्राम सप्रियः, न च तयोः पतनमभूत् ततः पञ्चदशे वर्षे निर्वेदात्स भार्यामाह—

शिथिलाश्च सुबद्धाश्च, पतन्ति न पतन्ति च।
निरीक्षिता मया भद्रे, दश वर्षाणि पञ्च च ॥१॥

ततः पश्चादपि नैतयोः पतनं भविष्यति तमेव मूषकमार्गमनुसरावः। अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलाश्च सुबद्धाश्चेति' तदेवं धनवान्सर्वोऽपि स्पृहणीयो भवत्यतो देहि प्रभूतं धनं। पुरुषोऽवग् यदि एवं तद् गच्छ वर्द्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिजौ धनगुप्तधनाख्यौ स्तः, तयोश्चेष्टितं बुद्ध्वा प्रार्थनीयं त्वया। ततः सोमिलकोऽपि विस्मितो वर्द्धमानपुरं गतः, सन्ध्यायां श्रान्तः सन् धनगुप्तगृहे गतः। धनगुप्तभार्यापुत्रादिभिर्निर्भर्त्स्यमानोऽपि गृहाऽजिरोपान्ते उपविष्टः। तत्र भोजनवेलायां भक्तिवर्जितं भोजनं प्राप। तत्रैव सुप्तो यावन्निशिथे तावत्पश्यति द्वौ नरौ मन्त्रयन्तौ तत्रैकोऽब्रवीत् भो कर्त्तः? किं त्वयाऽस्य धनगुप्तस्याधिको व्ययो निर्मितो यदस्य सोमिलस्यानेन भोजनं दत्तं तन्न युक्तं कृतं त्वया। द्वितीयः प्राह—भो कर्मन्! ममात्र न दोषः, मया लाभः कृतोऽस्य तत्परिणतिस्तु त्वया व्यतारि। अथ यावदुत्तिष्ठति तावद्धनगुप्तस्य छर्दिकादोषेण द्वितीयेऽहनि खिद्यमानस्य उपवासः पतितः। ततः सोमिलको भुक्तधनगृहे गतः, तेनापि भोजनं दत्तं, सन्ध्यायां सुखसमाधौ सुप्तः, तथैव रात्रिमध्ये नरौ द्वावभ्येत्योचतुः। एकोऽब्रवीत्—भो कर्त्तः? अद्यानेन

भुक्तधनेन सोमिलकस्य भोजनं दत्तं तेन बहुव्ययः कृतः कृतोऽयमुद्धारविधिं दास्यति यतः सर्वमनेन व्यवहारगृहादानीतमस्ति । स प्राह—भो कर्म्मन् ! मम कृत्यमेतत् परिणतिश्च त्वया दत्ता । अथ प्रभाते कोऽपि राजपुत्रो भूपप्रसादलब्धं धनं भुक्तधनायादात्, संचयरहितोऽपि वरं भुक्तं, भुक्तधनं यदि विधिरर्पयति तन्मां विधिर्भुक्तधनतुल्यं करोतु विधिस्त्वधिकं न सहते धनं मम, ततः सोमिलः सन्तोषं कृत्वा तस्थौ । इति भाग्ये सोमिलकथा ॥९८॥

[99] शीतपरिषहसहने चतुःसाधुदृष्टान्तः ।

राजगृहे पुरे चत्वारो वणिजो वयस्याः वसन्ति स्म । अन्यदा तैः सोम–भीम–कमल–धननामभिर्धर्म्मं श्रुत्वा श्रीमद्रबाहुसूरिपार्श्वे संयमं गृहीत्वा बहुश्रुतीभूय गुर्वादेशात्ते विहरन्ति स्म । ते च यत्रार्कोऽस्तमेति तत्र तिष्ठन्ति स्म। रात्रौ अन्येद्युस्तेषां मध्ये एकोऽतीवशीते पतति वैभारगिरिपार्श्वेऽस्थात् । द्वितीय उद्याने । तृतीयः उद्यानोपान्ते । चतुर्थः पुराभ्यर्णेऽस्थात्। तेषां मध्ये यो गिरिगुहापार्श्वेऽस्थात् स ध्यानं कुर्वन् प्रथमयामे मृतः । उद्यानस्थो द्वितीये । उद्यानोपान्तस्तृतीये । पुरोपान्तस्थः पुरजनतापतश्चतुर्थप्रहरे मृतः । चत्वारोऽपि स्वर्गं ययुः ॥

इति शीतपरीषहसहने चतुःसाधुदृष्टान्तः ॥९९॥

[100] अथ दण्डालक सिद्धिः ।

अरिमर्द्दनभूपस्याऽऽसनस्थितस्य कोऽपि सिद्धः पुमान् समागात्। तदा आसनं मह्यां तस्योपवेशाय स्थापितम् । स सिद्धोऽवग् त्वं वर्योऽसि, मम नीचस्यासन प्रदानात्। तदा राजाऽवग्–भूपस्याऽऽसनस्यान्तरं विद्यते । ततो जगौ—अहं तव स्वर्णसिद्धिं दातुमागाम्, त्वया विनयो न कृतः। इत्युक्त्वा स्वं छात्रं मुक्त्वा व्योम्नि ययौ । ततो राजा खिन्नोऽवग्—भो छात्र ! मया विनयो न कृतोऽतः परं करिष्यते, त्वमाकारय स्वं गुरुं। ततः छात्राऽऽकारितस्तत्रागात्। भूपेन स्वर्णसिद्धौ मार्गितायां सिद्धो योग्यवग् यतः–सौवर्णिकेषु दण्डालक इति मम नाम दाप्यते तदा स्वर्णसिद्धिं दास्ये। ततस्तेन सौवर्णिकेषु दण्डालक इति नाम ददे। इति दण्डालकसिद्धिः ॥१००॥

[101] परीषहसहने अर्हन्नककथा ।

तगरापुर्यां दत्तो, भद्रा पत्नी, अर्हन्नकसुतयुतो गुरुपार्श्वे व्रतं ललौ । साध्वी साध्वीपार्श्वेऽस्थात् । दत्तः पुत्रयुग्गुरुपार्श्वे तस्थौ । दत्तः स्नेहवशात् पुत्रं विहर्त्तुं न प्रेषयति स्वयमेवानीय मिष्टाऽऽहारादि दत्ते पुत्राय दत्तर्षिः। क्रमाद्दत्ते दिवंगते अर्हन्नकः शुचं पितुर्मृतेर्धत्ते पञ्चदिनानि साधुभिर्गौरवितः । अन्यदैकेन मुनिना भिक्षायै सार्द्धं स नीतः तदा वाढं निदाघे सुकुमाराङ्गत्वात्स क्षुल्लो[कः] दह्यमानः उत्पपातोर्ध्वमधश्च तृषालग्नो कस्यचिद् गृहगवाक्षछायायामगात्स तदा तं देवकुमाराभं दृष्ट्वा काचित्प्रोषितप्रिया स्त्री गवाक्षस्था कामवशगा चेटीपार्श्वात्स्वगृहान्तर्नीत्वाऽवग्–किं तव [तुभ्यं] रोचते। इत्युक्त्वा पञ्चषा मोदका दत्ताः। तथा भाषितश्चेति तया, किं त्वया वयसीदृशे व्रतं गृहीतं मया सह भोगान् भुङ्क्ष्व, पश्चाद्वार्द्धकत्वे यद्रोचते तत्कर्त्तव्यम् । एवं तया लोभितस्तत्रास्थात् क्षुल्लो भोगान् भोक्तुम् ।

इतः साधुभिर्विलोकितोऽपि न दृष्टः । तस्य माता साध्वी पुत्रगमनत्वाद् दुखिताऽभूत् ।

अन्यदा गवाक्षस्थोऽर्हन्नको मातरं पुत्रवियोगदुःखितां दृष्ट्वा दध्यौ-अहं पापी, मया माता दुःखे पातिता भोगसुखलीनत्वात्। ततस्तत्राभ्येत्य मातुः पदोः पतित्वाऽर्हन्नकः क्षमयामास। माता स्वस्थाऽभूत् पुत्रचरित्रं जज्ञौ। अम्बया संसारासारतां प्रदर्श्य बोधितोऽपि न व्रतं ललौ दुष्करत्वात्। ततो मातृवचसा पादपोपगमनाशनं गृहीत्वा स्वर्गं गतोऽर्हन्नदत्तकः क्रमान्मुक्तिं गतः।

इति परीषहसहनेऽर्हन्नककथा ॥१०१॥

[102] परद्रोहोपरि वैरोचनमन्त्रिकथा।

परद्रोहादिकं पापं, कुर्वंस्तीव्रमिहाङ्गवान्।
वैरोचन इवासातं, लभते मरणादिकम् ॥१॥

तथाहि—विशालायां नगर्यां नन्दाभिधो भूपो न्यायी बभूव। अन्येद्युराखेटकं कृत्वा पश्चादागच्छन् पुरासन्नसरोवरे रजकं वस्त्राणि क्षालयन्तमपश्यत् नन्दभूपः। नन्देन तत्रैका शाटिका धौत्वो[तो]त्सारिता तापे रजकेन मुक्ता दृष्टा। तस्यां चोपरि भ्रमरानुपविष्टान् वीक्ष्य राजा चमत्कृतोऽन्तिकस्थं सेवकं पप्रच्छेति, किमेवमस्या उपरि भ्रमरा उपविशन्ति एवं कुत्रापि न दृश्यते भ्रमरास्तु सुरभिवस्तुन्येवागच्छन्ति। सेवकेन चतुरेणोक्तं-स्वामिन्! पद्मिनी स्त्री भवति तस्याः शाटिकायामेवंविधा परिमलो भवति धौतायामपि। ततो रजकः पृष्टः कस्यै इयं शाटिका? रजकोऽवग्-वैरोचनमन्त्रिणः पत्न्याः। राज्ञोक्तं—भो प्रधान! वैरोचनमन्त्रिपत्नी तु पद्मिनी विद्यते। ततो राजा गूढहृदयः पद्मिनीं स्त्रियं पट्टराज्ञीं कर्तुं सर्वत्र सेवकान् विलोकनाय प्रेषयामास। सेवकैः कुत्रापि न ज्ञाता पद्मिनी। ततो भूपोऽग्रे प्रोक्तं—कुत्रापि न ज्ञायते पद्मिन्युत्पत्तिः। राजा दध्यौ यदि पद्मिनी स्त्री पट्टराज्ञी न स्यात्तदा मम राज्यप्राप्तिरपि निःफला। मन्त्रिपत्नीं भोक्तुकामो राजा वैरोचनमन्त्रिणं दूरदेशं व्यापाराय प्रेषयन्, (राजा तु) रात्रौ एकाकी मदनविह्वलो मन्त्रिगृहद्वारमागत्य द्वाःस्थं प्रति प्राह—

आगतो द्वारि भूपालः, प्रतिहारो न मुञ्चति।
दैन्यं प्रोक्त्वा[च्य]च कामान्धः, प्रददौ रत्नकुण्डलम् ॥१॥

ततोऽग्रतो गच्छन् द्वितीयद्वारे याति, तावद्राजानमागच्छन्तमकाले दृष्ट्वैकाकिनं शुकोऽवग्—

श्रीभूपनन्दराजेन्द्र!, तव पादौ प्रणौम्यहम्।
वैरोचनः क्व च प्रैषि, किं कार्यं पुत्रमन्दिरे ॥२॥

राजा शुकं प्रति प्राह—

वासरेऽपि क्षुधा नास्ति, निद्रा रात्रौ न विद्यते।
मम कीर! महद्दुःखं, हृदये वसति कामिनी ॥३॥

शुकोऽवग्—

स्त्रियोऽर्थे च हतो *वाली—रामेण रावणो* हतः।
परगेहे न यातव्यं, परदारान् परित्यजेत् ॥४॥

राजाऽवग्—

कीर ! पण्डितचार्वाक !, जनानामतिवल्लभ !
परनिन्दा न कर्त्तव्या, परचिन्तां परित्यजेत् ॥५॥

शुकोऽवग्—

अपूर्वा दृश्यते वाणी, वृत्तिर्भवति चिर्भटान् ।
तस्मिन् देशे न यातव्यं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥६॥

राजाऽवग्—

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति, तुष्टे नैव धनागमः ।
आगमो निर्गमो नास्ति, स रुष्टः किं करिष्यति ॥७॥

राजा शुकवचनमवगणय्य यावदग्रतोऽचालीत् तावदग्रे मार्जारः फेत्कारान् भृशं कुरुते स्म । शुकः पुनर्मार्जारं क्रन्दन्तं श्रुत्वा प्राह राजि [राज्ञि] शृण्वति—

मा त्वमाक्रन्द मार्जार ! नन्दो राजा न तस्करः ।
अमृते विषमुत्पन्नं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥८॥

राजाऽवग्—

न पश्यन्ति हि जात्यन्धाः कामान्धो नैव पश्यति ।
नहि पश्यति मदोन्मत्तः, अर्थी दोषान्न पश्यति ॥९॥

ततोऽवमन्य शुकं भूपमागच्छन्तमकाले दृष्ट्वा मन्त्रिपत्नी शय्यां मुक्त्वा एकतः स्थित्वा प्राह—

राजन् ! शान्तिं व्रजाह्वाय, रक्ष देहं धनादिकम् ।
मन्त्रीशस्ते सुतो नूनं, कीरवाक्यप्रजल्पनात् ॥१०॥

राजा मन्त्रिपत्नीवचः श्रुत्वा ध्वनितशिरः[गिरा] प्राह—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, सत्यं च कीरभाषितम् ।
वैरोचनः सुतो मेऽयं, त्वं च कुलवधूर्मम ॥११॥

इत्येवमुक्त्वा लज्जितो राजा शीघ्रं मन्त्रिपत्नीवाहनिकां परिधाय स्वीयां[च] तत्र विस्मृत्य कीरपार्श्वे भूत्वा द्वारमेत्य द्वास्थं प्रति प्राह—

अमृतं मधुसंयुक्तं, वणिग्पुत्रगृहे न तु ।
न पपौ नृपतिस्तत्र, पश्चादर्प्य कुण्डलम् ॥१२॥

द्वास्थोऽवग्—

वारिमध्यस्थिता गावः, पिबन्ति न पिबन्ति च ।
निर्दोषास्तत्र गोपाला, हारितं रत्नकुण्डलम् ॥१३॥

राजाऽन्योक्त्या स्वयमेवावबोध्य स्वगृहे गत्वा सुष्वाप ।

इतोऽकस्माद्वैरोचनो विदेशाद् गृहे यावद्रात्रावागच्छति, तावद्भूपवाहनिकां दृष्ट्वा चकितो दध्यौ–किमत्र राजाऽऽगतोऽभूत् । यावद्विलोकयति सम्यग् तावत्पत्नीवाहनिकां न पश्यति च चिन्तितं–नूनं राजाऽत्रागतो मम गृहे, स्त्रीणां पुरुषाणां च चरित्रस्य पारं न पार्यते । यदि भार्यापृच्छ्यते तदा कूटजल्पनादेवचक्रेण भस्मीभवति तेन राजैव पृच्छ्यते एवं विमृश्य भार्यामुत्थाप्य माङ्गल्यच्छलेन भूपवाहनिका छत्रोपरि संस्थाप्य पञ्चशब्दपूर्वं वैरोचनः भूपपार्श्वं गत्वा प्रणनाम छत्रमग्रे मुक्त्वा प्राह च—

तृषाक्रान्तो गतो हस्ती, पयःपातुं सरोवरे ।
पीतं नवेति वक्तव्यं, सत्यं राजन् ! त्वयाऽधुना ॥१४॥

राजा चकितः स्वं रूपं मत्वा प्राह—

तृषाक्रान्तो गतो हस्ती, पानीयं पातुमुद्यतः ।
दृष्ट्वा सिंहपदौ तत्र, न पीतं वारि शीतलम् ॥१५॥

ततो राजा स्वपदौ विलोकयति यावत्तावत् स्त्रीवाहनिकामुत्तार्य छन्नां कृत्वा पुनः प्राह—

सत्यं सिंहो गतस्तत्र, पानीयं पातुमुद्यतः ।
सत्यं कीरोदितं सर्वं, न पीतं शीतलं पयः ॥१६॥

ततः वर्द्धापनागतां वाहनिकां परिधाय स्त्रीवाहनिकां स्थालोपरि मुमोच । वैरोचनेन सर्वं ज्ञातं, राजा[ज्ञा] मन्त्री मानितः, मन्त्री पञ्चशब्दपूर्वं राजपथेन पश्चाद्गृहे आगतः । भार्या पृष्टा सती सत्यं प्राह राजपार्श्वगमनादिस्वरूपं भार्याग्रे प्रोक्त्वा[च्य] दध्यौ हृदि धन्येयं भार्या, शुको धन्यः, राजापि धन्यः, भाग्यं विनैवं योगो न लभ्यते, यतः—

पत्नी प्रेमवती सुतः सुविनयो भार्या गुणालङ्कृता,
स्निग्धो बन्धुजनः सखातिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः ।
निर्लोभोऽनुचरः परार्त्तिशमने प्राप्तोपयोगं धनं,
कल्याणाभ्युदयेन सन्ततमिदं कस्यापि संपद्यते ॥

राज्ञा ग्रासो वर्द्धितः । अर्द्धराज्याधारोऽभूत् । मन्त्रिणश्चत्वारः पुत्राः क्रमादभूवन् । अन्येद्युः सभायां मन्त्रियुतो राजा यावदुपविष्टः तावदकस्माद्वनपालक आगात् भयभ्रान्तचेताः प्रोवाचैवं च—

देवाद्य नन्दनोद्याने, महाकायः किरिः कुतः ।
उन्मूलयंस्तरूनाम्र–कदल्यादीन् समाययौ ॥१७॥
श्रुत्वैतद्भूपतिर्दध्यौ, मयि शासति मेदिनीम् ।
उपद्रवः कथं पुंसां, जायते नूनमंशतः ॥१८॥

ततो राजा संनह्य मन्त्रियुतः सपरिच्छदो वराहं हन्तुं वने ययौ, प्राह च—कुत्रास्ति वराहः ? वनपालकेन दर्शितः । राज्ञो मण्डलीं मण्डयित्वा वराहो हक्कितः, रे दुष्ट ! पापिष्ट ! वहिर्निर्गच्छ कुञ्जात् । श्रुत्वैतत् सूकरो घुर्घुरारावं कुर्वन् वहिर्निर्गत्य राजमन्त्रिपार्श्वे स्थित्वा निर्ययौ । राजा मन्त्री च तत्पृष्ठौ धावितौ वायुवेगाश्वारूढौ । परिवारः पश्चात्स्थितः । कियतीं भूमिमागत्य श्रान्तौ राजमन्त्रिणौ, सन्ध्यायां स्थितौ वराहश्छलं कृत्वा क्वचिद्ययौ । ततो द्वावपि खिन्नौ जजल्पतुः, सन्ध्या पतिता आवां दूरभूमिमागतौ । तृट् लग्ना । अत्रवने सिंहादयो वहवः सन्ति, कथं रात्रिर्गमिष्यते ? एवं जल्पतोर्द्वयोः मन्त्री नीतिज्ञोऽवग्—

बृहद्भानोर्महाज्वालां, ज्वलन्तीं वीक्ष्य दूरतः ।
सिंहाद्याः श्वापदाः सर्वे, तिष्ठन्ति दूरतः खलु ॥१९॥

एवं विमृश्य काष्ठान्यानीयाग्निं प्रज्वाल्य महाज्वालां ज्वलन्तीं कृत्वा जागरितौ द्वावपि रात्रिं निन्यतुः, यतः—

उद्यमे नास्ति दारिद्र्यं पठने नास्ति मूर्खता ।
मौनेन कलहो नास्ति, नास्ति जागरतो [जागरिते] भयम् ॥

प्रातः सूर्यचारवशेन स्वपुरीमार्गं विज्ञाय द्वावपि चलितौ । तृट् लग्ना भृशं, राजाऽवग्—मन्त्रिन् ! विलोकय जलादिस्थानं कुत्राप्युच्चैश्चटित्वा । भूपादेशं प्राप्य तावत् वृक्षे चटित्वा दूरतो नीलशाड्वलदलकाकपतनादि च दृष्ट्वाप्राह मन्त्री—

राजन्नितो दिशि प्राच्यां, संभाव्यते पयः स्थितिः ।
शाड्वलबहुलप्रांशु-वनकाकादिसंभवात् ॥२०॥

दृश्यन्ते बहवो वृक्षा, घनपत्रसमन्विताः ।
काकाः कलरवो यत्र, तत्र तोयं भविष्यति ॥२१॥

राजाग्रे उपरि स्थितो दिशमुक्त्वा स्वयं च दिशं स्थिरीकृत्य वृक्षादुत्तीर्य मन्त्री भूपपार्श्वे आगात् । ततो दिगनुसारेण द्वावपि तत्र पूर्वदृष्टवने ययतुः, दृष्टं महासरः, चटितो पालिं यावत् तावद्दृष्टं शुष्कं सरः खिन्नो द्वावपि । चिन्तितमहो कर्मणां गतिः । तृट् लग्ना पानीयं तु न प्राणायास्यन्ति । मन्त्री प्राह—राजन् ! काकसंभवात् कुत्रापि जलं भविष्यतीति प्रोक्त्वा[च्य] राजानं पालितरुच्छायायां मुक्त्वा जलभाजनं लात्वा काकानुसारतः सरःपार्श्वे भ्रमन् महतीं वापीं जलपूर्णां दृष्ट्वा मन्त्री मुमुदे, समुद्रश्चन्द्रोदयमिव । मध्ये प्रविश्य जलभाजनं पानीयभृतं कृत्वा यावत्त्वरितं निस्सरति तावद्भित्तौ प्रशस्तिं प्रेक्ष्य वाचयामास, तन्मध्ये एकं वाचयति, यथा—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं मन्त्रिणं दृढम् ।
अर्धराज्यहरं सद्यो, यो न हन्यात्स हन्यते ॥२२॥

चिन्तितं मन्त्रिणा कदाचिद् भूपोऽत्रागमिष्यति तदा मां मारयिष्यत्येव । तेन कर्दमेन श्लोकाक्षरान् स्थगयित्वा यास्यामीति कृत्वा श्लोकं कर्दमेनाच्छाद्य पानीयं लात्वा राजपार्श्वं गतः । राजा-

ऽम्भः पपौ। चिन्तितं च अहो ईदृशं जलस्थानमस्ति, विलोक्यते बहु जीवितव्यं विना विलोकितं वरमिति ध्यात्वा मन्त्रिणं तत्र मुक्त्वा राजा वापीं द्रष्टुं गतः। वापीं विलोक्य पश्चाद्वलन् प्रशस्तिं वीक्ष्य तन्मध्ये एकं श्लोकं तत्कालार्द्रकर्दमस्थगितं वीक्ष्य दध्यौ अपरः कोऽप्यधुनाऽस्मिन् वने दृश्यते न।

अयं तु श्लोकोऽधुनैवाच्छादितः संभाव्यते, तेन केनापि कारणेन स्थगित इति ध्यात्वा जलेन कर्दममुपसार्य श्लोकं वाचयामास—"तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्य"मित्यादि।

दध्यौ च नूनं मन्त्रिणा स्थगितः। एवं विचिन्त्य पश्चादागतस्तावन्मन्त्रिणा चकितेन श्लोकं स्थगितमस्थगितमित्यादिविकल्पपरः पयो दूरं त्यक्त्वा मायया तृषाक्रान्तो भूत्वा मुखं प्रसार्य स्थितः, राजा आगात् जगाद च—मन्त्रिन्नीदृशः कथं दृश्यते। मन्त्री प्राह—मायया जलं गतं तृषा लग्ना पानीयमानयामि पश्चाद्वल्यते पुरं प्रति, एवं कृत्वा मन्त्री श्लोकवाचनार्थं गतो वाप्यां यावद्विलोकयति तावत्कर्दममपसारितं दृष्ट्वा दध्यौ—नूनं भूपेन वाचितः श्लोकः, भूपो मां मारयिष्यति, किं करिष्यति भययुगभूत्, पादौ पश्चादागन्तुं न वहतः, वेला लग्ना चलितः यावत्तत्रायाति तावद्राजा सुप्तः। सुप्तं भूपं दृष्ट्वा दध्यौ मन्त्री अयमेवावसरः मारणे यदा जागरिष्यति तदा मां मारयिष्यति। राजान आत्मीया न भवन्ति, यतः—

काके शौचं, द्यूतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः, स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं, मद्यपे तत्त्वचिन्ता, राजा मित्रं, केन दृष्टं श्रुतं वा॥

एवं ध्यात्वा राज्ञः खड्गमादाय मन्त्री राजानं सुप्तं जघान। तत उत्पाट्य पालिमध्ये च चिक्षेप भूमौ।

अत्रान्तरे पालिस्थ[म]द्राक्षवृक्षशाखायां विशालानगरवास्तव्यो वानराह्वो मालिकः स्थितः। सर्वं राजमारणादिकं दृष्ट्वा भयभ्रान्तः शाखान्तरं गतः। तावन्मन्त्री शाखाकम्पनं दृष्ट्वा श्लोकं प्राह—

शाखा प्रकम्पिता येन, वानरेण नरेण वा।
अचिरेणैव कालेन, शाखाभेदो विनश्यति॥२३॥

मालिको मन्त्रिवचः श्रुत्वा दध्यौ—अहमनेनात्र स्थितो, ज्ञातो वा नेति ध्यायन् मौनी बभूव।

मन्त्री तु तदा एवमुक्त्वा तुरंगमौ द्वौ लात्वा पुरमेत्य प्राह, राजलोकाग्रे—राजा दूरतो वने मारितः खादितश्च। ततो राज्ञी प्राह अहं न जीविष्यामि। मन्त्रिणा सुकुमालवचनैः शान्तीकृता राज्ञी, शोक उत्तारितः, मन्त्री प्राह—सर्वेषामग्रे, इयं राज्ञी सगर्भाऽस्ति, सुतो भविष्यतीति संभाव्यते, तेन राज्याऽपरै राजलोकैश्च खेदो नानेयः, भवितव्यताग्रतः कोऽपि न छुटिष्यति, यतः—

आन्ध्यं यद् ब्रह्मदत्ते, भरतनृपजयः, सर्वनाशश्च कृष्णे,
नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपते,स्तीर्थनाथेऽन्नलात्वम्।
निर्वाणं नारदेऽपि, प्रशमपरिणतिः सा चिलातीसुतेऽपि,
इत्थं कर्मात्मवीर्ये स्फुटमिह जयतः स्पर्धमाने जगत्याम्॥

यावता पुत्रो राजयोग्यो न भविष्यति तावदहं राज्यरक्षां करिष्यामीति कृत्वा स्वयं नन्दभूपवद्राज्यं चकार वैरोचनमन्त्री ।

ततो वानरो मालिको वैरोचनं राज्यं कुर्वाणं श्रुत्वा भयभ्रान्तो बहिरेव तस्थौ नायातो पुरमध्ये, नन्दपत्नी प्राप्तसमये सुतं प्रासूत, पूर्वेव रविं पुत्रजन्मोत्सवः कृतः ।

पुत्रो लाल्यमानः षड्वर्षप्रमाणो लेखशालायां मुक्तः, सर्वेऽपि लेखशालिका हसन्ति पराभवन्ति च निष्पितृकोऽयमिति ।

मातुरग्रे आगत्यावक्–मम पिता कुत्र मृतः, कथं वेति वद । माताऽवग्—वैरोचनमन्त्रिणा युतस्तव पिता शूकरपृष्ठो धावितः दूरतो ययौ । वैरोचनेनोक्तं—नन्दो राजा वराहेण मारितः खादितश्च सम्यगहं न जाने किमभूत्ततःप्रभृति वैरोचनो राज्यरक्षां चकार । श्रुत्वैतन्नन्दभूपाङ्गजो दध्यौ–मम पितैवं कथं वराहेण मार्यते । यथा मृतोऽभूत्तथा मया ज्ञातव्यः । ततश्चिन्तापरश्चतुरो राजपुत्रः सदा रात्रौ कृष्णवस्त्रं परिधाय पुरमध्ये चतुरशीतिहट्टश्रेणिषु सेरिकासु सेरिकासु च भ्रमति स्म । क्रमात्सर्वशास्त्रज्ञोऽभूत् पठन्, यतः—

जले तैलं, खले गुह्यं, पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति, विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥

राज्ययोग्यं पुत्रं ज्ञात्वा माता मन्त्रिपार्श्वात् राज्यं पुत्राय दापितवती । नन्दपुत्रोऽपि राज्योपविष्टः सदा रात्रौ छन्नं पुरमध्ये भ्रमति स्म । द्वादशवार्षिको जातः क्रमात्स नन्दपुत्रः अन्येद्युः रात्रौ वानरमालिकस्य गृहपार्श्वेऽभ्येत्य राजा यावत्स्थितः तावदितो वानरमालिको नन्दपुत्रं राज्याधिष्ठितं श्रुत्वा रात्रावेव गृहद्वारे आगतो विलोकयति यावत्तावद्गृहमध्ये दीपं ज्वलन्तं दृष्ट्वा मातापितरावदृष्ट्वा दध्यौ नूनमनया कोऽप्यन्यः पुरुषोऽङ्गीकृतः संभाव्यते । एवं विचिन्त्य काव्यमेकं प्राह—

कमलदलसुनेत्रे हारिहाराभिरामे, स्तनतटकटहंसै रोमरङ्गैः सुरङ्गी[ङ्गि] ।
अमलतपसुरूपे ! पद्मवक्त्रे ! जिताब्जे, कृतिमनुजनिषेव्या वर्त्तसे किं प्रियेऽद्य ॥२४॥

श्रुत्वैतत्काव्यं भ्रान्तचित्ता प्राह मालिका—

तपनियमविधानैः शोषितं येन गात्रं, बहुकुसुमसमूहैः पूजितो येन देवः ।
रणमुखगजदन्तैर्येन भग्नं शरीरं, तदमलपतिसेव्याऽहं सदा नान्यपुंसः ॥२५॥

एतावद्भार्यावचः श्रुत्वा स्वस्थचित्तः कुशलस्वरूपं बहिःस्थ एव पप्रच्छ भार्याम्—

गृहे कुशलता कान्ते !, पिता मिता न दृश्यते ।
प्रदीपकरणं कस्मा—न्मध्यरात्रौ वद प्रिये ॥२६॥
स्वामिन्नहं निशीथिन्यां, तपश्चान्द्रं वितन्वती ।
देवस्य साम्प्रतं दीप—मकार्षमर्चनाकृते ॥२७॥
त्वं किं पृच्छसि हे भर्त्तः !, निःस्नेहोऽसि प्रियो मम ।
मातापित्रोः सुखं दुःख, जीवितं च पुनः पुनः ॥२८॥

श्रुत्वैतन्मालिकः प्राह—

पद्मपत्रविशालाक्षि !, पुरे वसति मालिके ! ।
सा मे दहति गात्राणि, शाखावैरोचने यथा ॥२९॥

श्रुत्वैतद्भर्त्तृवचो हर्षिता तत्कालमेव द्वारमुद्घाट्य गृहमध्ये नीत्वा मातापित्रोर्मेलितः मातापितरौ ननाम, मातापितरौ प्रतिजगदतुः पुत्रम्—

दीनौ वृद्धौ गलद्गात्रौ, आवां दृग्विकलौ भृशम् ।
मुक्त्वा कथं सुतैतानि, वर्षाणि दूरतः स्थितः ॥३०॥

पुत्रः प्राह—

मातः पितरहं दूरे, मृत्युभीतोऽतिदुःखितः ।
वर्षाण्येतानि कष्टेन, सहमानः स्थितश्चिरम् ॥३१॥

ततो गृहद्वारे शय्यायामुपविष्टौ मालिकामालिकौ वार्त्तां कर्त्तुं प्रवृत्तौ तां वार्त्तां श्रोतुं नन्दभूपपुत्रोऽरिमर्द्दनो द्वारे समेत्य शनैः स्थितः । मालिका मालिकं प्रति प्राह—स्वामिन्नहं वैरोचने शाखावत्कथं भवतो गात्राणि धक्ष्यति । मालिकोऽवग्—

मां मा पृच्छसि हे कान्ते !, शर्वरीप्रहरद्वयम् ।
शृणोत्यन्यो वचश्चेन्मे, जायते मरणं ध्रुवम् ॥३२॥

स्त्री प्राह-छन्नं प्रिय ! मनाग्वद । मालिकोऽवग्—रात्रौ छन्नमपि वक्तुं न युज्यते—

दिवा निरीक्ष्य वक्तव्यं, रात्रौ नैव च नैव च ।
संचरन्ति महाधूर्त्ता, वटे वररुचिर्यथा ॥

प्रिया बलं कुर्वाणा प्राह—वद स्वामिन् अत्र तु कोऽपि नास्ति, छन्नं निगद्यतां, ततो बालाबलात्कारमलङ्घनीयं मत्वा मालिकोऽवग्—

नन्द वैरोचनावश्वा—पहृतौ विपिने गतौ ।
अहन् वैरोचनो नन्दं, मया शाखा प्रकम्पिता ॥३३॥

मालिकाऽवग्-स्वामिन् ! विस्तारेण कथय, ततो मालिको पूर्वं दृष्टं यथा पत्न्यावकथयत् । राजा तं मालिकोक्तां पितृमरणवार्त्तां (श्रुत्वा) खिन्नहृदयोऽभिज्ञानार्थं मालिकगृहद्वारे ताद्दकभित्तौ इदं श्लोकमालिलेख—

नान्देन भ्रमता रात्रौ, पुरमध्ये निरन्तरम् ।
पितृमरणवृत्तान्तो, ज्ञातः सम्यग्नराननात् ॥३४॥

ततो राजा गृहमभ्येत्य वैरोचनव्यतिरिक्तप्रधानानाकार्य प्राह—मम पितुर्मारको मया ज्ञातो नगरमध्ये । प्रधानैरुक्तं—महान् लघुर्वा भवतु स मारयिष्यते एव, इत्येवं विचारं कृत्वा मालिकगृहद्वारे गत्वा स्वकृतं श्लोकं दर्शयित्वा राजा मालिकं प्रत्यवक्—द्वारमुद्घाटय । मालिका वक्ति—द्वारं नोद्घाटयामि । मालिको बहुजनसमुदायं दृष्ट्वा छन्नं स्थितः । राज्ञोक्तं—तव भर्त्ता

कास्ति ? तयोक्तं—गृहे नास्ति, राज्ञोक्तं–कूटं किं जल्प्यते, तव भर्त्ता विदेशादद्य रात्रावेव गृहे आगतोऽस्ति। तया चिन्तितम्–अहो दैवविलसितम् अहो दैवविलसितम् अद्यैव बहुवर्षेभ्यो भर्त्ता गृहे आगतः, न ज्ञायते कस्माद्धेतो राजा रुष्टः, प्रोवाच च—

बहुब्देभ्योऽधुना कान्तो, निःष्कलङ्को ममागमत् ।
नृपाकारणतोऽकस्मा—त्सङ्कटं पतितं पुनः ॥३५॥

श्रुत्वैतद्राजा प्राह—

हे मालिके ! न ते भर्त्तु—र्दुष्टं कोऽपि करिष्यति ।
भविष्यति महापूजा, सत्यं वद सुशालिनि ! ॥३६॥

अहं राजा कारणेनागतोऽस्मि किञ्चित्प्रष्टुं गूढम्। ततस्तया द्वारमुद्‌घाटितं, मेलितो भर्त्ता, धीरां दत्त्वैकतो नीत्वा प्रधानेषु शृण्वत्सु आत्मीयपितुर्मरणवृत्तान्तं राजा पप्रच्छ। मालिकोऽवग् कथि(थयि)तुं न शक्यते, कथिते सति मम मरणमेव शरणं। राज्ञोक्तं–भेतव्यं न, तव महापूजा—राजसन्मानं भविष्यति । अन्यत्किमपि नानेयं, राजा त्वहमेवाधुनास्मि। ततो मालिक आमूलचूलं नृपमारणवृत्तान्तं वैरोचनविहितमचीकथत्। कथितं च तत्र पाली अस्थीनि सन्त्यद्यापि भूमध्ये। ततो राज्ञा भयं नानेयं त्वयेत्युक्त्वा मालिका विसर्जितो गृहमध्ये गतः। ततो राज्ञा स्वावासमभ्येत्य वैरोचनस्याकारणं कृतं, वैरोचनो यावदुत्थाय चलति तावत्संमुखा छिंकाऽभूत्, चिन्तितं किमपि विघ्नं भावि, यतः—

उत्थितस्य पदौ दातुं, चलतः संमुखी हि क्षुत् ।
मरणाय भवेन्नून—मथवाऽनर्थदायिका ॥

पश्चाद्वलित्वा स्वस्थाने उपविश्य विलम्बं कुर्वाणं वैरोचनं राज्ञा मत्त्वा कटकं प्रेष्यते गृहं वेष्टितं प्रोचुर्भूपभृत्याः–भो वैरोचन ! नन्दभूपमारक अह्नाय गृहाद्बहिर्निस्सर पापस्य फलमधुनैव द्रक्ष्यसि। श्रुत्वैतच्चकितः स्वपूर्वचेष्टितं स्मृत्वा पुत्रानुत्थाय वैरोचनः प्राह राजा रुष्टः। हे बृहत्पुत्र ! मां मारय राजपार्श्वे गतं, त्वं खड्गेन पश्चात्सर्वेऽपि पुत्राः सुखिनो भविष्यन्ति। पुत्रः प्राह—एवं कथं क्रियते।

माता–पितासमं तीर्थं, नास्त्यशेषे भुवस्तले ।
तत्तीर्थं घ्नन्नहं यामि, घोरं नरकसंश्रयम् ॥

श्रुत्वा वैरोचनोऽवग्—

राजा बन्धुरबन्धूनां, राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च, राजा वंशस्य रक्षकः ॥

एवं द्वितीयतृतीययोः पुत्रयोः कथितं पुनरेकोऽपि पुत्रत्रयाणां मध्ये पितरं मारयितुं नेहते, ततश्चतुर्थो लघुराकारितः प्रोक्तं वैरोचनेन सर्वप्रकारेण लघुरपि वृद्धः मामसिना राजदृष्टौ मारय। तेनाङ्गीकृतं पितृवचः। ततः पित्रा शिक्षितः। हे पुत्र ! यदाहं राजदृष्टौ यामि तदा त्वया खड्गं कर्षयित्वाऽहं मारयितव्यो विचारो न कार्यः। मारणादनु वक्तव्यं त्वया राज्ञो मारकस्यैवं

गतिर्भवति। इत्यादि प्रोक्त्वा(च्य) पुत्रमग्रे प्रेष्य भूपपार्श्वे गते पुत्रे मन्त्रिणा भार्या पृष्टा-त्रिभिः पुत्रैर्मम मारणवचो नाङ्गीकृतं चतुर्थेनाङ्गीकृतं, तत्र किं कारणं ? भार्ययोक्तं—ऋतुसमये मम द्रष्टौ काहलिक आगात्, मम रोष उत्पन्नः, तेनायं पुत्रोऽपि दुष्टबुद्धिरभूत्। पुत्रस्वरूपं मत्वा मरणागतं मत्वा साहसमवलम्ब्य राजसेवकानां मिलित्वा वैरोचनो यावद् भूपदृष्टौ गतः, तावद् भूपः पराङ्मुखोऽभूत्, पुत्रेणासिमाकृष्य पितुःशीर्षं चिच्छेद। प्रोक्तं च-नन्दभूपमारकस्यैवं गतिर्भवतीत्यादि। प्राह च—

वैरं वर्षसहस्रेषु, वैरं वैरोचने यथा ।
यावत्शाखे सुतास्ताव—च्छत्रवो मां पुनः पुनः ॥३७॥

राज्ञो त्वा वैरोचनपुत्रमारितं दृष्ट्वा संमुखोऽभूत् प्राह—कियन्तः सन्ति भवतो बान्धवाः ? तेनोक्तं-चत्वारः। ततस्त्रयोऽप्याकारिताः, पितुरग्निःसंस्कारः कारितः। पट्टभक्तं वैरोचनस्य लघुपुत्रं सर्वाधिकारिणं कृत्वा अपरेषां मन्त्रिपुत्राणां यथायुक्तमधिकारित्वादिव राजा मालिकं ग्रामदशदानेन सन्तोष्य नन्दभूपपुत्रः सुखी बभूव। इति श्रीतपागच्छशृङ्गारगच्छनायकश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्येण शुभशीलेन लौकिकनन्दवैरोचनमन्त्रिकथा परद्रोहोपरि कृता ॥१०२॥

[103] कलहे सरडद्वयकथा ।

जो जस्स उवसमई, विज्झवणं तेण तस्स कायव्वं ।
जो उवेहं कुज्जा, आविज्जइ मासिअं लहुअं ॥ १ ॥

कलहं कुर्वाणं जनमुपेक्षते हसति च उत्तेजयति साहाय्यं वा करोति स प्रायश्चित्तं प्राप्नोति कथा चात्र—

वणसंडसरे जलचर—खहचरविसमणदेवयाकहणं ।
सरडुक्कवेखंडण—धारणगयमासमूरणया ॥२॥

क्वापि वनखण्डमण्डिते सरसि जलचरखेचरस्थलचराणां विश्रामस्थाने गजयूथं तिष्ठति वसति च। एकदा तत्र *सरड(ट)भण्डनं सरड(ट)युद्धं दृष्ट्वा वनदेवतया प्रोक्तं—

भो नागा जलचरवासि, आसुणेह तसथावरडा भिडंति ।
अभावो परियत्तइ, भो नागा ! जलवासिआ ॥ ३ ॥

मत्स्यादयः शृण्वन्तु मद्वचः-यत्र सरडा भडंति कलहाय, तत्राभावः प्रवर्त्तते । विनाशः संभाव्यते ततो यूयं वारयत ।

ततस्तैर्नागादिभिश्चिन्तितं किमस्माकमेते वराकाः सरडाः कलहायमाना करिष्यन्ति इति । ते उपेक्षन्ते । तत एकेन सरडेन द्वितीयो निर्द्धारितः । ततः स नंष्ट्वा प्रसुप्तस्य एकस्य गजस्य नासायां प्रविष्टः, द्वितीयोऽपि पृष्ठं प्रविष्टः, तत्रापि कलहायन्ते, ततो गजस्यारतिर्महती पीडा च संजाता। ततो रुष्टेन तेन गजेन सर्वं वनं चूर्णीकृतं, सरांसि चालोडितानि, जलचरादयो व्यापादिताः,

* काकीडा ।

सोऽपिनष्टः अयमर्थोपनयः- एवमत्रापि आचार्याणामुपेक्षमाणानां महान् दोषः स्यात्, तस्मादुपेक्षा न कार्या. कलहो निवार्य एव । इति कलहे सरटद्वयकथा ॥१०३॥

[104] अथ औदार्ये कुमारपालभूपसम्बन्धः ।

पत्तनेऽन्यदा श्रीकुमारपाले भूपे राज्यं कुर्वाणे वैतालिका वैदेशिकः सकौपीनः सन्ध्यायामाजगाम, गणिकागृहे तत्र यष्टिमुद्राणके मुक्त्वा वासकं स्थितः । प्रातर्यदा राजा भूरिधनं दास्यति तदा मया ग्राह्यमिति ध्यात्वा भूपसभायां स गतः । स च भूपेन पृष्टः, कुत आगतः ? ततो वैतालिको जगौ—स्वर्गात्त्वां द्रष्टुमत्रागाम्, त्वां विना तत्रैव स्वर्गे एवं जायमानमस्ति—

अपच्छर नच्च न पिक्खणइ, सुरतरु गंध न देइ ।
भेर न वज्जइं सुरभवणि, तुह गिरि कुमर ! सुणेइ ॥१॥

ततो राजा तस्मै हेम्नो दशशतीं ददौ, तदनु वैतालिको जगौ—

कोडि टंक कलक्खहयसहसतिमत्तगयंद ।
कुण अप्पइ पट्टणट्ठिउ, विणु सिरि कुमरनरिंद ॥२॥

ततो राजा पूर्वदत्ताद्द्विगुणं दापितं, स च गतो निजस्थाने, तां श्रियं क्रमाद्भुक्त्वा राजपथि स्थितं तं वैतालिकं दृष्ट्वा राजाऽप्राक्षीत्, क्व गतं तद्धनं स प्राह—

उर अंतर वाहलया, थणपव्वयरोमराइवणगहणं ।
सुरनरगणगंधव्वा, नग्गवि आमयणाचारेण ॥३॥

ततः पुनर्धनं दत्त्वा राजा स्वपार्श्वे स्थापितः, क्रमाद्धर्ममङ्गीकारितः स भूपेन ।

इति औदार्ये कुमारपालभूपसम्बन्धः ॥१०४॥

[105] अथ कलिधर्मे सर्पकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी तस्य प्रेमवती पत्नी वभूव । क्रमाल्लक्ष्मीमुपार्ज्य चत्वारः कलशा राभिर्भृताः । गृहचतुःकोणेषु न्यस्ता रहः एकदा श्रियमर्जयितुं विदेशं प्रति चिचलिषुं पतिं पत्नी प्राह—सार्द्धं समेष्यामि । पतिः प्राह—तव प्रतिबन्धो मे स्यात् । पत्नी प्राह-त्वं गत्वा यदा तत्रास्थाः तदा मे का गतिः ? विदेशे वर्या नार्यो भवन्ति, ताभिः कामितः सन् तत्रैव स्थास्यति । स प्रहाहं त्वां विना नान्यां पत्नीं करिष्ये, अस्मिन् भवे यदि कदाचिद्द्रव्यार्जन—लोभात्तत्र स्थास्यामि तदाऽहं त्वां तत्राकारयिष्यामि ।

अत्र गृहमध्ये चतुःकोणेषु रैकुम्भाः सन्ति तेषां सारा कार्या । यद्यहं तत्र स्थास्यामि तदा त्वं रैकुम्भान्नीत्वाऽऽगच्छेः । पत्न्या मानिते पतिश्चचाल । तदा धूर्त्तचौरेण श्रेष्ठ्युक्तं श्रुतं । श्रेष्ठी कुङ्कणदेशे गत्वा श्रियमर्जयति । इतः स धूर्त्तो रहः कूटं लेखं लिखित्वा प्रेमवत्यै ददौ, तयेति वाचितः—

"त्वं पत्नि ! रैकुम्भान् चतुरोऽपि लात्वाऽनेन पुंसा समं मम पार्श्वे चन्द्रपुरे समागच्छेः" ।

ततस्तया रैकुम्भान् लात्वा रथं कृत्वा तेन पुंसा सह चलिता । क्रमाद्गच्छन्त्या तया

धूर्त्तो ज्ञातः, ततस्तदाऽकस्मात्तस्याः पितृग्राममध्ये गत्वा पितुरग्रे धूर्त्तचेष्टितं ज्ञापयित्वा धूर्त्तो निर्द्धाटितः। ततः स्वपुरेऽभ्येत्य सा स्थिता। क्रमात्पतिः कृष्णास्यः समागात्। पत्न्योक्तं—किं ते कृष्णास्यं, तेनोक्तं–मयैकोऽहिरुपकारादग्नितः कर्षितः सन् वक्ति त्वां खामि, ततो मयोक्तं–मया तवोपकारः कृतः, त्वमेवं कि कुरुषे ? सर्प्पोऽवग्—"कलौ य उपकारं करोति स तेनैव हन्यते।" पत्न्यवग्—गच्छ, तत्र भीर्नानेया। ततः सा तत्र गत्वा प्राह भो सर्प्प ! किं तवोपकारकं मत्पतिं किं खासि ? सर्पोऽवग्–भो स्त्रि ! येनोपकारः क्रियते स हन्यते तेन। यदि मन्यते न त्वया तदा इयं महिषी प्रष्टव्या। ततस्तेन महिषी वृद्धा पृष्टाह–मया श्रेष्ठिनो गृहे दश महिष्यो जनिताः। अधुना श्रेष्ठी जल्पति आत्मनो गृहे शकटं भञ्जन्नस्ति [भग्नमस्ति] तेनास्या महिष्या वार्ध्रेण शकटं बध्यते मया तूपकारः कृतः। श्रेष्ठी त्वपकारं चिकीर्षुरस्त्येव ततश्चोक्तं महिष्या वृक्षठुण्ठकं पृच्छ। तेन पृष्टो ठुण्ठकोऽवग्–मत्तले योगी कुष्ठी स्थितः स नीरोगोऽभूत् ततस्तेनाहं मूलानां कर्षणादेवंविधः कृतः ततस्तयोक्तं–तथा कुरु यथा मत्पतिर्जीवति। ततो ठुण्ठकेनोक्तं—ममाधः स्थितां धूलीं लात्वा सर्पशीर्षे क्षिप, सोऽपिमरिष्यति। ततस्तया तथा कृतं, ततः श्रेष्ठी सुखी जातः। ततः सप्तक्षेत्रे स्वां श्रियं व्ययित्वा स्वर्गसुखं प्राप पत्नीयुतं क्रमान्मुक्तिं यास्यति। इति कलिधर्मे सर्प्पकथा ॥१०५॥

[106] अथ कुसंगविषये गोकथा।

कुसंगासंगदोषेण, साधवो यान्ति विक्रियाम्।
एकरात्रिप्रसंगेन, काष्ठघण्टाविडम्बना ॥१॥

अत्र कस्याचित्कौटुम्बिनो गौर्दुर्बला सती अन्यया गवा मत्तया सह लोकक्षेत्रं प्रविश्य सस्यं भक्षयन्ती क्षेत्रस्वामिना बहिः कर्षिता। पुनर्भूयोभूयस्तत्र याति ततः क्षेत्रस्वामिना कौटुम्बिको दण्डापितः। ततस्तेन गोस्वामिना सा गौर्गले काष्ठेन बद्धा। ततो विक्रेतुमापणे धृता तदा लोका जगुरियं गौः लोकक्षेत्रे प्रविशति। अतो विक्रीयते। तदा गौर्जगौ, अहं कुसंगेनैवंविधां दशां प्राप्ता।। इति कुसंगविषये गोकथा ॥१०६॥

[107] अथ इन्द्रियदमनादमनविषये सम्बन्धः।

वाणारस्यां पुर्यां आग्नेय्यां दिशि गङ्गानद्यामर्वाग् तीरे मृदङ्गह्रदोऽभूत्। स च गम्भीरः शीतलजलः कुमुदपङ्कजातिसुगन्धी[न्धि]पुष्पोपचितोऽभूत्। तत्र मत्स्यकच्छपादि जीवाः शतशः सुखं तिष्ठन्ति। तत्र द्रहपार्श्वे वल्लीगहनमस्ति। तत्र द्वौ पापश्रृगालौ वसतः। तौ पापौ चण्डरुद्रौ साहसिकौ पलाहारौ पलं गवेषयन्तौ रात्रिचारिणौ दिवा प्रच्छन्नं तिष्ठतः।

अन्यदा मृदङ्गह्रदपार्श्वे सायमाहारार्थिनौ कूर्मौ, श्रृगालौ दृष्ट्वा भीतौ हस्तादि संकोचयित्वा (च्य) स्थितौ। ततः पापश्रृगालौ मायया शनैःशनैर्ह्रदपार्श्वे तिष्ठतः। कस्यापि किमप्यपराधं न कुरुतः स्म। ततो विश्वस्त एकः कूर्मः पादं बहिः कर्षयामास। ततश्चपलगत्या तत्रैत्यैकं पादं भक्षयतः स्म, ततो द्वितीयं चतुर्थं पादं भक्षयतः स्म। ततः कूर्मो मृतः। द्वितीयः कूर्मस्तयोः श्रृगालयोः स्वरूपं ज्ञात्वा तत्रैव देहगुप्तोऽभूत्। स च सुखी जातः।

एवं यो यतिर्यतिनी वा आचार्य पार्श्वे प्रव्रजितः। क्रमाद्योऽगुप्तेन्द्रियो भवति, स प्रथमकूर्म-

नरकादिदुःखं प्राप्नोति। योऽपि गुप्तेन्द्रियो भवति स द्वितीयकूर्मवत्सुखी भवति।

तत्कूर्मस्थानीयौ साधू। शृगालस्थानीयौ रागद्वेषौ। ग्रीवापादस्थानीयानि ५ इन्द्रियाणि। पादग्रीवाप्रसारणस्थानीयाः शब्दादिविषयाः इत्यादि भावना कूर्मकथादृष्टान्त सिद्धान्त गतः। इति इन्द्रियदमनादमनविषये सम्बन्धः ॥१०७॥

[108] अथ अनित्यतायां लोमशऋषिकथा लौकिकी।

अनित्यतायां कथा चैवं—

कश्चिद्दीर्घदर्शी तापसो द्वादशवर्षसहस्राणि तपस्तेपे। मासोपवासान्ते पञ्चसु गृहेषु वद्धां भिक्षां याचते। यदा कदाचित्तेषु गृहेषु भिक्षां न लभते तदा मासोपवासः स च षष्ठे गृहे न याति। एवं ४ मासक्षपणानि यावत् लब्धमाहारं चतुर्भागीकृत्य जलचरस्थलचरखचरेभ्यो दत्त्वा चतुर्थं भागमेकविंशतिवारान् पयसा प्रक्षाल्य स्वयं भुङ्क्ते।

अथ मृतः स इन्द्रोऽभूत्। पृष्टं च देवानां पुरः केनायं स्वर्गः कृतः? इत्युक्ते देवा जगुः न केनापि कृतोऽयं, स्वयंसिद्धः। ततः शक्रो दध्यौ–जीर्णोऽयं, तेन नवीनं स्वर्गं करिष्ये। देवैरुक्तं नवीनः स्वर्गः केन कर्त्तुं शक्यते। शक्रोऽवग्—पूर्वेन्द्रा अशक्ताः स्वर्गं कर्त्तुमहं तु समर्थोऽस्मि। ततः सुरा जगुः—स्वामिन्! पूर्वं मर्त्यलोकं विलोकय पश्चात्स्वहितं कुर्याः। तत इन्द्रो मर्त्यलोकं द्रष्टुं गतः कस्मिंश्चिद्वने अर्कतरुमूले लोमशनामा ऋषिस्तपस्तप्यमानो दृष्टः, तत इन्द्रोऽवग्–कथं मढीं विना तपनातपं सहसे। ततः ऋषिरवग्–चतुर्दशचतुष्किकासु गतासु ममैकं रोम पतति, एवं पतति केशे यदा यदा कोटी रोम्णां पतिष्यति तदा मे पञ्चत्वं भविष्यति। तदा [किमर्थं] मढ्यादि-स्थानमोहो विधीयते मया। तत इन्द्रो दध्यौ–अस्य यतेरग्रे ममायुस्तुपारलवमात्रमतः स्वर्गकरणे को मोहः। ततो निवृत्त इन्द्रः स्वस्थानं गतः। इति लोमशऋषिकथा अनित्यतायां लौकिकी॥१०८॥

[109] अथ उच्छिष्टपुष्पचटापने मातङ्गसुतकथा।

धरायां पतितं पुष्पं, देवस्य पुनरेव न।
चटाप्यं विदुषा सोऽपि, उच्छिष्टो जायते भुवि ॥१॥

कामरूपपत्तने मातङ्गकुले दन्तयुक्तः पुत्रोऽजनि। मातङ्गो नष्टः। मात्रा वहिर्यात्वा स पुत्र-स्त्यक्तः। इतश्च राजपाटिकायां गतेन स दृष्टः परिजनैर्ग्राहितः, राज्ञा वृद्धिं प्रापितः। अन्ते तमेव पालित-पुत्रं राज्ये न्यस्य राज्ञा दीक्षा गृहीता। काले ज्ञानी संजातः। पुत्रबोधार्थं स आगतः। तत्र वन्दनार्थं राजापि गतः। सा मातङ्ग्यप्यायाता तं वन्दितुं, तां दृष्ट्वा राजा हृष्टः। तदा पुत्रस्नेहतो मातङ्ग्या पुत्रो ज्ञातः। राजापि तन्मुखं वीक्ष्य मुनेः पार्श्वे पृष्टं–मद्दर्शनान्मातङ्ग्याः प्रसवः कुतो हेतुरिति। मुनिनोक्तं—हे राजन्! एषा मातङ्गी तव माता, मया त्वं बहिःपतितो लब्धः, अपुत्रिणा सता राज्यं दत्तं, नृपः प्राह—केन कर्मणा एतन्मम कुल केन कर्मणा च राज्यं? मुनिनोक्तं—पूर्वभवे त्वं श्रीमान् व्यवहारी विवेकी च।

एकदा श्रीजिनेन्द्रं पूजयतः सुगन्धिपुष्पं पद्मासनोपरि पतितं, तत्सौरभ्यमिति ज्ञात्वा

पुनरपि बिम्बे चटापितं अस्नातेन, तेनैव कर्मणा मलिनपापमर्जितं, जातिस्मरणं—पश्चाद्भवस्मरणं दीक्षा गृहीता स्वर्गं गतः ॥ इत्युच्छिष्टपुष्पचटापने मातङ्गसुतकथा ॥१०९॥

[110] अथ धर्मपरीक्षायां सोमवसुदृष्टान्तः ।

धर्मो विवेकिना विचार्य ग्राह्यः सोमवसुवत् । तथाहि—

कौशाम्ब्यां दुःस्थो जन्मना सोमवसुविप्रोऽभूत् । क्रमाद् धर्मार्थ्यजनि चिन्तयति-धममहं परीक्ष्य कुर्वे । धर्मो कुलजातो न स्यात्, ततो दर्शनानि विलोकमानः क्वापि मते परिव्राजं धर्मं पप्रच्छ । मद्गुरुणा धर्मत्रिपद्युक्तेति—

'मिट्ठं भुंजेअव्वं, सुहं सोअव्वं, लोअप्पिओ अप्पा कायव्वो ।'

अर्थमकथयित्वा एव गुरुः स्वर्गं प्राप । ततश्चाहं स्वबुद्ध्या मिष्टान्नं भुञ्जे । लोकेभ्यः कारयित्वा मन्त्रौषधादिना लोकप्रियो भवामि । मृदुशय्यायां सुखं शये ।

सोमवसुश्चिन्तयति-मिष्टान्नभोजनमन्त्रतन्त्रज्योतिष्कादिप्रकाशनेन धर्मो न भवति किन्तु पापमेव विप्रोक्तं धर्मं श्रुत्वा पुनरपि अन्यत्र साधुपार्श्वे त्रिपद्यर्थं पृच्छति । सोऽवग्-साधुः एकान्तरे भोजने मिष्टान्नं, स्वल्पनिद्रायां सुखशयनं, निरीहत्वे लोकप्रियत्वं । सोमवसुर्दध्यौ—मार्गानुयाय्यसौ पुनस्त्रिलोचनमन्त्रिपार्श्वे त्रिपद्यर्थं पप्रच्छ, सोऽपि प्राह—अहं जाने परमभाग्यात्कर्तुं न पारये, अकृताकारितानुमतिभोज्यं परमार्थतो मृष्टं सुखदानात् अग्रतः सुगतिदानात्, विधिना स्वल्पनिद्रायां सुखशयनं, महानिरीहत्वे लोकप्रियत्वं, विश्वस्यापि स वल्लभो भवति द्विजस्तत्वज्ञानात् हृष्टो गच्छन् पञ्चसमितित्रिगुप्तियुतसाधुसमीपे क्रियमाणां त्रिपदीमपि श्रुत्वा प्रवव्राज । एवं विचार्य धर्मतत्वं ग्राह्यम् । इति धर्मपरीक्षायां सोमवसुदृष्टान्तः ॥११०॥

[111] अथ कुत्सितकर्म्मविषये सागरश्रेष्ठिकथा ।

चेइअदव्वं साहारणं च, जा दुहइ समाहियमईओ ।
धम्मं च सो न याणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥१॥
भक्खेइ जो उवक्खेइ, जिणदव्वं तु सावओ ।
पुण्णहीणो भवे सो उ, लिप्पए पावकम्मेण ॥२॥

अत्र सागरकथा—

साकेतपुरे सागरश्रेष्ठी परमार्हतः स च देवद्रव्यचिन्तां करोति । उक्तं च श्राद्धैः चैत्यकर्मकृतां यथायोग्यं कृतानुसाराद् धनं देयं, स तु सूत्रधाराणां रोक्यद्रव्यं न दत्ते, किन्तु स्वगृहसम्बन्धि गुडघृतादिमहार्घाणीति प्रोक्त्वा (च्य) दत्ते । एवं कुर्वता तेन एका काकिनी भक्षिता, ततस्तेन पापमर्जितं बहु । तत्पापमनालोच्य मृतो जलमानुषोऽभूत् ततो मृतस्तृतीयश्वभ्रं ययौ । उक्तं च—

देवद्रव्येण या वृद्धि—र्गुरुद्रव्येण यद्धनम् ।
तद्धनं कुलनाशाय, मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥३॥

श्वभ्रान्निर्गतः स मत्स्योऽभूत्ततश्चतुर्थ्यां भुवि एकादिभवान्तरे सप्तसु श्वभ्रेषु बभ्राम । यदाह—

भक्खणे देवदव्वस्स, परत्थिगमणेण य ।
सत्तमं नरकं जंति, सत्तवाराउ गोयमा ॥४॥

ततः एका काकिनी देवद्रव्यभक्षणात् सहस्रवारान् गर्त्ताशूकरोऽभूत् । एवं १००० शशक-शृगाल-मार्जार-मूषक-वृषभ-करभ-वेसर-तुरङ्ग-गजादिषु समुत्पद्य समुत्पद्य सक्षमितान् भवान् पूरयामास । एवं पृथ्व्यादिषु लक्ष-भवान् बभ्राम, सर्वत्र कुशस्त्रेण क्वचिदग्निना मृतः । ततः क्रमात् क्षीणकर्मा वसन्तपुरे दत्तेभवसुमत्योः पुत्रो जातः । तस्मिन् गर्भस्थे धनं नष्टं, जन्मदिने जनको मृतः, पञ्चमेऽब्दे माताऽपि विपेदे लोकैर्निःपुण्यक इति नाम ददे, रङ्कवृत्या जिजीव ।

अन्यदा स्नेहलमातुलेन दृष्टः, आनीतश्च स्वगृहे । रात्रौ मातुलगृहं चौरैर्मुषितमेवं यस्य वेश्मनि एकमपि दिनं तिष्ठति तद्गृहं चौराग्निप्रभृतिविघ्नेन भस्मीभवति । ततः "कपोतपोतोऽयं ज्वलती गड्डुरिका च मूर्तिमानुत्पातो वा" इत्यादि लोकनिन्दयोद्विग्नमना गतो देशान्तरं ताम्रलिप्तीं पुरीं गतः स्थितश्च विनयंधरेभ्यगृहे भृत्यवृत्त्या ज्वलितं च तद्दिने एव तद्गृहं निष्कासितश्च । ततः स्वं कर्म निन्दन् स्थाने स्थाने बभ्राम, यतः--

कम्मं कुणंति सवसा, तस्सुदयंमि अपरव्वसा हुंति ।
भरहं रुहइ सवसो, निवडेइ परव्वसो तत्तो ॥५॥

गन्तव्यं नगरशतं, विज्ञानशतानि शिक्षितव्यानि ।
नरपतिशतं च सेव्यं, स्थानान्तरितानि भाग्यानि ॥६॥

एवं ध्यात्वा वाहनचटितो भृत्यभावेन धनावहसांयात्रिकेण साकं परद्वीपं गतः । दध्यौ च तत्र-अहो ! उद्घटितं मम भाग्यं यन्मयाऽऽरूढेन यानं न भग्नम्, अथवा विधेर्विस्मृतं धनावहो यानं वस्तुभिर्भृत्वा चलितः मार्गे यानं भग्नं । निःपुण्यकस्य फलकं हस्ते चटितं तीरं प्राप्तः । अब्धितीरस्थग्रामेशस्य सेवां करोति । धाट्याऽन्यदा निपातितो ग्राम-ठक्कुरः तत्पुत्रबुद्ध्या निःपुण्यको बद्ध्वा नीतस्तैः पल्ल्यां, तस्मिन्दिने पल्ल्यप्यन्यपल्लीशेन भग्ना, ततस्तै-श्चौरैरपि निःपुण्यक इति कृत्वा निःकाशितः, एवमेकोनसहस्रवारान् स्थाने स्थाने दुःखं प्राप ।

अन्यदा स यक्षप्रासादे गतः स एकाग्रमना यक्षमारराध । २१ उपवासैर्यक्षस्तुष्टोऽवग्-सन्ध्यायां मम पुरः स्वर्णचन्द्रकयुतो मयूरो नृत्यं करिष्यति तस्य स्वर्णमयं पिच्छं दिनं दिनं प्रति ग्राह्यं ततस्तेन स्वणमयानि बहूनि पिच्छानि गृहीतानि । एकदा ध्यातं, सदा क एकैकं पिच्छं गृह्णाति । मयूरमेव गृह्णामि एवं ध्यात्वा यावन्मयूरं गृह्णाति तावन्मयूरोऽन्यमयूरतुल्यो भूत्वा काको भूत्वा च नष्टः, गृहस्थानि पिच्छानि गतानि ।

ततो गुरुपार्श्वे देवद्रव्यभक्षणसम्बन्धं श्रुत्वा तपस्तप्त्वा दीक्षाग्रहणात्सर्वकर्म्मणः क्षयं कृत्वा मुक्तिं ययौ । इति कुत्सितकर्मविपये सागरश्रेष्ठिकथा ॥१११॥

[112] अथ ७२ देवकुलिकासु ध्वजा दत्ता ।

एकदा तेजःपालमन्त्री भृगुपुरे ययौ । तदा शकुनिकाविहारे आम्बडमन्त्रिकृतोद्धारे स्नात्रं कुर्वाण इदं काव्यमशृणोत्—

तेजःपालकृपालु धर्मविमलप्राग्वाटवंशध्वज—
श्रीमानाम्बडकीर्तिरद्य वदति त्वत्संमुखं मन्मुखात् ।
आजन्मावधि वंशयष्टिकलिता भ्रान्ताहमेकाकिनी,
बद्धा सम्प्रतिपुण्यपुञ्जभवतः सौवर्णदण्डस्पृहाः ॥१॥

इति श्रुत्वा मन्त्री आम्बडदेवविहारे सप्ततिशतदेवकुलिकाः सुवर्णदण्डयुतान् कलशान् तदैव व्यधात् । भृगुकच्छस्थाम्बडविहारे (इति) आम्बडप्रासादे तेजःपालो मन्त्री ध्वजं ददौ- इति भृगुपुरे शकुनिकाविहारे तेजःपालमन्त्रिणा ७२ देवकुलिकासु ध्वजा दत्ता ॥११२॥

[113] अथ अन्नदानैः पयः सम्बन्धः ।

कश्चिद्दूराद् भट्ट आगात् वस्तुपालमन्त्रिणं याचितुं, तदा मन्त्री जगौ-'उपविश्यताम्' ।

भट्टोऽवग्—अन्नदानैः पयःपानै-र्धर्मस्थानैश्च भूतलम् ।
यशसा वस्तुपालेन, रुद्धमाकाशमण्डलम् ॥१॥

सप्तवारकथनेन सप्तलक्षद्रव्यं दापितं मन्त्रिणा । अन्नदानैः पयःपानैरितिसं०७ लक्षदानम् । इति अन्नदानैः पयः सम्बन्धः ॥११३॥

[114] अथ औदार्ये वस्तुपालसम्बन्धः ।

स्नेहः साधुजनेन भोजनविधौ वासः कुटीकोटरे,
देहस्यावरणे न पुण्यमधिकं, नेत्रे न कोशोच्चयः ।
अर्थः सूत्रितनव्यकाव्यनिकरे ग्रन्थो [न्थे] न मन्त्रीश्वर—
स्याद्वृत्तिः पठनेन जीवनविधौ प्रायः कवीनां कलौ ॥१॥

अस्य कर्तुः ३ लक्षदानम् । इति औदार्ये वस्तुपालसम्बन्धः ॥११४॥

[115] अथ वनकपुष्पोत्कृष्टतासम्बन्धः ।

एकदा गुरोः पार्श्वे श्राद्धैः पृष्टं-भगवन् ! सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यः किं पुष्पमुत्कृष्टम् ? गुरुभिरुक्तं वनकपुष्पमुत्कृष्टम् । श्राद्धैरुक्तम् एवं किं प्रोच्यते ? गुरुभिः प्रोक्तं-वनकतरोः पुष्पात्कर्पासो भवति, कर्पासाद्रूतं, रूतात्सूत्रं, सूत्राद्वयं वस्त्रं भवति । वस्त्रेण जिनप्रासादे ध्वजा दीयन्ते,

चक्रिणो महान्तो राजानो गुरवश्च परिदधति । ततः वस्त्रमतो वनक-पुष्पमुत्कृष्टम् ।

इति वनकपुष्पोत्कृष्टतासम्बन्धः ॥११५॥

[116] अथ शिवप्राप्तिसम्बन्धः ॥

गुरुभिरुपदेशो दत्तः–घटशब्देन देहः कुम्भश्च प्रोच्यते । तद्यथा कुम्भकारगृहकुम्भाः सामान्य मध्यमोत्कृष्टपुरुषैर्गृहीताः एके मद्येन भृताः, एके जलेन भृता, एके कर्पूरादिवर्यपानीयभृताः । ततश्चाधममध्यमोत्कृष्टवस्तुभिर्भ्रियन्ते । तथा देहघटाः पाप-पापापाप-पुण्यैर्भ्रियन्ते । एवं ये पुण्येन देहं भरन्ति ते मुक्तिगामिनः । ये पापापापैर्भरन्ति देहं ते कदाचित्सुखिनः कदाचिद्दुःखिनः । ये पापैर्भरन्ति देहघटं ते चिरं श्वभ्रादिदुःखं लभन्ते । कुम्भा अपि एवं ज्ञेयाः ।

इति देहघटार्जनपाप-पापापाप-पुण्य-श्वभ्रगति-दुःखादुःखशिवप्राप्तिसम्बन्धः ॥११६॥

[117] अथ बुद्धौ चाणिक्यसम्बन्धः ।

नन्दभूपस्य चाणिक्यो मन्त्री बभूव । स्तोकं कोशं वीक्ष्य राजा खिन्नोऽभूत् । तदा राजमनो ज्ञात्वा चाणिक्येन महेभ्या याचिताः प्रोचुः अस्माकं धनमर्पणयोग्यं नास्ति । ततश्चाणिक्येन सर्वे महेभ्या भोजनाय निमन्त्रिताः वराहारं भोजिताः, ततो मदिराः पायिताः पत्रादि दत्त्वा चित्रशालायां शायिताः, परिणतायां मदिरायां एको धनोऽवग्–मम गृहे सप्तकोट्यो हेम्नां सन्ति । अन्योऽवग्–तव गृहे स्तोका मम गृहे एकादश कोट्यः । एके त्रिंशत्, एके चत्वारिंशत्, एके षट्पञ्चाशत् इत्यादि जजल्पुः । एकः प्राहाहं स्वर्णेन गङ्गाप्रवाहं बध्नामि । एकः प्राह–मम गृहे सत्कगवां दुग्धेन गङ्गाप्रवाहं स्खलयामि । एकः मम गृहस्थघृततैलादिभिः गङ्गाप्रवाहं स्खलयामि, एकोऽवग्–धान्यमूढकानां कोटिरस्ति, इत्यादि स्वस्वधनसंख्याकारिता इभ्याश्चाणिक्येन साक्षिणश्च कृताः, ततस्तेभ्यो धनं लात्वा राज्ञः कोशः कृतः ।

इति बुद्धौ चाणिक्यसम्बन्धः ॥११७॥

[118] अथ दुष्करतपस उपरि सूरिकथा ।

श्रीपुरे धनेश्वरसूरयश्चतुर्मासीं स्थिताः । गुरुरुपवासं कर्त्तुं न शक्नोति । अन्यदा पर्युपणापर्व समायातं ।साधवोऽन्येऽपि श्राद्धा अपि षष्टाष्टमादितपः कुर्वाणा अभूवन् । तदा सूरिर्दध्यौ–मयोपवासः कर्त्तुं न शक्यते तथापि अद्योपवासं करोम्येव ध्यात्वेति सूरिः प्रथमं पौरुषीं चकार । ततः सार्द्धं पौरुषीं ततः पुरिमार्द्धं तत अपार्द्धमत्रान्तरे साधवो जगुर्भगवन् ! वयमन्नमानयामः, पार्यतां वारा [?] क्रियतां । गुरुभिरुक्तम्–अद्योपवास एव, ततः सन्ध्यायां प्रतिक्रान्तिः कृता । संस्तारकविधिं भणित्वा गुरुणा संस्तारितं, तदा बुभुक्षया गुरूणां निद्रा नायाति, मध्यरात्रौ, सूरिः प्राह–भो साधव ! उत्सूरं जायमानमस्ति अन्नमानीयतां । साधवो जगुः—अद्यापि (अधुना) रात्रिर्विद्यते, सूर्य उद्गतो नास्ति, शङ्खवादकेन शङ्खोऽपि वादितो न (ना···स्ति), कुर्कुटा अपि न शब्दिताः सन्ति, मध्यरात्रिर्विद्यते अतोऽधुना विहर्त्तुं गन्तुं न शक्यते, लोका अपि सुप्ताः सन्ति ।

सूरिः प्राह—शङ्खोऽम्भोधेः पितु (अम्भोधिं पितरं) मिलितुं गतः, सूर्यस्य तु रथो भग्नः, कुर्कटा अप्यन्यत्र गताः नभसि गता, यतः—

उयहिंसरेविण संख गय, कुक्कड गया नहंसि ।
रह भग्गो सूरहत्तणओ, तेण न विहाइ रत्ति ॥१॥

आकर्ण्येति साधवो जगुः—यत्प्रभुणा प्रोच्यते तत्सत्यमेव, परं बुभुक्षालग्नो किं न करोति ।

यतः—पञ्च नश्यन्ति पद्माक्षि, क्षुधार्त्तस्य न संशयः ।
तेजो लज्जा मतिर्ज्ञानं, मदनश्चापि पञ्चमः ॥२॥

एतत् श्रुत्वा सूरिः प्राह—

मया बुभुक्षया जल्पितं मिथ्यादुष्कृतमस्तु । ततः सूरिर्हृदयं दृढं कृत्वा प्रभातं नीतवान् ततः पौरुषीं यावत्स्थितः । ततः पारितं प्रत्याख्यानं सूरिर्बुभुजे । तदा सूरिणा तपसा तेन मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमर्जितं, ततः सदा स्तोकं स्तोकं तपो वर्धयन् सूरिरेकान्तरमुपवासान् कुर्वन् केवलज्ञानं प्राप मुक्तिं गतः । एवं दुष्करतपस उपरि सूरिकथा ॥११८ ॥

[119] अथ धर्मकर्त्तव्ये वत्सदृष्टांतः ।

श्रीपुरे श्रीदश्रेष्ठिगृहे पुत्रस्य विवाहे जायमाने वत्सस्य चारिं विश्राणयितुं विस्मृता । ततो मध्याह्नातिक्रान्ते पक्वान्नादिषु दृष्टी (ष्टिं) अददानश्चारिं प्रति दृष्टी (ष्टिं) ददानो रुदितुं लग्नो वत्सः ततस्तं रुदन्तं दृष्ट्वा स्नुषया दयया चारिर्विश्राणिता तस्मै स च वत्सश्चारिं चरन् सुखी जातः । एवं जीवोऽनिशमधर्मे दृष्टिमददानो धर्मे दृष्टिं ददानः सुखी स्याद्वत्सवत् ।

इति धर्मकर्त्तव्ये वत्सदृष्टान्तः ॥११९॥

[120] अथ असारविषये श्रीधरश्रेष्ठिकथा ॥

भीमपुरे श्रीधरश्रेष्ठी धनार्थं व्यवसायं कुर्वन् रात्रिंदिवा विश्रामं न लाति स्म । धनं मिलितं बहु सप्तति वर्षाणि जातानि, धनं धनं कुर्वन्नधिकं जीवितं वाञ्छति स्म । बह्वी नार्यः परिणीतवान् ततस्तृप्तो नाभूत् ।

एकदाहारं पक्वान्नादिकं भक्तं पश्चात्तदेव विष्टा तथा दुर्गन्धं ज्ञात्वा जगौ श्रेष्ठी ।

धनेषु जीवितव्येषु, स्त्रीषु चाहारकर्म्मसु ।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥१॥

एवं सर्ववस्तुपरिग्रहादिकं चासारं मत्वा सर्वं त्यक्त्वा संयमं लात्वा स्वर्गं गतः । ततो मुक्तिमपि बहुषु भवेषु यास्यति इति असारविषये श्रीधरश्रेष्ठिकथा ॥१२०॥

[121] अथ संसारासारतायां धनकथा ।

श्रीपुरे धनःश्रेष्ठी प्रातरुत्थायोत्थाय ध्यायति स्म । अद्य मम यानं श्रीयुतं समायाति । याने समागते हृष्टो दध्यौ, वस्तु तत् विक्रयितुं रात्रिंदिवा विश्रामं न लाति, वस्तु विक्रीय

वाहनपुरणार्थं वस्तु गृह्णन्नपि न विश्रामयति स्म । चलितेऽम्बुधौ याने भग्ना चिन्ता चौर-चिन्ता समर्थमहार्थचिन्ता, एवं ध्यायन् स दध्यौ—

बिन्दुनाऽप्यधिका चिन्ता, चिताया इति मे मतिः ।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता जीवन्तमप्यहो ॥१॥

इति ध्यात्वा श्रेष्ठी संसारमसारं मत्वा दुःखमयं च धनं धर्मे व्ययित्वा चारित्रं गृहीत्वा स्वर्गं गतः । इति संसारासारतायां धनकथा ॥ १२१ ॥

[122] अथ धर्मविषये जीवपालादिकथा ।

श्रीपुरे श्रीपालभूपपुत्रो धनदेवो राज्यं चकार । स च गुरुवचः श्रुत्वा जिनधर्मं चकार ।

एकदा राजा धनदेवः पुरोद्याने गतः, तत्र चतुर्ज्ञानिनं जीवपालाह्वं गुरुं दृष्ट्वा प्रणम्य धर्मोपदेशं श्रोतुमुपाविशत्, अत्र धर्मोपदेशो ज्ञेयः ।

अत्रान्तरेऽकस्माद्देवद्वयं दिवः समेत्य गुरोरुभयोः पार्श्वे चामरे ढालयतः स्म । गुरुणोक्तं—साधूनां चामरढालनं न युक्तं । वारितौ देवौ न तिष्ठतः स्म । ततो राज्ञा धनदेवेन पृष्टं— भो देवौ ! युवाभ्यां कुतः किमर्थमागतं । गुरोरेवं च सेवा किमर्थं क्रियते । देवा वूचतुः-गुरव एव कथयन्ति । आवयोर्गुरोरग्रे जल्पनं न युक्तं । ततो राज्ञा पृष्टा गुरवो जगुः—

अस्मिन्नेव पुरे श्रीदेवपालो राजाऽभूत्, मतिसागरो मन्त्री च । चन्द्रदेवः श्रेष्ठी द्वादशव्रतधारको धर्मं करोति स्म । स च श्रेष्ठी कस्यापि न्यासीकृतं वस्तु नापलपति स्म । राजमान्यः ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कलापुरवासी रत्नो वणिग् रत्नद्वीपे रत्नदशकमुपार्ज्य यानारूढस्तत्र पुरे समागात् । ततश्चन्द्रदेवं परद्रव्यपराङ्मुखं ज्ञात्वा रत्नग्रन्थिं न्यासीकृत्य पुनर्धनार्जनाय कुंकणद्वीपे ययौ । तत्राल्पं धनमुपार्ज्य पश्चादागतो चन्द्रदेव रत्नः स्वधनं याचते स्म ।

श्रेष्ठी जगौ-कस्त्वं, केन न्यासीकृतं, कः साक्षी ? रत्नोऽवग् त्वमहं साक्षिणौ, त्वं तु हट्टाद्भ्रष्टः अन्यत्र मुक्तमन्यत्र विलोकयति । रत्नो जगावहं न भ्रान्तः, भवानेव भ्रान्तः । यदन्यदीयं धनं लात्वाऽपलपसि । ततो रत्नो ग्रथिलो भूत्वा रात्रौ हट्टाग्रे सुप्तो जल्पति, मम रत्नानि चन्द्रदेवोऽपललाप कोऽपि वालयितात्र मन्त्र्यादिर्नास्ति । एवं रात्रौ जल्पन्तं द्वित्रिदिनेषु दृष्ट्वा मतिसागरो मन्त्री पप्रच्छ तं, भो कथय पुरुष ! तव किं गतं, केन धनं हृतं, ग्रथिलोऽभूः कथं ? सोऽवग्—गते धने को ग्रथिलो न भवति, यतः—

एकस्यैकं क्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुन–र्यावज्जीवं हृते धने ॥१॥

मन्त्री प्राह:—केन हृतं धनं ? रत्नोऽवग्—चन्द्रदेवेनावलिप्तं धनं, तेन मे ग्रैथिल्यं जातं। मन्त्र्यभाणीत्—कीदृशानि रत्नानि, कीदृशी तद्ग्रन्थिः, का तत्र मुद्रा ततस्तेन ग्रन्थेरभिधानादि प्रोक्तं मन्त्रिणोऽग्रे ततो मन्त्रिणा रत्नो राज्ञः मेलितः रत्नग्रन्थिगमनादिसर्वं ज्ञापितं राज्ञः।

ततो राजा श्रीपालो दध्यौ-एष श्रेष्ठी चन्द्रदेवः सत्यवादी, परद्रव्यपराङ्मुखः, कथमेवं-विधं कर्म करोति, तथापि न ज्ञायते मनुष्यस्य मलिनत्वस्वरूपं ढोलस्य पोलत्वं च, तथाप्यस्य धनं वाल्यते। राज्ञोऽन्यदा श्रेष्ठी रन्तुमुपवेशितः, रमता श्रेष्ठिना स्वनामाङ्किता मुद्रा हारिता, राज्ञा तु श्रीपालेन श्रेष्ठिपत्नी मुग्धस्वभावा ज्ञात्वा छन्नं शिक्षयित्वा स्वसेवकः श्रेष्ठिगृहे प्रेषितः। स च तत्र गतः। श्रेष्ठिहस्तमुद्रां श्रेष्ठिनामाङ्कितां श्रेष्ठिपत्न्यै दर्शयित्वा प्राह—इमां मुद्रां श्रेष्ठी प्रेषयामास। मन्मुखाच्चावग् मुद्रा स्थाप्या त्वया, सा ग्रन्थिः रत्नसत्का प्रेष्या। तया पतिभक्तया मुद्रां संथाप्य रत्नग्रन्थिस्तस्य ददे। स च छन्नं राज्ञः श्रीरालय शये (शय्यायां) तां मुमोच। राज्ञा तु रममाणेन स्वकोशाद्रत्नग्रन्थीः सप्तातिं ग्रन्थिमेकत्र कृत्वाऽग्रे मुमोच। राजाऽवग्-रत्नाग्रे तव ग्रन्थिमुपलक्ष्य त्वं गृहाण। स च सर्वमभिधानादि प्रोच्यावग्-ममायं ग्रन्थिः। ततो राजाऽवग् श्रेष्ठिन्नयं रत्नग्रन्थिस्तव गृहादानायितः। त्वं तु सत्यवादी, त्वया कथमवलुप्तं अस्य ग्रन्थिः परधनहृतेः श्वभ्रपातो भवति। ततश्चन्द्रदेवः श्रेष्ठी जगौ-मया मौर्ख्यादकर्त्तव्यं कृतं, त्वमेव मे गुरुः, अतः परं मयैवंविधं पापं न कर्तव्य-मेतत्पापशुद्ध्यै जिनप्रासादो मया कारयिष्यते। रत्नोऽपि रत्नानि प्राप्य प्रासादं कारितवान्, मिथः प्रीतिभाजो जाताः सर्वे। चंद्रदेवरत्नौ मिथो मिथ्यादुःकृतं दत्त्वा प्रीतिभाजौ मृत्वा स्वर्गे सुरौ जातौ। राजा तु मृत्वा भीमपुरे भीमपुत्रो जीवपालाह्वोऽभूत्। स च बालो धर्मं शृण्वन् प्राप्तवैराग्यः संयमं लात्वा चतुर्थज्ञानं प्राप्य जीवपालो विहरन्नागात्। स चाहं पश्चाद्भवपिता तव श्रीपालाह्व। इह तु जीवपालो ज्ञानी चात्र ते प्रतिबोधायागाम् चन्द्रदेवरत्नदेवौ ज्ञानेन स्वर्गात्पश्चाद्भवगुरुं ज्ञात्वा मम चामरौ ढालयतश्चामू भक्त्या, श्रुत्वैतद्राजा धनदेवः पितरं गुरुं नत्वा सम्यक्त्वमूलं द्वादशव्रतरम्यं धर्मं जग्राह। स च राजा अष्टोत्तरशतदेव-कुलितायुक्तं जिनप्रासादं कारयित्वा मुख्यस्थाने नाभेयप्रतिमां स्थापयित्वाऽन्यासु देवकुलिकासु त्रयोविंशतिजिनप्रतिमा अतिष्ठिपत् समहं। तस्मिन्प्रासादे जीवपालज्ञानिनः प्रतिमां चामरढाल-नयुक्तौ सुरौ स्थापयामास राजा। धनदेवोऽपि राजा राज्ये स्वपुत्रं न्यस्य चारित्रं लात्वा चतुर्ज्ञानी जातः, तौ देवौ जिनधर्मिणामुपकारं चक्रतुः तौ देवौ स्वर्गाच्च्युतौ- कोलपुरे महासेन-भूपपुत्रौ चन्द्रः-सोमाह्वौ अभूतां। तयोः पूर्वकर्मयोगात् माता मृता। राजाऽन्यां राज्ञीं पट्टधरां चक्रे। सा च स्वपुत्रस्य राज्यार्थिनी। तयोः कार्मणं हन्तुं करोति। तयोस्तु पुण्यबलान्न लगति स्म। पापात्सपत्नीपुत्राः स्वयं मृताः पुण्यप्रभावात्तयोः राज्यं दत्त्वा पिता चारित्रं जग्राह। तौ तु न्यायाद्राज्यं पालयतः स्म। करं स्तोकं चक्रतुः। यतः—

अकरे करकर्त्ता च, गोसहस्रवधः स्मृतः।
प्रवृत्तकरछेदे च, गवां कोटिफलं भवेत् ॥२॥

क्रमात्तौ स्वपुत्रयो राज्यं दत्त्वा दीक्षां लात्वा स्वर्गं गत्वा क्रमाच्च मनुष्यजन्म प्राप्य मुक्तिं गतौ। सोऽपि जीवपालो ज्ञानी क्रमात्कर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ। धनदेवो भूपोऽपि न्याया-

त्पृथ्वीं पालयन् धर्मध्यानं कुर्वन् त्रिकालजिनार्चां चक्रे। दिनं प्रति एकं सहस्रं श्राद्धान् जेमयामास स राजा। एकलक्षरत्नमयानि विम्बानि कारयित्वा तस्मिन्नेव भवे मुक्तिं गतो धनदेवः । इति धर्मविपये जीवपालादिकथा ॥१२२॥

[123] अथ धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा--पुत्रीद्वयसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे लक्ष्मीचन्द्रभूपस्य पुत्रीद्वयं सुन्दरी-श्रीमत्याह्वं। आद्या पितुः कृतं मन्यते, ततः प्रथमा महादेवभूपाय दत्ता सोत्सवं। स च भूपस्तां परिणीय यावत्स्वपुरे गतः ।

इतस्तत्र गोत्रिणो भूपालाः समागताः युद्धं जातं। हारितः सपत्नीकश्छन्नष्टः । वीरपुरे गतः राजा व्यवसायादि किमपि न वेत्ति। पत्नी परगेहे कर्म कृत्वा निर्वाहं चक्रे ।

लघ्वी पुत्री श्रीमती निःस्वाय धीराय दत्ता। सा च तं देवमिवाराध्नोति धीरं, स च धीरश्चलन् पद्मपुरे गतः। तत्रापौत्रिको राजा मृतः । पञ्चदिव्यैस्तस्य राज्यं जातं, न्यायाध्वना राज्यं पपाल सः ।

अन्यदा श्रीमतीं पतियुक्तामिन्धनभारमानयन्तीं दृष्ट्वा तावत्तत्राकारयामास सा भगिनी लज्जमाना यदा न जजल्प तदा भगिन्योक्तं भगिनि ! कर्मतः कोऽपि छुट्टति, त्वया तु पितुः कृतं मन्यते। तत सा स्वराज्यगमनस्वरूपं प्राह–ततो भगिनीपतये वर्यावासो दत्तो वर्यवस्त्रान्नादि च ।

इतो लक्ष्मीचन्द्रभूपो निःस्वस्य राज्यं जातं श्रुत्वा तत्रागात्। जातं युद्धं, लक्ष्मीचन्द्रं बद्धं पत्या दृष्ट्वा श्रीमती मोचयामासात्मनः स्वरूपं जगाद च तात ! त्वया आत्मकृतं स्थापितं, मया तु कर्मकृतं, यया पुत्र्या सुन्दर्या तव कृतः प्रसादो मानितः सा राज्यात्ताजितात्रागता सती मया सन्मानिता। अहं च कर्मवशादीदृग् राज्यभागभवम्। ततो लक्ष्मीचन्द्रः स्वपुरमभ्येत्य सर्वं सुखदुःखादि कर्मकृतं मन्यते स्म। यतः—

सुखदुःखानां कर्त्ता, हर्त्ता च कस्यचित्कोऽपि नो जन्तोः ।
इति चिन्तय स्वबुद्ध्या, पुराकृतं भुज्यते कर्म ॥ १ ॥

क्रमाद्राज्ञो लक्ष्मीचन्द्रस्य सुन्दराह्वः पुत्रोऽभूत् । सुन्दरो धर्मं श्रुत्वा जीवहिंसानिषेधं चक्रे।

एकदा सुन्दरः पुराद्वहिरुद्याने स्थित एकं पथिकं मार्गे यान्तं पप्रच्छ । कुतः आगतस्त्वं कुत्र यास्यसि ? सोऽवग्–यन्मम जातं तत्कथयितुं न शक्यते। सुन्दरोऽवग्–कथय । पान्थः प्राह–नवसारीतोऽहं यानारूढो भीमवणिक्पुत्रः सोमाह्वो वार्द्धौ चचाल । क्रमाद्वातेनाहतं गिरौ यानं, भग्नं फलकं चटितं मम हस्ते तेन फलकेनाहं जलधिमध्यस्थशैलं सिंहगिरिं प्रापम् । तत्र फलाहारं करोमि। तत्रासन्नदेशे वादित्राणां धूमधमाटः श्रुतः। अकस्माज्जलं दूरे स्थितमेक आवासः सप्तभूमिगृहयुतो दृष्टः । तत्र गवाक्षोपरि एका कन्योभयपार्श्वचामरढालनपरा नारीद्वययुता दृष्टा। ताभ्यां चामरधारिणीभ्यां प्रोक्तं–यदि ते साहसं स्यात्तदाऽत्रागत्येमां कन्यां वर। तत्र यदा यातुमुत्थितोऽहं तदा ज्वाला निर्गता । ततोऽहं भीतः, पश्चात्स्थितः मुहूर्त्तादनु तद्गृहं

जलमध्ये गतं। एवं मासद्वयं मया तत्र दृष्टं परं मया साहसं न कृतं। तत्रस्थौ भारण्डपक्षावालम्ब्य चम्पकद्वीपोद्याने समागतः स भारण्डस्तत्रास्थात् ततोऽहं यानारूढोऽत्रागां; सोवपुरे यास्यामि। राजपुत्रेणोक्तं–तत्र किमर्थं गम्यते स प्राह–मातापित्रोर्मिलनार्थं। राजपुत्रः सुन्दरस्तेनोक्तविधिना तत्रागतः तथाऽत्राकस्माद् घुमघुमशब्दः समुद्रमध्यान्निर्ययौ। ततो महानावासः तस्मिन्गवाक्षे पाथ-प्रोक्ता कन्या समागता। चामरधारि(णी) भ्यामुक्तं यदि साहसं स्यात्तदात्रागच्छ। सुन्दरो यावत्तत्र यातुमुद्यतोऽभूत्तदा ज्वाला निर्गता। कुमारः साहसं कृत्वा तत्रागतः आवासश्च पातालेऽम्बुधौ गतः। चामरधारिणीभ्यां प्रोक्तं–तव भीर्नास्ति। सुन्दरोऽवग्–अहं न बिभेमि कुतोऽपि। कुमारोऽवग्–का कन्या? कस्य पुत्री? चामरधारिण्येका प्राह–वैताढ्याद्रौ मेघरथोऽथ विद्याभृत्पुत्री परिणयनयोग्याऽभूत्तेन नैमित्तिकः पृष्ठः तेनोक्तं–लक्ष्मीचन्द्रस्य पुत्रः सुन्दरकुमारः परिणेष्यति। तस्य च परीक्षां कृत्वा दातव्या। ततो जलकान्तमयमावासं सगवाक्षं समुद्रमध्ये मुक्तं तत्रावाभ्यां युक्ता पुत्रीयं मुक्ता आहारादि च परीक्षार्थं पतितोज्ज्वालो वह्निर्मुक्तः। उक्तं च विद्याभृता–प्रतिदिनं प्रातरावासात् बहिर्निर्गच्छन्ति स्म। साहसी स्यात्स तत्रागत्य कन्यां परिणेष्यति।

अत्रान्तरे तत्रैको राक्षसस्तत्रागत्य कन्यां वक्त्रे ललौ। कुमारोऽवग्–मम देहं गृहाण, अमूं कन्यां मुञ्च। सुरोऽवग्–देहि देहं स्वं। ततः कुमारो निजमङ्गं ददौ। ततः स प्रकटीभूय प्राह–तुष्टो वरं वृणु। राक्षसोऽवग्–अहं तव साहसं कर्त्तुमागां। त्वं तु परीक्षायां निश्चलोऽभूः राक्षसेन अमोघकारिणी विद्या दत्ता।

इतः कन्यापिता तत्रागात्। तां सुन्दराय ददौ। सुन्दरो निजपितुः प्रेषितः। आकाशगामिनी विद्या दत्ता। ततः सुन्दराय लक्ष्मीदत्तो राज्यं दत्वा स्वर्गे गतः। सुन्दरोऽपि चिरं राज्यं कृत्वा स्वर्गे गतः, ततश्च्युतो मुक्तिं गमिष्यति॥

धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा–पुत्रीद्वयसम्बन्धः ॥१२३॥

[124] अथ संसारासारतायां वरदत्तश्येनिकाकथा।

कौशाम्ब्यां महीपालो भूपो महोदयगुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतुमुपविष्टः, धर्मं कथयता गुरुणा यदा हसितं, तदा प्रोवाच–भगवन्! भवता कथं हसितं, हास्यं तु साधूनां न युक्तं, गुरुर्ज्ञानी प्राह––लोकबोधाय। राजा पप्रच्छ–कथं लोकबोधः समालिकायाश्च। गुरुराह–भरतखण्डे-श्रीपुरे धन्यः श्रेष्ठी, तस्य सुन्दरी भार्याऽभूत्, सा चान्यपुरुषासक्ताऽभूत्, स चोपपतिश्चन्द्रोऽवग्–सुन्दरि! अद्यप्रभृति त्वया मम पार्श्वे नागन्तव्यं, अहं त्वत्कान्ताद् भूपाच्च बिभेमि। सुन्दरी प्राह–भीर्न कार्या, तथा करिष्येऽहं यथाऽऽवयोर्भीर्न भविष्यति, भर्तृहननात्।

अन्यदा तया दुग्धमध्ये विषं क्षिप्त्वा हन्तुं भर्त्तुर्वाञ्छति। भर्त्ता जेमनायोपविष्टः। सा चान्नं परिवेष्य दुग्धानयनाय गृहमध्ये गता, तावदहिना दष्टा, भर्त्रा औषधानि कृतानि गुणो न जातः, भार्या मृता, धन्यो रोदितुं लग्नः। लोकैरुक्तं पत्न्यां मृतायां कातर एव रौति, न साहसी। ततः स स्थितः। सा च मृता शार्दूलोऽभूत्। धन्यस्तु संयमं गृहीत्वा तपस्तेपे नितरां कायोत्सर्गे स्थितो वने प्राग्भववैराद् व्याघ्रस्तं जघान। ऋषिरच्युते स्वर्गे जगाम। व्याघ्रस्तु तुर्ये

श्वभ्रे, ततः स्वर्गाद् धन्यजीवः चम्पायां दत्तेभ्यपुत्रो वरदत्ताह्वोऽभूत्, स च पपाठ विद्याः । वैराग्याद् बाल्यादपि सम्यक्त्वं ललौ, दानी विवेकी । सुन्दरीजीवः श्वभ्रान्निर्गत्य भवं भ्रमन् वरदत्तगृहे कामुकादासीपुत्रोऽभूत् वञ्चनशीलः "दासीपुत्रेति" नामाऽभूत्, स च वरदत्तं शत्रुमिव पश्यति प्राग्भववैरात्, पितरि मृते वरदत्तः गृहस्वामी अभूत् स च दासीपुत्रं सोदरमिव मन्यते स्म । (दासीपुत्रो) वरदत्तरञ्जनाय मनो विना धर्मं करोति स्म तं धर्मिष्ठं ज्ञात्वा वरदत्तो जगौ-ममायं भ्राता लोकेऽपि भ्रातृत्वेन प्रसिद्धिरभूत् स च क्रमाद्दासीपुत्रो वरदत्तं हत्वा गृहस्वामी स्थातुं वाञ्छति, मायया स्वं भक्तं ज्ञापयति ।

एकदा शयनावसरे विषलिप्तानि नागवल्लीदलानि वरदत्ताय ददौ । वरदत्तस्तु चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं कृतं स्मृत्वा उच्छीर्षे मुक्त्वा सुप्तः, वरदत्तः प्रातर्नमस्कारपर उत्थाय देवगृहे देवान्नन्तुं ययौ ।

इतो वरदत्तपत्न्या हस्ते चटितानि पत्राणि तया तु आवासाग्रे भाजने मुक्तानि, तानि दासीपुत्रो लात्वा भुक्तवान्, मूर्च्छितो भूमौ पपात, वरदत्तेनोपचाराः कारिताः, क्रमान्मृतः, स च वरदत्तो भ्रातृमृते दुखी बभूव न सुखं शेते भुङ्क्ते । लोकैः शोक उत्तारितः, क्रमादुत्पन्नवैराग्यः वरदत्तो दीक्षां लात्वा विनयतपःपरः प्राप्तचतुर्थज्ञानः महोदयमुनिरिति नाम दधानोऽत्रागां भव्यबोधाय, स च दासीपुत्र एषा वृक्षस्था श्येनिका पश्चाद्भवपत्नी मे अतोऽस्या दर्शनान्मम हास्यमागतं, तदा सा समलिका प्राग्भवान्स्मृत्वा वृक्षादुत्तीर्य गुरुपादयोः पतित्वा क्षमितवती स्वभाषया । गुरुणोक्तं-प्राग्भवभार्यां दृष्ट्वा हसितं, श्येनिकाऽनशनं लात्वा स्वर्गं जगाम । राजादयो बहवो लोका जिनधर्मं प्रपेदिरे, क्रोधं तत्यजुश्च ततो निजं धनं सप्तसु क्षेत्रेषु व्ययित्वा चारित्रं गृहीत्वा महोदयमुनिना समं विहारं करोति स्म । राजर्षेरपि चतुर्थं ज्ञानमुत्पन्नं, महोदयभूपर्षी क्रमात्स्वर्गं गतौ मुक्तिं यास्यतः ।

इति संसारासारतायां वरदत्त-श्येनिकाकथा ॥ १२४ ॥

[125] अथ जिनपूजा–जीवदयायां तापस–जिनदासी–कुणालकथा ।

रोहीतकपुरे रोहीतकस्तापसस्तपति स्म, सर्वथा कृपाधर्मं न वेत्ति, क्रमात्तस्य तेजोलेश्याऽभूत् तपसा ।

एकदा तरुतले तस्थौ, तदा वृक्षशाखोपविष्टा बलाका तस्य शीर्षस्योपरि व्युत्सर्जनं चक्रे, तदा रुष्टेन तेजोलेश्यया तां भस्मसाच्चक्रे ।

अन्यदा स तापसो भिक्षार्थं भ्रमन् जिनदासगृहेऽगमत्, तदा तस्य पत्नी जिनदासी कृपावती प्रभोः पूजां कुर्वाणा चिरं भिक्षां दातुं समागता, यावत्तावत्स रुष्टस्तेजोलेश्यया तां भस्मीकर्तुं मुखाद् धूमं वमन्नभूत् । तया तेजोलेश्यां मुञ्चमानं तं ज्ञात्वा ज्ञानेनोक्तं-भद्र तापस ! नाहं सा बलाकाऽस्मि । एतत् श्रुत्वा स चकितोऽवग्-कथं भो भद्रे ! मया हतां बलाकां वेत्सि ? जिनदासी प्राह—वाराणसीं गच्छ, तत्र कुणालः अन्तेवासी कथयिष्यति । ततो विशेषाद्विस्मितो वाराणस्यां गतः । यावत्कुणालस्यान्तेवासिनो दृष्टौ पतितस्तापसः तावत्कुणालेन प्रोक्तं-भो भद्र ! जिनदास्या अत्र प्रेषितः संशयच्छिदे, पुनर्विशेषाद्विस्मितोऽसावपि

चाण्डालः कथमेतज्जानाति ? ततस्तं पप्रच्छ तापसः भो भद्र ! सा जिनदासी त्वं च मच्चेष्टितं कथं नेत्थ ? तस्याश्च प्रभोः पूजां कुर्वता जीवदयां पालयताऽवधिज्ञानं जातमस्ति तेन ज्ञायते । त्वं तु कुरुषे तपो जीवदयारहितं तेनानया तेजोलेश्यया नरके गमिष्यसि । ततः पश्चात्तापं धरन् तापसः प्राह—सा बलाका मृत्वा कुत्रोत्पन्नास्ति यत्तस्यां क्षमयिष्यामि । कुणालोऽवग्–सा बलाका प्रमदवने शुकी जाताऽभूत् तया मुनिवचः श्रुत्वा जिनालये कणिशैः प्रभोः पूजा कृता तेन पुण्येन पद्मपुरे धनस्येभ्यस्य पत्नी धनवत्याह्वा जाताऽस्ति साम्प्रतमेतत् श्रुत्वा तत्र गत्वा तस्याः पादयोः पतित्वा तापसः प्राह- क्षमस्व पुण्यवति ? मयि कृपां कृत्वा, साऽवग्–क्व मम त्वया सहापराधोऽभूत् ? तापसोऽवग्—मया तव बलाकाभवे त्वं मया हता । साऽवग्–एतत् त्वया कथं ज्ञातं ? सोऽवग्–जिनदासी-कुणालमातङ्गमुखात् । ततस्तस्या अपि जातिस्मृतिरभूत् तापसस्यापि च ततस्ताभ्यां मिथः क्षमितं । ततस्तापसो जैनीं दीक्षां लात्वोग्रं तपः कृत्वा सिद्धः । जिनदासी-कुणालौ सिद्धौ, बलाकाजीवः धनवती धर्मं कृत्वा स्वर्गं गता ।

इति जिनपूजा–जीवदयायां तापस-जिनदासी-कुणालकथा ॥ १२५ ॥

[126] अथ कूटजल्पने कथा ।

मानाद्वा क्रोधाद्वा, लोभाद्वा यदि वा भयात् ।
योऽन्यायमन्यथा ब्रूते, स याति नरकं नरः ॥१॥

तथाहि—वने तित्तिरश्चुण्यर्थं गतो यदा, तदा तित्तिरस्याश्रये शशकः समेत्य स्थितः । तित्तिर आगत्यावग्—ममायमाश्रय, कथं त्वमत्र स्थितः ? शशकोऽवग्–मदीयोऽयं । मिथो विवादे जाते एकः पुमान् प्राह—गङ्गातटे गच्छेतां, तत्र केदारकङ्कणौ दधानो हस्तयोधर्ममूर्त्तिर्मार्जारोऽस्ति स भवतोर्विवादं स्फेटयिष्यति । ततस्तत्र गतौ स्वं स्वं सम्बन्धं जजल्पतुः । तेनोक्तम्—अग्रे तिष्ठतां युवाम् विवादो भङ्क्ष्यते । ततो यदा तौ अग्रतस्तस्थतुः तदा द्वावपि कूटजल्पकौ । इति प्रोच्य क्षुधातुरो मार्जारः केदारकङ्कणभृत् एकेनांह्रिणा तित्तिरं, द्वितीयेन शशकं हत्वा तृप्तोऽभूत्, ततो मृत्वा नरके गतः मार्जारः ।

इति कूटजल्पने कथा ॥ १२६ ॥

[127] अथ जीवदयायां चारुदत्तकथा ।

चम्पायां भानुश्रेष्ठिसुभद्रयोः पुत्रश्चारुदत्तः शास्त्राण्यपाठीत् । अन्येद्युर्वने वैताढ्यवासिनं खगममितवेगाह्वं चारुदत्तो ददर्श । ततोऽग्रतो यावद् गत्वा विलोकयति तावत्कीलितं तं खगं दृष्ट्वा दध्यौ, तदा तदसिकोशमध्ये विशल्यामौषधीमद्राक्षीत् । ततस्तदौषधं घर्षयित्वा यावन्निगड़े दत्तं तावत्स मुत्कलोऽभूत्, प्राह च—अहं वैरिणा खगेन कीलितो, मोचितः ततोऽहमपि तवोपकारं करिष्ये । एवं प्रोच्य स विद्याभृत् स्वस्थानके गतः । ततश्चारुदत्तः परिणीतः क्रमात्कन्याया मुखमपि न वीक्षते । गणिकागृहे मातृपितृभ्यां तत्कलाः शिक्षितुं मुक्तः । मात्रा धनं प्रेषितं द्वादशवर्षाणि तत्रास्थाद । स क्रमाद्धनागमात् वेश्यया कर्षितो यावद्गृहे गतस्तावद्–

गृहं पतितं दृष्ट्वा मातृपित्रोः स्वर्गगमनं च पत्न्याः पितृगृहे गमने (नं) च ज्ञात्वा चारुदत्तो दुःखयभूत् । ततः श्वशुरगृहे गतः । ततः श्वशुरधनं लात्वा भीमपुरे व्यवसायार्थं गतः । तत्र धाट्या हृतं धनं । ततस्ततो निर्गतो मार्गे स एकं योगिनं ददर्श । योगी जगौ मम सार्थे आगच्छ, मम कथितं कुरु तदा तव दारिद्र्यं स्फेटयामि । ततस्तेन सहाचालीत् । तेन योगिना मञ्चिकारूढो रसकूपिकायां मुक्तः, रसेन कुम्भो भृतः । क्रमात्स्वर्णरसकुम्भं स्वहस्ते नीत्वाऽधो मुक्तः । योगी तं रसकुम्भं लात्वा नष्टः । ततो दिनत्रयक्षुधितो गोधापुच्छयोगेन कष्टात्ततो निर्ययौ । ततो मार्गे गजो मिलितस्ततोऽपि नष्टः । अग्रे गच्छतस्तस्य मातुलपुत्रो रुद्रदत्तो मिलितः । द्वावपि चलितौ, मार्गे रुद्रदत्तोऽवग्—मेषद्वयं गृह्यते, स्वर्णद्वीपे गम्यते, ततः स्वर्णमानेष्यते । ततो मेषद्वयं गृहीतं समुद्रतटे गतौ । रुद्रदत्तः प्राह—मेषाविमौ हत्वाऽनयोर्भस्त्रिकामध्ये गृहीतक्षुरिकाभ्यां प्रविश्यते । ततो भारण्डा मांसबुद्ध्योत्पाट्य हेमद्वीपे नयन्ति । तत्रस्थं हेममानेष्यते । चारुदत्तोऽवग्—जीववधः पापहेतुः कथं क्रियते ? ततो रुद्रेण एको मेषो हतः । ततो यावद्द्वितीयं हन्ति तावच्चारुदत्तेन नमस्कारं श्रावितो मेषोऽनशनं ग्राहितश्च ततः सोऽपि रुद्रेण हतः । ततो द्वावपि तयोर्भस्त्रिकयोः प्रविष्टौ । भारण्डाभ्यामुत्पाटिते भस्त्रिके मार्गे चारुदत्तभस्त्रिका भारण्डमुखात्पपात सरसि । ततो निर्गतः स स्थाने स्थाने भ्रमन् ध्यानलीनं साधुं भक्त्याऽनंशीत तं दृष्ट्वा साधुना धर्मलाभो ददे, धर्मः प्रोक्तश्च । चारुदत्तोऽवग्–त्वया कथं चारित्रं गृहीतं ? साधुः प्राह—येन त्वया यः खगः कीलितो मोचितः सोऽहममितगति (वेग) विद्याभृत् इत्यादि, यावद्वार्त्तां कुरुतो द्वौ तावद्विमानारूढौ साधुसुतौ खगौ पितुर्नन्तुं तत्रागतौ ।

इतश्चैको देवोऽभ्येत्य चारुदत्तं नत्वा साधुं ववन्दे । विद्याभृद्भ्यां पृष्टं भो देव ! त्वं तु विबुधः, साधुं मुक्त्वा पूर्वं गृहस्थः कथं वन्दितस्त्वया । ततो देवोऽवग्–मयका गुरुः प्रथमं वन्दितः । ताभ्यामुक्तं तेऽसौ गुरुः कथं ? देवोऽवग्–वाराणस्यां सुलसा–सुभद्रातापस्यौ विद्याबलगर्विते वसतः स्म ।

अथ तत्र याज्ञवल्क्यः परिव्राट् समागात्, तेन सुलसा जिता दासीकृता, क्रमात्तयोः पुत्रोऽभूत् । लोकापवादभिया पिप्पलवृक्षस्याधो मुक्त्वा देशान्तरे गतौ । सुभद्रया प्रातस्तां स्वसखीमदृष्ट्वा पिप्पलवृक्षाधःमुखपतितपिप्पलफलं बालं दृष्ट्वा दध्यौ–मम सख्या पुत्रो जनितो लोकापवादभिया त्यक्तः ।

ततो लोकाग्रे जगौ–मम गङ्गया बालको दत्तः, इति वदन्ती तं बालकं वर्द्धयामास सा सुभद्रा । विद्यां ग्राहितः । स चानेकान् विद्याविदो वादेनाजैषीत् ।

अन्यदा पिप्पलादं वादिनं श्रुत्वा याज्ञवलक्यः सुलसायुतः तत्रागात् । वाराणस्यां पिप्पलादेन याज्ञवलक्यो जितो दासः कृतः । तदा सुभद्रापार्श्वे स्वं पुत्रं सुलसा ज्ञात्वा पिप्पलादं प्रत्यवग् भो पुत्र ! स्वपितुरवज्ञां मा कुरु । ततस्तया तस्य व्यतिकरः प्रोक्तः ।

ततोऽन्यदा पिप्पलादो दध्यौ–अग्नौ हुतं सर्वं स्वर्गे याति, मम मातापितरौ स्वर्गं नेष्ये, ततोऽश्वमेध–पितृमेधमातृमेधमुखान् यागान् कृत्वा मातापितरौजुहोति स्माग्नौ सः । तं तथाविधं शास्त्राणि बहून् द्विजान् पाठयामास । तथाविधपापशास्त्रं प्ररूप्य श्वभ्रं पञ्चमं गतः पिप्पलादः । ततो निर्गतो

भवेषु पञ्चसु छागो जातः। यज्ञेषु हुतोऽग्नौ षष्ठभवे चारुदत्तेनानेनानशनं ग्राहितो नमस्कारं श्रावितश्छागः। तन्महिम्ना मृत्वा छागः स्वर्गं गतः। स चाहं देवो ज्ञानेन स्वगुरुं चारुदत्तं मत्वाऽत्रागां। तेन गुरुत्वात्पूर्वं चारुदत्तो वन्दितः पश्चात्साधुः। एवं श्रुत्वा चारुदत्तोऽपि दीक्षां जग्राह। ताभ्यां खगाभ्यामपि धर्मः प्रपेदे जैनः, ततश्चारुदत्तः स साधुः स्वर्गं गतौ क्रमान्मुक्तिं गमिष्यतः। सुलसा-याज्ञवल्क्यौ संसारं बहु भ्रेमतुः पापात्॥

इति जीवदयायां चारुदत्तकथा ॥ १२७ ॥

[128] अथ शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा।

माहडकग्रामे चन्द्रश्रेष्ठी धनी तस्य पञ्च पुत्राश्चत्वारो विस्तरेण परिणायिताः। पञ्चमं पुत्रं देवलाह्वं परिणयनयोग्यं श्रुत्वा चन्द्रपुरात् धनो महेभ्यो विवाहं मेलिवुं (मेलयितुं) स्वपुत्र्या-चम्पावत्या तत्र समागात्। यावच्चन्द्रः श्रेष्ठी पुत्रस्य विवाहं मेलयति तावत्पुत्रः प्राह-अहं व्रतं ग्रहीष्यामि। एवं श्रुत्वा धनः खिन्नो यावत्पश्चाच्चलति तावद्देवेनोक्तम्-अस्य गृहे श्रीमालज्ञातीयः आसधीरकर्मकरोऽस्ति, स च कल्हरीं कृत्वा शिखरं ददानोऽस्ति, सांप्रतं तस्मै स्वपुत्री देया, तस्मै किं दीयते? यदा श्रेष्ठी तस्य संमुखं विलोकयति तावदन्येनोक्तं-कल्हरी-निष्पन्ना असौ शिखरं ददानोऽस्ति। सा च कल्हरी शिखरयुता चिरं नन्दिष्यति। एवं श्रुत्वा धनेभ्यस्तस्य विवाहं मेलयित्वा गृहे आगतः यदा तदा पत्नी रुष्टा, पुत्रा रुष्टाः प्रोचुरेवं-किं कृतं, कर्मकराय पुत्री दत्ता। धनोऽवग्-शकुनान् वर्यान् श्रुत्वा दत्ता पुत्री, ततः सर्वेषु स्वजनेषु रुष्टेष्वपि तस्मै स्वां पुत्रीं ददौ। क्रमात्सप्तकोटिहेमस्वामी बभूव। तेनानेका प्रासादाः कारिताः, शत्रुञ्जयादिषु यात्राः कृताः, सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं बहु व्ययितम्॥

इति शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा ॥ १२८ ॥

[129] अथ जीवदयायां स्तेनद्वयकथा।

कर्णपुरे धर्मराजा राज्यं करोति स्म। एकदा कस्यचिदिभ्यस्य गृहे चौरद्वयं प्रविष्टं सन् धृतं। राज्ञोक्तं-भो चौरौ! स्तैन्यं न क्रियते। परत्र दुःखप्राप्तेरिहापि शूलादिदुःखप्राप्तेः। लोकैरुक्तं-एतौ पापिनौ हन्येते। राज्ञोक्तं-पेटामध्ये प्रक्षिप्य नद्यां प्रवाह्येते। ततो निश्छिद्र-पेटायां स्तेनद्वयं क्षिप्त्वा नद्यां प्रवाहितं। पेटा गच्छन्ती जले षष्ठे दिने श्रीपुरे लोकैः कर्षिता, उत्पाटिता, नृद्वयं दृष्टं। तत्र पृष्टं लोकैः राज्ञा च-युवां केन पेटायां क्षिप्तौ? ताभ्यां प्रोक्तं-धर्मराज्ञा आवयोः चौर्यदोषेण पेटायां क्षिप्तौ वाहितौ च। राज्ञोक्तं-भवतोः पेटामध्यस्थयोः कियन्तो दिना जाताः? एकेनोक्तं-इदं षष्ठं दिनं। राज्ञोक्तं-कथं दिना ज्ञातास्त्वया? सोऽवग्-मम तृतीयो ज्वरश्चटति। यस्मिन् दिने ज्वरश्चटितः तत एकवारं विचाले ज्वरश्चटितः कल्ये च चटिष्यति। ततो राज्ञा सन्मान्य चौर्यं त्याजयित्वा स्वसेवकौ कृतौ। ग्रामाः दत्ताः। तौ चौर्यं त्यक्त्वा सुखिनौ जातौ, क्रमात्स्वर्गे गतौ।

इति जीवदयायां स्तेनद्वयकथा ॥१२९॥

[130] अथ बुद्धौ सूत्रधारकथा।

भोजपुरे सूत्रधारो भूमिगृहे राज्ञा क्षिप्तः, ततः कियद्दिनानन्तरं पृष्टो भूपेन—तव कियन्तो दिना जाताः ? स प्राह-दिनत्रयं। राज्ञोक्तं—कथं तत्र रविप्रकाशं विना वासरः ज्ञातः ? सोऽवग्-अहं दिवान्धोऽभूवं, रात्रौ तु पश्यामि, तेन दिनास्त्रयो ज्ञाताः। स च परिधापितो राज्ञा। इति बुद्धौ सूत्रधारकथा ॥१३०॥

[131] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा।

कलिपुरे भीमभूपो धनमिभ्यं दण्डयितुकामः प्राह्-यस्त्वया प्रासादः कारयितुमारब्धोऽस्ति, तस्य प्रथमं शिखरं कार्यं. पश्चादधस्थले बन्धः, नो चेद्दण्डयिष्यसे त्वं। ततः स सचिन्तः पुत्र्योक्तः-तात ! किं दुःखं तव ? इभ्येन भूपोक्ते प्रोक्ते पुत्री प्राह्-तथा करिष्ये यथा राजा न दण्डयिष्यति।

तत इभ्यपुत्री मौक्तिकानि सेतिनकामितानि लात्वा राजगृहे गत्वा भूपाग्रे प्राह्-मौक्तिकानि लभ्यन्ते समर्थानि। गृह्यन्तां। राजाऽवग्—कथं लभ्यन्ते ? साऽवग्—स्पर्द्धकेन मानकं दास्यते। ततो राजा मानकमानीय मानकं भर्त्तुं लग्नः। तदेभ्यपुत्र्यवग्-प्रथमं शिखा क्रियतां, पश्चादधस्ताच्च। राजा प्राहैवं कथं भवति ? पुत्री प्राह—तर्हि प्रासादशिखरं प्रथमं किमु भवति ? ततो राज्ञा हारितं, सा च सन्मानिता, सा च परिणीता राज्ञा श्रेष्ठिनो बहु ग्रामा दत्ताः। ततः प्रासादो निष्पन्नः, बिम्बं स्थापितम्।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा ॥१३१॥

[132] अथ सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः।

श्रीपुरे पद्मश्रेष्ठिनः पद्मावती पत्नी संभवश्चन्द्रकुमारोऽजनि, स च विज्ञोऽभूत्। क्रमान्नटविटखुण्टकैः सार्द्धं तिष्ठन् चौर्यं कर्त्तुं लग्नः, ततो लोकगृहे प्रविश्य धनं हरते रात्रौ।

इतो लोका रावं कुर्वन्ति, ततो राज्ञा धृतः एकवारं मोचितः, द्वितीयवारं लोकैर्मोचितः, उक्तं च—अद्यप्रभृति चौर्यं न कार्यं। सोऽवग्-स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृतः। शूलायां क्षेप्यमाणं तं राजाऽवग्—मम देशं त्यज। सोऽवग्—स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृतः। राजाऽवग्-मम देशं त्यज। सोऽवग्—मुच्यतां मां, भूपोक्तं करिष्यते मया। ततो निर्गतो मार्गे गच्छन् दध्यौ,-अद्य कस्य गृहे चौर्यं करिष्ये। तदाऽकस्मात्सरस्यां नभसः सिद्धपुरुष उत्तीर्णः। पादुके उत्तार्य स्नानं कर्त्तुं लग्नः, ततः स स्तेनो दध्यौ। यस्मिन् दिने चौर्यं न क्रियते तस्मिन्दिने धान्यं न जीर्यति। अद्य पादुके इमे मम देवेन दत्ते। अतः इमे ग्रहीष्यते। ततस्ते पादुके परिधाय व्योम्नि उत्पपात। पश्चादेत्य स्वपुरे लोकेषु पश्यत्सु स्तैन्यं चकार। केनापि धर्तुं न शक्यते। राजादयो विलक्षा अभूवन्। लोकै रावः क्रियते पित्रादिस्वजनगृहेष्वपि प्रविश्य चौर्यं करोति स्म। यदा न धर्त्तुं

केनापि शक्यते, तदा राजाऽवग—सप्तदिनमध्ये चौरो धार्यो मया । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा राजा निर्गतः । षट् दिना गताः, सप्तमदिने प्रथमं देवकुले गत्वा देव्या आभरणानि दृष्ट्वा दध्यौ राजाऽत्रायाति चौरः, ततो राजा छन्नं स्थितो यावत् तावत् स स्तेनोऽभ्येत्य पादुके उत्तार्य देवीं नत्वा जगाद यदि मम बहुधनमद्य चटिष्यति तदा तव विशिष्टपूजां करिष्येऽहं । एवं प्रोच्य यावत्स्तेनः पादुके परिधत्ते तावदेका पादुका राज्ञा गृहीता, द्वितीया चौरेण । नष्टश्चौरः पृष्टौ वाहरा धाविता । एकां पादुकां परिधाय क्वचित्व्योम्नि क्वचिद्भूमौ चचाल, अग्रे गच्छन् वाहरामागच्छन्तीं दृष्ट्वा पृष्ठौ अग्रे यतिं कायोत्सर्गस्थं दृष्ट्वा नत्वा सामायिकफलं पप्रच्छ । ततः सामायिकपुण्ये फलं ज्ञात्वा सामायिकं लात्वा तत्रस्थो यावत् स्वं कर्म निनिन्द तदा केवलज्ञानमभूत्तस्य । देवैः रजोहरणदानादिमहश्चक्रे । राजाऽपि तत्रागतश्चौरमुत्पन्नकेवलज्ञानं दृष्ट्वा जाताश्चर्यो नत्वा यतिं पप्रच्छ तव कथमेतदन्यायकारकस्य ज्ञानम् ? तेनोक्तं–सामायिकफलं ।

यतः— प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रं, तपसा जन्मकोटिभिः ॥१॥

ततोऽनेकैः सामायिकफलं ज्ञात्वा सामायिकप्रतिक्रमणादि क्रियते । द्वितीया पादुका राज्ञोऽभूत् ततो राजा पादुकाद्वयं परिधाय बहुषु तीर्थेषु गत्वा देवान् नमस्करोति स्म । प्रतिदिनं सप्ताष्ट सामायिकानि लाति । क्रमात्स्वर्गं गतो, मुक्तिं यास्यति ।

इति सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः ॥१३२॥

[133] अथ छलजल्पने कमलकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमकुटुम्बिकोऽन्यदा कमलं प्रति प्राह—यः शीतेऽतीव पतति निरावरणः, सरसीमध्यस्थस्तपति दीपके तस्मै अहं दीनारपञ्चकं ददामि । स कमलस्तथा स्थितः, रात्रौ दीपकं दृष्ट्वा तप्तः । प्रातः पृष्टं–त्वया कथं स्थितं ? सोऽवग्—चन्द्रमहेभ्यगृहस्योपरि दीपिकां दृष्ट्वा तप्तः । ततः पञ्चदीनारान् जिगाय ॥१२३॥

इति छलजल्पने कमलकथा ॥ १३३ ॥

[134] अथ परोपकारे श्रेष्ठिपुत्रवैद्यसम्बन्धः ।

श्रीपुरे चन्द्रवैद्योऽनेकैरौषधैर्लोकानां रोगं फेटयन् बहुधनं गृह्णाति वञ्चयति च । तस्यापणे बहवो वणिक्पुत्रा वैद्यकलां शिक्षितुं तिष्ठन्ति स्म । ये विद्यायां कुशलिनो भवन्ति ते औषधदानात् हन्यन्ते । तेन एकस्य वणिजश्चत्वारः पुत्राः तद्विद्याकुशला जाताः । ते सन्त औषधदानान्मृताः । पञ्चमं पुत्रं माता यदा तदापणे न मुञ्चति तदा पुत्रो मातरं प्रति जगौ—मां तत्र विद्याशिक्षणाय मुञ्च । अहं तथा करिष्ये यथा मां न हनिष्यति । ततः स वैद्यापणे गतः । वैद्यस्याग्रे प्राह—अहं वैद्यकविद्यां न जानामि, मुग्धोऽस्मि, यत्त्वं वस्त्रानयनादिक्रियां

कारयिष्यसि तदहं करिष्ये । ततस्तेन स्वगृहे स्थापितः । ततः स मुग्धो भूत्वा सर्वपामौपधानामाम्नायं जज्ञौ । परं स्वं तज्ज्ञं न ज्ञापयति ।

इतस्तस्मिन्पुरे एकस्य कस्यचित्स्नानं कुर्वतः कर्णरन्ध्रे सूक्ष्मा भेकी प्रविष्टा । वेदना जाता, न निर्गच्छति, ततस्तेन वैद्यस्य कर्णरन्ध्रं दर्शितं । ततः स यदा तप्तसूचिकां कृत्वा कर्णरन्ध्रे क्षेप्तुं लग्नः, तदा स वणिक्पुत्रो जगौ—एवं कृते द्वयोर्मरणं भविष्यति, तथा कुरु यथा द्वयोर्जीवितव्यं भविष्यति । यदास्य कर्णरन्ध्रे वारिभृतं वर्त्तोलकं मुच्यते तदा भेकी स्वयमेव निर्गच्छति । तथाकृते भेकी स्वयं निर्गता । ततः श्रेष्ठिना स वणिक्पुत्रो मानितः, वैद्यो न मानितः । हसितश्च । ततो रुष्टो वैद्यो दध्यौ—अयं मुग्धो भूत्वा मदीयां विद्यां मत्तोऽधिकं शिक्षितवान् । अतस्तथा करिष्ये यथा मरिष्यत्यसौ । ततः स श्रेष्ठिपुत्रो लब्धविद्यो नष्टः, ततो यत्र गच्छति तत्र तत्र शकुनवलाद्याति । तदा सोऽपि शकुनवलात्तमागच्छन्तं ज्ञात्वा नश्यति । एवं तयोः सदा कुर्वतोर्बहवो दिना याताः, श्रेष्ठिपुत्रो दध्यौ ममायं वैद्यो गुरुस्थाने तेन हन्यते कथं मया तदेति ध्यात्वा गुहायां प्रविष्टः । अग्रे मृत्तिकया व्याघ्ररूपं सजीवमौषधेन कृत्वा मुमोच । वैद्यस्तत्रागतो व्याघ्रं दृष्ट्वा दध्यौ, स च गुहायां विद्यते, व्याघ्रः स्वयमेव हनिष्यति । ततो वैद्ये गते स श्रेष्ठिपुत्रस्तस्मान्निर्गत्य स्वमातुःपार्श्वे समेत्य स्वजीवनसम्बन्धं प्रोच्याऽन्यत्र ग्रामे गत्वाऽन्येषां लोकानामुपकारं चक्रे ।

इति परोपकारे श्रेष्ठिपुत्र–वैद्यसम्बन्धः ॥१३४॥

[135] हस्तहेमसिद्धिसम्बन्धः ॥

कमलपुर्यां सोममेदिनीशः स्वर्णं सिद्धिं कारंकारं अलब्धहेमसिद्धिः खिन्नः सन् पुरद्वारे लेखयामास—

ऐदंयुगीनकाले रै–सिद्धिर्नैव लभ्यते ।
तेन तद्विषये कार्यः, पुंसा नोपक्रमः क्वचित् ॥ १ ॥

ततस्तं श्लोकं दर्शं दर्शं कोऽपि स्वर्णसिद्धिविषये उपक्रमं न चक्रे । इत एकः पुमान् गृहे गृहे भिक्षां याचमानो वेश्यागृहे गतः । तदा वेश्या सेरप्रमाणं हेम ददौ । स च ततो निर्गत्य दध्यौ–स्वर्णसिद्धिं विना नैवं केनापि दानं दीयते । पृष्टा सती तु न सम्यक्कथयिष्यति । अतो मायां तथा कुर्वे यथाऽस्याः समीपात्स्वर्णसिद्धिं ज्ञास्यामि । ततः स द्विजवेषधरो भ्रमन् वेश्यागृहद्वारे गतः जगौ च मम पुत्रो मृतो निराधारोऽन्धोऽस्मि । यः कोऽपि धान्येन मां रक्षसि तस्य गृहे स्थितो द्वाररक्षां करोमि । द्विजजीवितदाने पुण्यमपि भवति । ततो वेश्यया धान्येन स्वगृहे स्थापितः । सा वेश्या सप्तौषधान्यानीय सप्त दिनानि मर्दयित्वा तच्चूर्णेन दीपिकां करोति । यत्र तस्या धूम्रो लगति तद्धेमं भवति । स च विप्रः सर्वं पश्यति । पुनर्न ज्ञापयति ।

एकदा वेश्या तस्मै चूर्णं वर्त्तयितुमर्पयन्ती दध्यौ–कदाचिदनेन माया मण्डिता भविष्यति, तदा सर्वं ज्ञास्यति । ततस्तस्य जीमितुमुपविष्टस्यामत्रे विष्टा पर्यवेपिता । पार्श्वे स्थिता च । तदा स

दध्यौ यद्यहं विष्टां वदिष्यामि तदा मामनन्धं ज्ञास्यति। ततः स हस्तेन कवलं भर्तुं यावच्चिक्षेप तावद्वेश्ययोक्तं–स्थिरीभव, अजानत्या तव भोजने विष्टा पतिता ततस्तामपसार्य वर्यमन्नं परिवेषितं। स च बुभुजे। ततः सा निःशङ्कं सर्वौषधानां नामग्रहणं लाति। तस्य वर्त्तयितुं दत्ते। ततः सम्यग् हेमसिद्धिर्जाता। ततो मिषं कृत्वा ततो निर्गतो द्विजः। अन्यत्र गतश्छन्नं हेम चक्रे। स्वयं भुङ्क्ते, दानं दत्ते, क्रमादपरैरपि औषधैरेकेन द्वाभ्यां हेमं करोति।

ततोऽन्यदा भ्रमन् पुरद्वारे गतः स्वर्णसिद्ध्यभावाक्षराणि भूपलिखितानि ज्ञात्वा तेषामक्षराणामपसाराय भूपस्य गृहे महोत्सवे जायमाने दीपवर्त्तिकनरैः सार्द्धं हेमसेरद्वयं द्वास्थपार्श्वेऽक्षिपत्। राजसभायां रात्रौ गतः। तत्र स्वकृतदीपिकाधूमेन अन्यदीपिकाकरदीपिकाभिः समसमुद्योतं कुर्वाणो राजसभां हेममयीं कृत्वा राजभवनान्निर्गतः। प्रातर्भूपः सभां हेममयीं दृष्ट्वा चमत्कृतः। पृच्छंपृच्छं द्वास्थपार्श्वान्नरमागतं ज्ञात्वा दध्यौ–यस्य स्वर्णसिद्धिर्विद्यते तेनेयं सभा हेममयी कृता। मया प्रपञ्चेन स निःकासितव्यः। ततो राज्ञा तस्य ज्ञानाय भूमिगृहं कारितं। तन्मध्ये शतद्वयीस्वर्णकृतं मुक्तासूत्रं च भोजनादि च कारितं हेमसभास्वर्णं तत्र मुक्तं। ते च सर्वे हेममयानि बीजपूर–नालिकेर–लिम्बुकादीनि घटयन्ति। भूमिगृहद्वारपार्श्वस्थचित्रशालाय राजोपविशति। लोका यदा प्राभृतीकुर्वन्ति बीजपूरादीनि तदा राजा छन्नमधो भूमिगृहे मन्त्रिहस्ते मुञ्चति मन्त्री च छन्नं हेममयानि दत्ते। ततो लोके प्रघोषोऽभवत् यद् भूपस्य हस्ते प्राभृतीक्रियते तद्धेमं भवति। ततः पुमान् स हस्तहेमसिद्धिं ज्ञात्वा दध्यौ मत्तोऽधिको राजा जातः। अहं तूपक्रमतो हेम करोमि। राजा तु हस्तेन करोति। ततः सोऽपि काष्ठमयानि बीजपूराणि प्राभृतीकृत्य हेममयानि भूपपार्श्वात्प्राप। यदि हस्तसिद्धिरपि मम स्यात्तद्वरं, ततो राज्ञो मिलितः, स्वकृतां हेममयीं चित्रशालां ज्ञापयामास। ततो राजाऽवग्-स्वर्णसिद्धिं कथय, ततो मम हस्तौ हेमहस्तसिद्धिं दर्शयिष्यतः। ततस्तेन हेमसर्वौषधचूर्णकरणादिकथनात् हेमसिद्धिस्तस्मै दर्शिता। ततो राजा भूमिगृहे तं नीत्वा हस्तेन हेममयबीजपूरादिसिद्धिं दर्शयामास। सोऽवग्–राजन्! हस्तहेमसिद्धिं दर्शय। ततो राजाऽऽचष्ट मयोक्तं ममायं हस्तौ हेमहस्तसिद्धिं दर्शयिष्यति, तेन तु दर्शिता। ततः स पुमान् अहं धृष्टो भवता वचनच्छलात्। ततो राज्ञा पुरद्वाराक्षराणि दूरीकारितानि, तत्रान्यान्यक्षराणीति लेखयामास—

ऐदंयुगीनकालेऽपि कस्यचिन्मनुजस्य तु।
हेमसिद्धिः समस्त्येव, कार्योऽत्र संशयो नहि ॥ २ ॥

ततो राजा हेमसिद्धिं कारंकारं महादानं ददौ।

इति हस्तहेमसिद्धिसम्बन्धः ॥ १३५ ॥

[136] अथ धर्मपरीक्षायां लौकिकपार्वतीश्वरकथा।

एकदा द्वारिकायां कृष्णं नन्तुं लक्षमिता मनुष्याश्चेलुः। अत्रान्तरे पार्वती शम्भोः पुरः प्राह—एते सर्वे जनाः पुण्यवन्तो यात्रां कर्त्तुं निर्ययुः। ईश्वरोऽवग्—एतेषां द्वित्राः पुण्यवन्तः स्युः। गौरी जगौ–कथमेतद् ज्ञायते? ईश्वरोऽवग्–परीक्षां करिष्ये, त्वं गौर्भव, अहं नरो भविष्यामि।

वान् । राजा देवपूजावसरे सिद्धान्तपुस्तकानि पूजयामास । राजा श्रीगुरुकृतान् ग्रन्थान् लेखयितुं दधिग्रहणाभिग्रहं ललौ । ७०० लेखका लिखन्ति कागदेषु । ततोऽन्यदा गुरून् पप्रच्छ राजा । बहुकालं पुस्तकानि कथं तिष्ठन्ति, न विनश्यन्ति च । गुरुः प्राह—श्रीताडपत्रैर्लिखितानि पुस्तकानि बहुकालं तिष्ठन्ति न विनश्यन्ति च । ततो राजा श्रीताडपत्रैः पुस्तकानि लेखयितुं लग्नः । श्रीताडत्रुटिर्जाता । राजा दध्यौ यान् ग्रन्थान् समग्रान् लेखयितुमहं न शक्तः । ततो राज्ञा श्रीताडानयनविषयेऽभिग्रहो लले । यदा श्रीताडा आगमिष्यन्ति तदा मया भोक्तव्यं । उपवासत्रये जाते शासनदेव्या खरताडाः श्रीताडाः कृताः । प्रातरारामिकः श्रीताडान् दृष्ट्वा राजानं वर्धयामास, प्राह च—तव साहसात्सर्वे खरताडाः श्रीताडाः जाताः । ततो राजा गुरवोऽन्येऽपि मिथ्यात्विनोऽपि तद्दृष्ट्वा जिनधर्मं प्रशशंसुः । ततो जिनशासनेऽतीवोन्नतिर्जाता ।

इति पुस्तकाराधने श्रीताडागमने श्रीकुमारपालसम्बन्धः ॥३५१॥

[352] अथ औचित्यदाने ।

सर्वजीवान् रक्षन्तं भूपं दृष्ट्वा एकः कवि प्राह—

पूर्वं वीरजिनेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्त्तुं क्षमः श्रेणिकः ।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्,
लब्ध्वा यस्य वचःसुधां स परमश्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥१॥

तस्मै लक्षदानम् । इति औचित्यदाने ॥३५२॥

[353] अथ श्रीकुमारपालभूपस्वर्णसिध्यप्राप्तिस्वरूपम् ।

एकदा स्वं संवत्सरं प्रवर्त्तयितुकामो भूपः श्रीहेमसूरिपार्श्वे स्वर्णसिद्धिं याचते स्म । गुरुणोक्तं—अस्मद्गुरवः श्रीदेवचन्द्रसूरयो जानन्ति । ततो गुरून् बहुविज्ञप्त्या तत्र समहोत्सवमाकारितवान् । श्रीहेमसूरि-कुमारपालभूपाभ्यां द्वादशावर्त्तवन्दनादिभिर्विनयः कृतः । गुरुभूपौ गुरोः पादयोर्लगित्वा स्वर्णसिद्धिं याचेते । गुरुषु तामददानेषु श्रीहेमसूरिः प्राह—भगवन् ! मम बाल्ये श्रीप्रभुपादैरेकस्य भारवाहकस्य काष्ठभारात् वल्ली स्फीता मम पार्श्वाद् ग्राहिता, तेन वल्लीरसेनाभ्यक्तं ताम्रखण्डं युष्मदुक्तविधिना वह्नियोगात्स्वर्णीबभूव तस्य । तस्या वल्लेश्च किं नामेत्यादिश्यतां । ततः कोपादुक्तं गुरुणा—

अग्रे तव मुद्गरसप्रायदत्तविद्यया अजीर्णं जातं, किमिमां विद्यां याचसे ? तव कालविशेषान्न सा सेत्स्यति । अधुना तादृग् भाग्यं भवतोर्न दृश्यते अतो न वक्तव्यं । ततो गुरूणामभिप्रायं ज्ञात्वा क्षमितं, ताभ्यां गुरुभूपाभ्याम् ।

इति श्रीकुमारपालभूपस्वर्णसिध्यप्राप्तिस्वरूपम् ॥३५३॥

[354] अथ कर्मविषये दुःस्थसम्बन्धः ।

पद्मपुरे धीरभूपो गवाक्षस्थो राज्ञीं प्रति प्राह—पश्य, पत्नि ! मया प्रजा सुखिनी कृता, क्रियते, करिष्यते च । राज्ञी जगौ—यदि त्वद्दत्तेन धनेन प्रजा सुखिनी स्यात् तदा एष दुःस्थो मस्तककृतेन्धनभारो नरः सुखी क्रियतां त्वया ।

राजा प्राह—पश्य पत्नि ! अमुमपि सुखिनं करोमि । राज्ञी-प्राक्कृतं शुभं कर्मास्य भविष्यति तदा तस्यालये श्रीः स्थास्यति, नो चेत्त्वया दत्ताऽपि यास्यति ।

ततो राजा कर्मपरीक्षार्थं वर्त्मनि यस्मिन् याति दुःस्थस्तस्मिन् सपादलक्षं हारं मुमोच ।

ततः स तत्रागतो यदा सर्पं वीक्ष्यान्येन मार्गेण गतः । द्वितीयदिने राज्ञा मुक्तं हारं सिन्दूरं पतितमग्रे स गतः । ततो राजा तमाकार्य पप्रच्छ । त्वं कल्ये मार्गं मुक्त्वाऽन्येन मार्गेण कथं गतः ? सोऽवग्—सर्पो दृष्टो मार्गे । अत्र न सिन्दूरं दृष्टं मया । ततो राजा जगौ—

मसिविण माथामाहि आखर जे आगइ लिख्या ।
अधिक न उ ठाथाइं, चहुटा ते चाचिग भणइ ॥१॥

एवं प्रोच्य तस्य वर्यं भोजनं दत्त्वा राजा विससर्ज ।

इति कर्मविषये दुःस्थसम्बन्धः ॥३५४॥

[355] अथ कौतुकजल्पने क्षुल्लसम्बन्धः ।

एकस्य पण्डितस्य बहुकालादेकः क्षुल्लकः सम्पन्नः । स बहुभक्षकः [पण्डितस्तं] पण्डितं दृष्ट्वा वर्णयति मम क्षुल्लकोऽतीववर्योऽस्ति, तदाऽन्येन साधुना हास्यादुक्तं—

घसि वोघर ढुंढणि ढलस खीच तेल नो काल ।
गुरुनइ चेलो सांपडिओ, चालंतो दुकाल ॥१॥

इति कौतुकजल्पने क्षुल्लसम्बन्धः ॥३५५॥

[356] अथ कृत्तकर्णपुच्छशृगालसम्बन्धः ।

एकदा एकस्मिन् ग्राममध्ये शृगालः समागात् भिक्षार्थं [भक्ष्यार्थं] यदा तदा लोकानामग्रे निर्गन्तुं न शशाक । ततः स मायया जीवितुं वाञ्छन् उत्कटके मृतप्रायो भूत्वा पतितः । तदा लोका मिलिता मृतोऽयं मृत्तोऽयमिति जगुः । तदा एको वैद्यस्तत्रागात् प्राह च-अस्य शृगालस्य कर्णेन भक्षितेनातिसारो याति । अस्य पुच्छेन च शिरोऽर्त्तिर्याति । दन्तैर्ज्वरो याति । ततो लोकैः कर्णौ छिन्नौ, ततः पुच्छं छिन्नं, ततो यदा दन्तादिच्छेदं कर्त्तुमुत्थिता लोकाः तदा स उत्थाय श्लोकमेकं जल्पन्नष्टः—

गतौ कर्णौ गतं पुच्छं, दन्तानां विद्यते कथा ।
ध यः पला[य]ति स जीवति ॥१॥

एवं प्रोच्य गतः स शृगालो जिजीव चिरमेवं ये विनष्टं ग्रामं दृष्ट्वा त्यजन्ति ते जीवन्ति।

इति कृतकर्णपुच्छशृगालसंबंधः ॥३५६॥

[357] अथ प्रभुपूजायां कार्वाटिकासंबंधः ।

श्रीपुरे भूपपत्नी चन्द्रवती एकं कार्वाटिकं मस्तकन्यस्तेन्धनभारं विक्रीणन्तं वीक्ष्याकस्मात् प्राप्तजातिस्मरणा भूपे शृण्वति गाथामेकां प्रोवाच—

अडवी पत्ती नई अजल तोइ न वूढा हत्थ ।
अज्ज एह कव्वाडीह दीसइ साइज अवत्थ ॥१॥

एतां गाथां श्रुत्वा सोऽपि कार्वाटिकः प्राप्तजातिस्मरणोऽश्रुप्रवाहं मुञ्चन् बभूव।

इतः भूपः पप्रच्छ—पत्नि ! एषा गाथा कस्माज्जल्पिता त्वया ? सा प्राह—वने अहं कार्वाटिकाऽभूवं, एष कार्वाटिको मम पतिरभूत् । प्रभोः पूजाफलं यतिपार्श्वे श्रुत्वा अटवीसम्बन्धिपुष्पाणि लात्वा नद्या जलं नीत्वा प्रभोः पूजामकार्षम्, एषः तु बहूक्तोऽपि प्रभोः पूजां नाकार्षीत् । अहं प्रभोः पूजाफलाद्भवत्पत्नी अभूवं । एष तु तदवस्थ एव । अतो मया गाथा प्रोक्तेयं । ततो राजा सोऽपि कार्वाटिकोऽन्येऽपि बहवो जनाः प्रभोः पूजां चक्रुः ।

इति प्रभुपूजायां कार्वाटिकासंबंधः ॥३५७॥

[358] अथ योगिचेल्लकसम्बन्धः ।

एकदा योगिचेल्लकौ निर्गतौ । वर्त्मनि चेल्लकेनाकस्माद्वासनिका प्राप्ता कस्यचित् ।

ततोऽग्रे यदाऽचालीद्योगी, तदा चेल्लको जगौ। साम्प्रतमत्रासन्नग्रामे स्थीयते, तदा योगिनोक्तमात्मनो निर्ग्रन्थस्य का भीतिः? ततश्चेल्लको यदा न चलति तदा योगिना ज्ञातमस्य पार्श्वे किमपि धनं विद्यते अतोऽस्य भीर्भवति । ततः पश्चाद्वलित्वा योगिना चेल्लको विलोकितः । धनं निर्गतं । ततः प्रोक्तमात्मनो धनमनर्थाय भवति, तदिदं त्यज। ततस्तेन धनं त्यक्तं। ततश्चेल्लको जगौ-भयं भाजने भवति, तच्च धनं, धनं च गतमतश्चल्यतां । ततो निर्भयौ भूत्वा योगिचेल्लकौ चेलतुः । इति भयभाजने योगिचेल्लकसम्बन्धः ॥३५८॥

[359] अथ वृद्धत्वे वृद्धनरसंबंधः ।

एको वृद्धो मार्गे अधोमुखो याति, तदा [ते] तथा हिण्डमानं दृष्ट्वा तरुण एकः पुमान् प्राह—भो वृद्ध ! अधोमुखं किं हिण्डयते ? वृद्धोऽवग्—रत्नमेकं मार्गेऽस्मिन् पतितं

तद्विलोकयन्नस्मि । युवा प्राह—किं रत्नं पतितं ? वृद्धो जगौ भवद्भिरपि जीवद्भिरत्र रत्नं हारयिष्यते, युवाऽवग्-किं रत्नं भवति तत विलोक्यते । वृद्धोऽवग्-यौवनरत्नं हारितं पातितं च तद्विना सर्वोऽपि पुत्रपत्नीप्रभृतिर्न मानयति । यतः—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
हा ! कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥१॥

युवा प्राह—सत्यं वृद्धेनोक्तं--ततो वृद्धं क्षमयित्वा युवा गतः ।

इति वृद्धत्वे वृद्धनरसम्बन्धः ॥३५९॥

[360] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे धनिनं राजा दण्डयितुमिच्छति छलं चिन्तयति च, परमवसरं न लभते । दीपालिकावसरे राज्ञा ध्यातं—मम लक्ष्मीः पट्टराज्ञी वर्त्तते । एतद्भार्या तु प्रभाते वक्ष्यति—

'पइ सिलाछि निसरि अलछि'

इति वदन्ती बहिर्निर्यास्यति एवं प्रोक्तेऽहं धनिनं दण्डयिष्यामि । श्रेष्ठिना राजाभिप्रायज्ञेन पत्नीति शिक्षिता शूर्पकं त्यजन्ती प्रोवाचोच्चैः ।

'पाडोसीनि रीतिं रीति'

एवं श्रुत्वा भूपो न दण्डयितुं समर्थोऽभूत् ।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ॥ ३६० ॥

[361] अथ सामायिके निसढस[वि]सढकथा ।

असमंजसाइ जंपइ, गहिओ मासाई अंपि जो सड्ढो ।
निसढो वि कुगइपत्तो, सो मो[सो] यइ अप्पणो खलिअं ॥१॥

तथाहि—साकेते पुरे आसधरः श्रेष्ठी मृदुभाषी, तस्य वसुन्धरा पत्नी, विसढः पुत्रः प्रमदमदादिवान्, तस्य मित्रं निसढः प्रकृत्या धर्मकर्मकृत् ।

अन्यदा धनं प्रधानमिति हृदये कृत्वा धनार्जनाय निर्गतौ स्वगृहात्तौ । मार्गे चलन्तौ साधुद्वयमुन्मार्गे समागच्छन्तं दृष्ट्वा च मिथश्चिन्तयतः । एतौ साधू ज्ञानिनौ लाभादि पृच्छयेते, तदा तत्रैत्य ज्येष्ठः साधुराचष्ट को मार्गोऽमुकग्रामस्य, ततस्तौ हसतः स्म । हसनकारणे साधुना पृष्टे तौ वणिजौ जगदतुः--आवाभ्यां ज्ञातमेतौ साधू ज्ञानिनौ स्तः अतो लाभादि

प्रक्ष्येते, भवद्भ्यां मार्गोऽपि न ज्ञायते, अतो हास्यमभूत्। साधू जगदतुः—द्वौ मार्गौ स्तः-द्रव्यभावरूपौ। वयं तु भावमार्गं जानीमः। द्रव्यमार्गोऽयं गमनारब्धः पन्थाः, [तस्माद्भावमार्गाच्च इह लोको न स्यात्, द्रव्यमार्गाच्च स्यात्] तस्मात् भावमार्गाच्च न द्रव्यमार्गादिहलोकः स्यात्। भावमार्गाच्च स्वर्गादिशिवान्तं सुखं स्यात्। भावमार्गः सामायिकं 'सामाईअंमि उ कए'॥१॥ इत्यादि।

ततो द्वावपि सामायिकाभिग्रहं ललतुः। क्रमाद्विसढः प्रमादी मित्रेण वार्यमाणोऽपि सामायिकं हास्यकौतुकादिभिः खण्डयति, विकथाः करोति स्म। अन्यदा कृतसामायिकं तं प्रति श्राद्धैरुक्तं—निरवद्यं सामायिकं सावद्यैर्वचोभिर्न खण्ड्यते। ततः स प्राह—मम प्रकृतिरियं, मत्प्रातिवेश्मिक सान्त इवास्ति। यतः—

मह पाडिवेसओ जह, वारिज्जंतोवि पुत्तनत्तूहिं।
अहिअं निट्ठुरभासी, होइ तहा अहमवि अहन्नो ॥२॥

तथाहि—अस्ति सान्तो नाम्ना धनी, स च निष्ठुरमेव भाषते पुत्रादिभिः समं। तथाहि—

निट्ठुरभासी पुत्ताइ संतई दूमेइ।
अह अन्नया पत्तो, वीवाहो तस्स गेहंमि ॥३॥

तणयदुहियाइ ततो, पत्ते वरिणज्जयस्स समयंमि।
पुत्तेण पिया भणिओ, पजंपि[य]व्वं न दुव्वयणं ॥४॥

अन्नोवि हु भासंतो, अमंगलं ताव वारिअव्वो अ।
जम्हा आसन्नोच्चिअ, पवट्टए लग्गसमओत्ति ॥५॥

तो भणइ सिट्ठिसंतो, लग्गं वा इओ मरणं वा एउ।
नाहं किंचिवि भणिमो, मुउव्व मुक्क व्व चिट्ठिस्सं ॥६॥

तत्तो निसीहसमए, सयं समुट्ठे वि संत[ओ] सिट्ठि।
अवलोइविगहचक्कं, विणिच्छियं लग्गसमयं व ॥७॥

सो सद्दइ नियतणयं, रे रे छोहरय गोरकयंडोउ।
उट्ठवसु जेण लग्गं, सो साहइज्जइमूओ नेव ॥८॥

तो भणियं तणएणं, मामा ताय एरिसं वयणं।
भणसु सुभासियवयणं, जं चउरीए धूया चडिही ॥९॥

चडउ चडरीए सूलीए वावि ताहि न किंपि जंपिस्सं।
जाव न एसा रंडा, मज्झ गिहाओ विणीहरिआ ॥१०॥

तो भणियं तणएणं, रंडा मा भणसु ताय पढमंमि ।
सो भणइ तुम्ह जणणी, मयावि रंडा मए भणिआ ॥११॥

तहवि न जाया रंडा, किं रे दुद्धाइ मंगलसएहिं ।
जो मंमि एवमाई, तब्भणिमाणं नो संखा ॥१२॥

एवं स श्रेष्ठी दुष्टवचःपरो न निववर्त्ते । एवं ममापि स्वभावेन सत्यपि सामायिके सावद्यवचोजल्पनं । विसढः सावद्यं सामायिकं करोति स्म । यदा कोऽपि वारयति तदा स वक्ति—यदा त्वं स्वर्गे गमिष्यसि तदाऽहं मार्दङ्गिको भविष्यामि । मम केलिस्वभावो न याति । कालेन निसढः सामायिकपरो मृत्वा महर्द्धिकः सुरः स्वर्गे जातः । पिसढो मृत्वा स्वल्पर्द्धिको मार्दङ्गिको जातः । तेन प्राक्स्नेहात् गौरवेण दृश्यमानोऽपि तद्विभवं दृष्ट्वा प्राग्भवं स्मृत्वा झूरयति ।

सरिसो गिहिधम्मो, दोहिंवि परिवालिओ तहवि जाओ ।
अज्झवसायवसेण, एगो सामी अहं भिच्चो ॥१३॥

इत्यादि । ततो द्वावपि मुक्तिं यास्यतः ।

इति सामायिके निसढ[वि]सढकथा ॥ ३६१ ॥

[362] अथ सम्यक्त्वे वज्रकर्णकथा ।

वज्रकर्णभूपः सम्यक्त्वधारी नान्येषां देवानां मस्तकं स्वं नामयति । ततो मुद्रिकास्थं जिनं नमन् निजेशं सिंहोदरं न नमति । तस्य क्रमाद्रामलक्ष्मणौ धर्म्मोत्साहाय्यं चक्रतुः । उक्तं च—

अहं सात्त्विकमूर्धन्यो, वज्रकर्णमहीपतिः ।
सर्वनाशेऽपि योऽन्यस्मै, ननाम न जिनं विना ॥१॥

इति सम्यक्त्वे वज्रकर्णकथा ॥३६२॥

[363] अथ रामलक्ष्मणरावणहनुमत्सीतामूर्खत्वसम्बन्धः ।

रावणं जित्वा पश्चादयोध्यायामागच्छन् रामो लक्ष्मणेनोक्तः । तुङ्गगिरौ हनुम-[माता] न्मातुर्मिल्यते । ततो रामप्रेषितोऽग्रे भूत्वा हनुमान् गत्वा मातरं नत्वाऽवग्-राम आगच्छन्नस्ति, किमपि भव्यं वाच्यं । "आगच्छन्त्वत्र रामादय" इति तयोक्ते आगता रामादयस्तत्र । हनुमन्मात्रोक्तं—भो राम ! मूर्खकुटुम्ब ! त्वया गम्यतां । रामोऽवग्—भो मातरहं कथं त्वया मूर्खः कृतः ? सा तूवाच—यत्त्वं सौवर्णं मृगं ज्ञात्वाऽपि तत्पृष्टौ धावितः, मृगा रैमया न भवन्तीति न विचारितं, अतस्त्वं मूर्खः । यतः—

न भूतपूर्वं न कदापि संस्मृतं, हैमः कुरङ्गो न कदापि वीक्षितः ।
तथापि तृष्णा रघुवंशजस्य, विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥१॥

लक्ष्मणेनोक्तमहं कथं मूर्खः ? सा चाह—लोकोक्त्यैवं प्रोच्यते—रामेण खरदूषणाभ्यां सह युद्धं कुर्वाणेन यथा सिंहनादरूपार्त्तस्वरः कृतः तदा त्वं रामं मरणान्तेऽप्यार्त्तस्वरमजल्पन्तं ज्ञात्वाऽपि सीतां शून्यां मुक्त्वा तत्रागाः। अतस्त्वमपि मूर्खः ।२।

सीतयोक्तमहं कथं मूर्खा ?–यद्रामकर्षितरेखायाः बहिः पदं दत्तवतीति तेन मूर्खा ।३।

हनुमता पृष्टं—कथमहं मूर्खः ? सा प्राह—ईदृग्बली भवान् लङ्कावने सीतापार्श्वे गतः सन् तामुत्पाट्य यन्नानीतवान् अतस्त्वमपि मूर्खः ।४।

सर्वैर्वृद्धवानर्योक्तं यथा सत्यं मानितं तथाऽन्यैरप्यधुना वृद्धप्रोक्तं माननीयम् ।

इति रामलक्ष्मणहनुमत्सीतामूर्खत्वसम्बन्धः ॥३६३॥

[364] अथ लोका भूपानामपि दुराराध्या भवन्तीति विषये रामसम्बन्धः ।

रामेण वने गच्छता भरतं प्रति शिक्षेति दत्ता—

आलस्योपहतः पादः, पादः पाषण्डमाश्रितः ।
राजानं सेवते पादः, एकः पादः कृषीवलः ॥१॥

एकं पादं त्रयः पादा, भक्षयन्ति दिने दिने ।
तथा भरत ! कर्त्तव्यं, यथा पादो न सीदति ॥२॥

तदनु रामपादुकां सिंहासने उपवेश्य १२ वर्षाणि भरतो राज्यमकार्षीत्प्रजा चाऽकराम-करोत् । रामागमे तलिका तोरणबन्धनाय प्रत्यहं एकैकसूत्रफालकमार्गणेन कैश्चिदर्पितं, कैश्चिन्न, केचित्तदा दूनास्तस्मिन्मार्गणे । द्वितीयदिने प्रजा रामं नन्तुं यदा गताः सुखोक्तौ रामेण पृष्टायां दूनैः कैश्चिदुक्तं—भरतेन वयं पीडिताः । ततो रामेण भरतः पृष्टः सन्प्राह—मयाऽद्य यावत्सूत्रफालकं विना कोऽपि लोको न मार्गितः । ततो रामेणाचिन्ति भविष्यद्भिरित्याहाय स्था-पितमहिषीदोहनेच्छावत् बहुदिनेषु या न दुग्धा सा विशुष्का । अतः प्रजाऽप्येवं । ततो रामेण एकः करः कृतः ततोऽष्टादशकरा जाताः ।

इति लोका भूपानामपि दुराराधा भवन्तीति विषये रामसम्बन्धः ॥३६४॥

[365] अथ विशिष्टशाकुनिकनरज्ञातृसम्बन्धः ।

युगान्धरीदण्डिकोपविष्टां दुर्गां शब्दयन्तीं दृष्ट्वा शाकुनिक पुमान् प्राह—यस्याः परिणेतृहेतोः शकुना विलोक्यन्ते सा कन्या मासत्रयोत्पन्नगर्भा विद्यते तृतीयपत्रसमुत्पन्नकीटकत्वात् । तथैव दृष्ट्वा शकुनविद् प्रशंसितः । इति विशिष्टशाकुनिकनरज्ञातृसम्बन्धः ॥३६५॥

[366] अथ असारपुत्रादिसम्बन्धे श्रेष्ठिकथा ।

एकस्य धनिनः पार्श्वे केनचित् प्राघूर्णकेनोक्तं—भवतः कियन्तः पुत्राः सन्ति ? धनिनोक्तं—नव । क्षणात्प्राघूर्णकोऽवग्—कियन्तो जीवन्तः ? श्रेष्ठ्यवग—पञ्च । पुनः पृष्ठे–त्रयः । पुनः पृष्ठेऽतिथिना श्रेष्ठी—एकमाह ।

अतिथिः प्राह—श्रेष्ठिन् ! कथमेवं त्वयोच्यते ? श्रेष्ठ्याह—

नव स्युः शयने पुत्राः, कलौ पञ्चादने त्रयः ।
सत्तायामेक एव स्यात, कार्येऽप्येको न मे सुतः ॥१॥

इति असारपुत्रादिसम्बन्धे श्रेष्ठिकथा ॥३६६॥

[367] अथ प्रत्युत्पन्नमतौ माणिक्यसूरिसम्बन्धः ।

एकदा मुहडासके पुरे केनचिद्राज्ञा पथि त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य गौर्वन्दिता तथा माणिक्यसूरिणा प्रदक्षिणीकृत्य खरः प्रणतः । तदनु राज्ञोक्तं—खरो भवता कथं नतः ? सूरिणोक्तं—पूजितत्वान्, खरेण जातमात्रेण त्रयो देवाः प्राकम्पिताः । राज्ञोक्तं—कथमेतद् ज्ञायते ?

ब्रह्मणा स्वशिरो दत्तं, ईश्वरेण विलेपनम् ।
विष्णुना भयभीतेन, गदाशंखौ समर्प्पितौ ॥१॥

ब्रह्मणा स्वपरीक्षायां पञ्चमं गर्दभमस्तकं कृतम् । भवेन विलेपनं–स्वा विभूतिः रक्षा दत्ता लोटनाय । विष्णुना—गदा लिङ्गरूपा, शंखाकारः श्वेतमुखदानात् गदाशंखौ ।

इति प्रत्युत्पन्नमतौ माणिक्यसूरिसम्बन्धः ॥३६७॥

[368] अथ जीवदयायां जितशत्रुभूपसंबंधः ।

जीर्णदुर्गे जितशत्रुर्मृगयायां गतोऽन्यदा जीवहिंसां कुर्वन् चारणश्रमणर्षिणा प्रोक्तं—

जीववधंता नरगगइ, अवधंतां गइ सग्गि ।
हउं जाणउं दोइयघडी, जिणि भावइ तिणि लग्ग ॥१॥

अनया गाथया राजा प्रबुद्धो जीवहिंसामत्याक्षीत् ।

इति जीवदयायां जितशत्रुभूपसंबंधः ॥३६८॥

[369] संसारासारतायां कन्या हडि[हिडि]रेवेति कथा ।

कस्मिंश्चिद् ग्रामे एको मित्रं पाणिग्रहणोत्सुकं दृष्ट्वा प्राह—भवान् हिडौ क्षिप्यमाणोऽसि

तेनोक्तं का हिडिः ? यतिनोक्तं—यां कन्यां परिणेष्यसि त्वं सा हिडिः । सोऽवग्—सा वर्या स्त्रीर्विद्यते ।

यतिः प्राह—अस्यां हिडौ प्रविष्टस्य दुःखं स्यात् । स च सुहृन्न मन्यते । ततः स हिडौ प्रविष्टः । कालान्तरे साधुनोक्तं--अस्ति सुखं ? सुहृत्प्राह—हिडिप्रविष्टस्य क्व सुखं, या स्त्री हिडिः प्रोक्ता सा सत्यैव, मोक्तुं न शक्यते लोकापवादात् । पुनः कालान्तरे साधुना पृष्टं सुखमस्ति ते । सोऽवग्--कथं सुखं प्रथमं हिडौ प्रविष्टोऽहमधुना पुत्रपत्न्यादि खिलिकाभिर्दृढं जडितोऽस्मि ? आजीविकाया दुःखं । ततो यतिनोक्तमधुनापि मुञ्च । ततोऽवग्--व्रताद्बिभेमि । पश्चान्मृतः स नरके[कं] गतः । यतिस्तु स्वर्गे सुरोऽभूत् । ततः स्वर्गादभ्येत्य नरके सुहृदग्रे प्रोक्तं--त्वं व्रताद्भीतोऽभूत्, अधुनेदृशं दुःखं ते । ततोऽतीव झूरन्नभूत् अतः प्रथममेव चिन्त्यम् । इति संसारासारतायां कन्या हडिरेवेति कथा ॥३६९॥

[370] अथ प्रमादिहाडिजल्पकस्त्रीसम्बन्धः ।

एका स्त्री गृहे उन्निद्रा सती स्वगृहकार्यं कुर्वाणा क्षणं विश्रामं न लाति । सा च श्रीहेमसूरिसभायां व्याख्यानं श्रोतुं गता भित्ताववष्टम्भ्य निद्रायति [निद्राति] बहूक्ताऽपि न जागर्ति, तदाकस्मात् क्षुल्लकस्य हस्तात् त्रिपुणके पतिते खाटूकारशब्दाज्जागरिता 'हाडि हाडि' इति जल्पन्ती उत्थिता तदा सर्वा सभा जहसत् [अहसत्] ।

इति प्रमादिहाडिजल्पनकस्त्रीसंबंधः ॥ ३७० ॥

[371] अथ नाणावालसूरिपूर्णिमापाक्षिकसूरिमिथो वार्त्तासंबंधः ।

एकदा नाणावालराकाचार्यौ मिलितौ, मिथः कुशलपृच्छायां नाणावालाचार्याः प्रोचुः—'खतदूहवइ छइ' ।

राकाचार्यैरुक्तं—खतं किं प्रोच्यते ? नाणाचार्यैरुक्तं—खः-खरः, तरः-तः तथा दूहवइ छइ अस्मन्मध्यनिर्गमनत्वात् ।

राकाचार्या जगुर्वयं--आंत्रिनिर्गते जीवूं छुं । नाणावाला जगुः--युष्माकं का आन्त्रिनिर्गताः । राकाचार्याः प्रोचुः—आं-आंचलीया, त्रि-त्रिथोईआ आगमिका अस्मभ्यो निर्गता। अतो वयं आन्त्रिनिर्गते अपि जीवन्तः स्म ।

नाणावालसूरिपूर्णिमापाक्षिकसूरिमिथो वार्त्तासंबंधः ॥३७१॥

[372] अथ भाग्ये जयसिंहकथा ।

कर्णाटकदेशीयकेशिराज्ञः पुत्रीं मणयल्लदेवीं स्वयंवरामायातां गूर्जरनृपो मूलराज पत्तनस्वामी अङ्गीचक्रे । परं तस्य दौर्भाग्यत्वात् नामापि न लाति ।

अन्यदा राजानं कस्यांचिदधमयोषिति साभिलाषं ज्ञात्वा मूलराजमन्त्री कुम्बिणीरूप-

धारिणी मणयल्लदेवीमेव ऋतुस्नाता रहसि प्राहिणोत् । राजा डुम्बिनीबुद्धया तां बुभुजे । तस्या आधानं जातं । तदा संकेताय राज्ञा स्वनामाङ्का मुद्रिका दत्ता । तस्यै वार्त्ता कृता । स्वस्थाने गता राज्ञी । राज्ञा प्रातः डुम्बिनीं भुक्त्वा स्वयं स्मृत्वा पश्चात्तापपरः काष्ठभिक्षां याचते मन्त्रिभ्यः यदा राज्ञस्ताम्रपुत्तलिकामालिङ्गनेन मरणं कुर्वतो मन्त्रिणा मणयल्लदेव्या भोगसम्बन्धः प्रोक्तः । ततो राजा स्वस्थोऽभूत् । ततः सुलग्ने जातः पुत्रः, कृते जन्मोत्सवे जयसिंहनामाऽभूत् । स त्रिवार्षिकः क्रीडया नृपसिंहासनमारूढो यदा तदा राज्ञा वयवेलां ज्ञात्वा राज्याभिषेकश्चक्रे तस्मै सूनवे । स्वयं तु आशापल्यां वसन्तादम् भिल्लं लक्षत्यागिनं जित्वा कर्णावतीनगरं निवेश्य तत्र राज्यं चक्रे । ततः जयसिंहो महाराजोऽभूत् । इति भाग्ये जयसिंहकथा ॥३७२॥

[373] अथ हेमसूरिनामनव्यव्याकरणविषये हेमसूरिसम्बन्धः ।

जयसिंहो यदा धाराधीशं यशोवर्मनृपं जित्वा पत्तने समागात्तदा श्रीहेमसूरिरेवमाशीर्वादं ददौ । तथाहि

भूमिं कामगवि ? स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा ?
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुम्भी भव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥१॥

राजा चमत्कृतः । ततो नृपो द्विजानाहुः—श्वेताम्बराणामतीव वैदग्ध्यम् । ततो द्विजैरुक्तम्—अस्मच्छास्त्राण्यधीत्यैते विज्ञा बभूवुः । ततो हेमसूरिरवग्—मिथ्येदं श्रीवीरेणेन्द्राय यत्प्रणीतं व्याकरणं तदैन्द्रं व्याकरणं वयं भणामोऽन्येषामपि व्याकरणानि विलोकयामः । विप्राः प्रोचुः—अस्मदीयं व्याकरणं मुक्त्वाऽन्यव्याकरणं दर्शय ! ततो नृपादेशान्नवीनं जयहेमाख्यं व्याकरणं हेमसूरिश्चक्रे सपादलक्षप्रमाणं । ततो राज्ञा पट्टहस्तिनमारूढं कृत्वा महोत्सवपूर्वं व्याकरणयुक्तं राजमार्गं स्वस्थाने प्रैषीत् । व्याकरणप्रतयः पण्डितानां सूरिणा ददिरे तदा प्रोक्तं विप्रैर्भूपस्याग्रे—युष्मद्वंशो वर्णितो नात्र व्याकरणे । ततस्तत् ज्ञात्वा हेमसूरिणा ३२ श्लोकान् । चौलुक्यवंशवर्णनगर्भान् ३२ पादप्रान्ते देवतापार्श्वात् स्थापयामास । प्रातः सर्वासु प्रतिषु दृष्ट्वा राजा चमत्कृतः । विप्राः कृष्णास्याः जाताः ।

इति हेमसूरि[जयहेम]नामनव्यव्याकरणविषये हेमसूरिसम्बन्धः ॥३७३॥

[374] अथ हकाररुदनवन्ध्यत्वसम्बन्धः ।

एकदा चतुरं भट्टं प्रति हेमसूरिः प्राह—किं ते हस्ते विद्यते ? भट्टोऽवग्—'हरडइ' । हेमः प्राह—किं 'हरडइ'-शब्दच्छलेन हकारो रडइ—रोदिति । चतुरो भट्टोऽवग्-हो मात्रिकायामन्त्योऽप्याद्योऽभून्मात्राधिकश्च । तव[मम]नास्ति, जगद्वन्द्योऽस्ति[असि],साम्प्रतं ततो 'रडइ' श्रुत्वैतत्ततो गुरवो हृष्टाः । इति हकाररुदनवन्ध्यत्वसम्बन्धः ॥३७४॥

[375] अथ सोमदेवसूरि–जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ।

एकदा सोमदेवसूरिः पुराद्वहिर्जयकेसरिसूरेर्मिलितः । मिथः प्रीतिवार्त्तायां श्रीसोमदेवसूरिराह तर्क उच्यतां । तदा जयकेसरिर्जगौ—अद्य सोमवारः पूर्णिमाऽस्ति । अतो यूयं बलिनः पूर्णिमा-सोमवारत्वात् । श्रीसोमदेवसूरिर्जगौ-वने तु केसरी अपि बलिष्टः । ततो हृष्टः सूरिः ।

इति सोमदेवसूरि–जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ॥

[376] अथ सोदरकथा ।

एकस्मिन् ग्रामे द्वौ सोदरौ कोक–रामाभिधौ वसतः स्म। तयोर्भगिनी धनीकुले परिणीता ।

अन्यदा तौ भगिनीगृहे गतौ । तयोर्दरिद्रतां दृष्ट्वा दध्यौ, यदि लोका जानते इयमेतयोर्भगिनी ततस्तया भक्तिर्न कृता । प्रातिवेश्मिकैरुक्तं—भवत्या इमौ सोदरौ कथं त्वया भक्तिर्न क्रियते ! ततस्तया प्रोक्तं–'गादह बूचो' इमौ । तच्छ्रुत्वा तौ दुःखितौ सोदरौ स्वगृहे गतौ, पश्चात्क्रमाद्धनिनौ जातौ । ततोऽन्यदा अलवडीं महिषीं लात्वा भगिनीगृहे गतौ । ततस्तयोर्भक्तौ क्रियमाणायां तावेवं प्रोचतुः—

गौरव कीजइ अलवडी, न य को किया न उ राम ।
गरथ विहूणा माणसह, गादह बूची नाम ॥१॥

इति निर्धने गादहबूची स्वकीयौ इति सोदरकथा ॥३७६॥

[377] अथ गर्वे नारीसम्बन्धः ।

कापि स्त्री कस्या अपि गलश्रियं मार्गयित्वा स्वगले क्षिप्त्वा कस्यापि गृहे जेमनायागता । इतो गलश्रीस्वामिनी तत्रागता स्फारान् स्फारान् कवलांस्त्वरितं मुखे प्रक्षिपन्तीं सखीं दृष्ट्वोवाच लघवः लघवः कवला भ्रियन्ताम्, अतो मम गलश्रीस्त्रुटिष्यति । तयोक्तं—यदि ते धनमस्ति तदा छोटव्यतां गलश्रीः । ततः सा लज्जिता । इति गर्वे नारीसम्बन्धः ॥३७७॥

[378] दण्डालासौवर्णकासम्बन्धः ।

एकस्य भूपस्याग्रे योगी ययौ । तदा राजा नोत्तस्थौ । ततो योगी जगौ—

तांबा तुंबा दोही मूचा; राजा योगी दोही कुन्चा ।

ततो राज्ञा सिंहासने दत्ते योग्यवग्—

तांबा तूंबा दोही सूचा; राजा पाहिं जोगी ऊंचा ॥१॥

ततो योगिना कला स्वा दर्शिता अष्टोत्तरशतताम्रभारमध्ये चूर्णं क्षिप्त्वा स्वर्णं योगी चक्रे । ततो हेमविद्या याचिता यदा तदा योगी नाऽदात् । ततो राज्ञा स्वबले दर्शिते योगी जगौ-त्वादृशा मत्फुत्कृतेन उड्डीयन्ते । ततो योगिना नेत्रमेकमञ्जितं ततोऽर्द्धंदृश्योऽभूव । द्वितीय-

नेत्रेऽञ्जिते अदृश्योऽजनि । ततोऽदृश्यरूपो योगी राज्ञो मुकुटं जग्राह । ततो योग्यवदत्—यदि त्वां हत्वा राज्यं लामि तदा त्वया किं स्यात । ततो विनयेन गेज्ञोक्तं–त्वं कृपापरोऽसि यथा मन्नाम तिष्ठति तथा कुरु । ततः स्वर्णसिद्धिं कृत्वा राजयोगिभ्यां सौवर्णके राज्ञो रूपं योगिनो दण्ड आलेखितस्ततो "दण्डालासौवर्णिका' इति प्रसिद्धिर्जाता ।

इति दण्डालासौवर्णिकासम्बन्धः ॥३७८॥

[379] अथ बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ।

एकदा आमसभायां श्री बप्पभट्टिना धर्माशिषि दत्तायां भट्टः प्राह—

नो वापी नैव कूपी न च रसमरसी नैव तीर्थं न गङ्गा,
न(च)ब्रह्मा नैव विष्णुर्न च दिवसपतिर्नैव शम्भुर्न दुर्गा ।
विप्रेभ्यो नैव दानं न च जपनविधिर्नैव होमं हुताशो,
रे रे पाखण्डमुण्डाः ! कथयत भवतां कीदृशो धर्मलाभः ॥१॥

तदनु सूरयः प्राहुः—

दुर्वारा वारणेन्द्रा जितपवनजवा वाजिनः स्यन्दनौघाः,
लीलावत्यो युवत्यः प्रचलितचमरैर्भूषिता राज्यलक्ष्मीः ।
उच्चैः श्वेतातपत्रं चतुरुदधितटी संकटा मेदिनीयं,
प्राप्यन्ते यत्प्रसादात्त्रिभुवनविजयी सोऽस्तु वो धर्मलाभः ॥२॥

ततः सर्वे चमत्कृताः जनाः ।

इति बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ॥ ३७९ ॥

[380] अथ भोगविषये भोगसारकथा ।

अघअ अघंतरवर्षाकाल, स्त्री चरित्र अनइ रोतां बाल ।
ईह एता जे जाणइ भेअ, तेह धरि नीरवहइ सहदेव ॥१॥

अस्या गाथायाः कथकस्य लक्षदाने आम्रभूपसम्बन्धः ।

स्त्रीचरित्रे काम्पील्यपुरे भोगसारेभ्येन श्रीशान्तिनाथस्य प्रासादः कारितः । प्रभो कर्पूरागरुचन्दनकेसरादिभिर्भोगस्तथा क्रियते यथा शान्त्यधिष्ठाता सुरः प्रीणितः । कालान्तरे मृतायां पत्न्यामन्यां प्रियामङ्गीचक्रे धनी । सा च पत्नी ग्रन्थिं कुर्वन्ती स्वेच्छया भुङ्क्ते स्म । क्रमात्सर्वं धनं क्षीणं । स्तोकमेव तिष्ठति । ततो ग्रामान्तरे श्रेष्ठी वासमकार्षीत् । सा च पत्नी प्रच्छन्नं कृतं धनं न दर्शयति स्म । धनाभावात् श्रेष्ठी कृषिकर्म विधत्ते स्म । सा स्त्री पक्वा–

न्नादि भक्षयन्ती भर्त्तुश्चवलादि कदन्नं दत्ते । श्रेष्ठी नाम्नैव भोगसारोऽभूत् । पत्नी तु भोगवती, जाता क्रमात्कुटिलाशया परनरेण सह भोगान् भुङ्क्ते स्म ।

एकदा शान्तिजिनस्याधिष्ठाता सुरो दध्यौ-प्रभो-कथमधुना भोगो न भवति ? ततोऽवधिना भोगसारदारिद्र्योत्पत्तिः तत्पत्न्या कुशीलत्वस्थापनिकाकरणादि जज्ञौ । अयं जिनेन्द्रभक्तः श्रेष्ठी चवलक्षेत्रं लुनानोऽभूत् । भार्या तु कुटिला पत्यभक्ता इति मया भोगसारस्य सान्निध्यं कार्यं ततो भोगसारभागिनेयरूपं कृत्वा मामकगृहे गत्वा च माम्या जोत्कारः कृतः पृष्टं च क्व मे मातुलोऽस्ति ? माम्योक्तं-क्षेत्रे ते मातुलः क्षेत्रं खेटयन्नस्ति । ततः क्षेत्रे गत्वा मातुलस्यांह्री प्रणम्य स्थितो यदा तदा मामकोऽवग्—किमर्थमागा भागिनेय ? भागिनेयो जगौ-तव साहाय्यकृते । ततो मातुलोऽवग् गृहे भुङ्क्ष्व गत्वा, पश्चात्त्वयाऽपि लाव्यं क्षेत्रं । भागिनेयोऽवग्-आवाभ्यां सार्द्धमेव जिमिष्यते, संप्रति मम वेला नास्ति क्षेत्रमलूनं विनंक्ष्यति । भागिनेयो जगौ क्षेत्रं लूनमेवज्ञेयमिति प्रोच्य दैवतशक्त्यैकत्र स्थापितं सर्वम् । मातुलोऽवग्—कथं चवलाः कथं गृहे लास्यन्ते । ततः सर्वं चवलक्षेत्रसत्कं चवलादि उत्पाट्य गृहं प्रति चचाल भागिनेयः ।

इतस्तया स्त्रिया स्वपतिभागिनेयावागच्छन्तौ ज्ञात्वा स्वपार्श्वस्थं जारं गोमाणिमध्ये छन्नं चक्रे । लप्पनश्र्यादि रसवती कोष्ठिकायां प्राक्षेपि तदा भागिनेयोऽभ्येत्य मामिकाया जोत्कारं कृत्वाऽऽह-मामकः समायातः आगतस्वागतादि क्रियताम् । ततः सद्यो गोमाणिकाया ऊर्ध्वं चवलकभरं मुक्त्वा कणीकर्त्तुं चवलान् कुट्टयितुं लग्नो भागिनेयः तदा जारो जर्जरीभूतः स्वं मृतप्रायं मेने तदा भोगवती स्वस्योपपतिं मृतप्रायं ज्ञात्वा प्राह-अधुना जिम्यतां । त्वं श्रान्तोऽभूः । ततो द्वावपि जेमितुमुपविष्टौ तदा चवलादि कदन्नं परिवेशयितुमारेभे तया । ततो भागिनेयो जगौ-अहं कदन्नं न भोक्ष्ये । तयोक्तं-वयमन्नं कुतो दीयते । भागिनेयोऽवग्-कोष्ठिकामध्यस्थां लपनश्रियं परिवेषय । ततस्तया परिवेषितां लपनश्रियं भुक्त्वा द्वावपि पल्यङ्के सुप्तौ यदा तदा छन्नं स जारः—परपुमान् वहिर्निष्कषितस्तया । स च गतो निजालये । सा तु तयोः पार्श्वे स्थिता दध्यौ-अहो अस्य डाकिनत्वं विद्यते नो चेल्लपनश्रियं कोष्ठिकास्थां कथं जानाति ।

इतो भागिनेयो मामकपार्श्वे प्राह-कथं सामलस्य सूनोर्विवाहो न क्रियते ? मातुलो जगौ धनं विना कथं पुत्रस्योद्वाहः क्रियते ? धनेनैव मनोरथाः पूर्यन्ते । ततो भागिनेयोऽवग्—मामक ! त्वमुत्तिष्ठ, अत्रस्थं धनं बहु गृहाण । ततो विवाहो विस्तरात्क्रियतां । तस्यां पश्यन्त्यां स्वं धनं श्रेष्ठी भूमेश्चकर्ष । ततो धनयोगाद् विवाहो मेलितो, लग्नमपि गृहीतं, विवाहावसरे भोजनदिने तया स्त्रियाऽध्यायि, तमुपपतिं विना किं सर्वजनजेमनेन ? ततो स्वस्या अभिष्टस्य प्रच्छन्नं निमन्त्रणं कृतमिति उक्तं च त्वया स्त्रीवेषधारिणीस्त्रीमध्ये भूत्वा गन्तव्यं भोजनाय । यदि त्वमागास्तदा मम सुखं स्यात्ततो विवाहदिने भोजनावसरे स्त्रीवेषभृत् स उपपतिर्जेमितुमागात् । ततः स्त्रीमध्ये जेमितुमुपविष्टः स भागिनेयो जगौ-मयाऽद्य परिवेषणं करिष्यते । मामकोऽवग् त्वमेव कुरु । ततो भागिनेये परिवेषयति सति सा स्त्री विलोकयति यदा भागिनेयः परिवेषयन् तस्य स्त्रीरूपधारिणो भाजने परिवेषयितुं याति तदा छन्नं वक्ति-त्वं गोमाणिमध्ये जर्जराङ्गोऽभूः । स उपपतिराचष्ट-नाहं, स एवं द्वित्रिर्वारे प्रोक्ते भागिनेयो जगौ-एषा स्त्री सर्वस्य पक्वान्नादेर्निषेधं करोति, अहो बालेनेव जिमसि तर्हि जेमनाय स्त्रीमध्ये कथमायासि । एवं प्रोचं प्रोचं यदा तस्याः किमपि न परिवेषितं तदा भोगवत्या उच्चाटोऽभूत् । ततो मिषं कृत्वा मोदकानानीय

छन्नमुपपतेर्भाजने मोदकाः परिवेषितास्तया तदा तया स्त्रिया कियन्तो भक्षयित्वा चत्वारः कुक्षौ क्षिप्ताः । सर्वासु स्त्रीषु उत्थितासु भागिनेयोऽवग्-प्रत्येकं मम मातुलमण्डपमक्षतैर्वर्द्धाप्यतां । सर्वाभिः स्त्रीभिः प्रत्येकं मंगलार्थं [सर्वाभिः स्त्रीभि]मण्डपे वर्द्धापिते यदा सा न वर्द्धापयति मण्डपं तदा भागिनेयो जगौ-मातः ! त्वं कथं न वर्द्धापयसि । पङ्क्तौ भोक्तुमुपविष्टा, अधुना पङ्क्तेः कथं पृथग्भवसि । ततो यदा सा वर्द्धापयितुं लग्ना तदा कुक्षेर्मोदकाः पेतुः क्षितौ । मातुलेनोक्तं-मोदकाः कुत आयान्ति । भागिनेयो जगौ-तव पुत्रविवाहोत्सवे मण्डपो मोदकैर्वर्षति साम्प्रतं । ततो मातुलो जगौ भागिनेय ! त्वं कथं ज्ञानी जातोऽसि । ततः स स्वरूपं प्रकटीकृत्य तस्याः स्त्रियाः पत्न्या आमूलचूलं देवः प्रोच्यावग्--अहं शान्तिनाथस्याधिष्ठाता सुरोऽनया भोगवत्या तव सर्वं धनं हृतं भूमिगतं चक्रे । त्वं दुःखी जातः, देवस्य भोगो न भवति अतो मयैतत्कृतं । ततो भोगवत्यो उक्तं तेन देवेन, यद्यतः परं त्वया भोगसारस्य प्रतिकूलत्वं करिष्यते तदा त्वामहं हनिष्यामि । तस्य जारस्याप्येवं प्रोक्तं । द्वावपि अकार्यकरणे नियमं ग्राहितौ । भोगसार ! त्वं पुण्यवान् स्वगृहे याहि, यदा तव धनेच्छा स्यात् तदा त्वया कायोत्सर्गः कार्यः । अहं तव चिन्तितमर्थं दास्ये । एवं प्रोच्य लक्षटङ्ककान् दत्त्वा देवस्तिरोदधे । ततो भोगसारो विशेषतः शान्तिनाथस्य पुरः कर्पूरागरुकस्तूर्यादिभिः सदा भोगं कुर्वन् वासुदेवचक्रवर्त्यादिमुक्तिप्रान्तां श्रियं क्रमात्प्राप ।

इति भोगविषये भोगसारकथा ॥३८०॥

[381] अथ वधूविषये कथा ।

चम्पायां पुर्यामरिमर्दनभूपस्य राज्यं कुर्वतः कमलेश्वरो व्यवहार्यभूत् । तस्य मदनसेना पत्नी । तयोश्चत्वारः पुत्राः-श्रीराज-मदनभूम-नागेश्वर-धनेश्वराह्वाः क्रीडां कुर्वन्ति गृहाङ्गणे । यतः—

दर्शं दर्शं सदा तेषां, क्रीडनं कुर्वतां मिथः ।
हर्षोत्कर्षं वितन्वाते, जननीजनकौ भृशम् ॥१॥

यतः— स्याच्छैशवे मातृमुखो, यौवने युवतीमुखः ।
वार्द्धके च पुत्रमुखो, मूढो नात्ममुखः क्वचित् ॥२॥

व्यवहारिणाऽपि पुत्रा बुधान्ते पठितुं मुक्ताः, क्रमात्ते विद्वांसो जाता । तेऽपि पुत्रा बहुधनव्ययं कृत्वा महेभ्यपुत्रीः परिणायिताः । गृहभारः सर्वः पुत्रेष्वारोपितः । क्रमाद्वधूट्यः श्वशुरस्य कथितं न कुर्वन्ति । यतः—

हत्थी दम्मइ संवच्छरेण, मासेण दम्मइ तुरओ ।
महिलाए किर पुरिसा, दम्मइ एक्केण दिवसेण ॥३॥

क्रमात्ता वधूट्यः श्वशुरदूषणं स्वस्वपत्युः पुरः प्रोचुः । युष्मन्माताऽपि अस्मान् दुःखे पातयत्येवं गालिप्रदानपूर्वं पानीयमानयते रक्षोत्था[च्छा]रणं कारयते अस्माभिः । पानीयं

गल्यते । खट्वा प्रस्तार्यते । पादाः प्रक्षाल्यन्ते । छगणस्थापनं क्रियते । खण्डनं क्रियते । प्रेषणं क्रियते । चुल्हीसंधुक्षणं क्रियते । नवग्रहवत् पीडाकारिणी श्वश्रूः अदग्धधान्येऽपि दग्धं, अभग्नेऽपि घटे भग्नं घटं वक्ति श्वश्रूः । एवं कथमस्माभिर्निर्वाहयिष्यते ? ननान्दाऽपि वक्ति नाभ्या घटो भग्नः, अदग्धमपि धान्यं दग्धं । ततस्तेषां भार्यावशीभूतानां मातृपितृभगिनीष्वपि द्वेषोऽभूत् । यतः--

रमणीं विहाय न भवति, विसंगतिः स्निग्धबन्धुजनमनसाम् ।
यत्कुञ्चिका सुदृढमपि, तालकबन्धं द्विधा कुरुते ॥ ४ ॥

ततस्ताभिर्वधूभिरुक्तं--यदि युष्माभिः पृथग्भूयते तदा यूयं सुखिनो भविष्यथ, आत्मनोऽपत्यानि परिणयनयोग्यानि जातानि । एतौ डोलोत्करौ किं कुरुतः आत्ममध्ये यतः--

भाऊगुरुगुणघेरडा, मुहिं ऊ घढा भमंति ।
हारत्तं सुव्वणरयण, ते फिरिफिरि जोअंति ॥५॥

ततस्ते पृथग्भूताः । ततो मातापितरौ नीरेन्धनधान्यादि स्वयमानयतः स्म । गोमहिष्यादीनां हेतोश्चारिः स्वयमानयतश्च । एकदा कमलेश्वरस्य महिष्यादि पाययितुं गच्छतोऽध्वनि सुहृद्वसन्तदत्तो मिलितो जगादेति-स्वयं कथं पानीयाद्यानीयते । युष्माकं पुत्राश्चत्वारो विद्यन्ते । ये ते कथं गृहादिकार्यं न कुर्वन्ति ? ततोऽश्रुपातपूर्वं श्रेष्ठी जगौ--अहो मित्र ! त्वया न ज्ञातमस्मद्गृहस्वरूपं । गतं सर्वं वस्तुसारं । मित्रं जगौ--किं गतं ते । कमलेश्वरोऽवग्--खात्रं पतितं । कस्यचिद् घोटकाः यान्ति । कस्यचिद्बलीवर्दाः, कस्यचिद् धान्यं याति, कस्यचिद्वस्त्रं, कस्यचिद्भाजनं, मम गृहे तु पुत्रा हृताः । मित्रेणोक्तं--केन हृताः ? कमलेश्वरोऽवग्--

वधूचौरैरबलाभिः कृतयो घटकैरिह ।
हृता मे सूनवो मित्र--स्तेनैर्धनिकैरिव ॥६॥

सुहृत्प्राहेति--

वाहरा न कृताः किं भोस्तत्पृष्टौ लघुसायुधैः ।
भटैर्वीर्योत्कटैर्वाढं साकं मित्र त्वया तदा ॥७॥

विषं मुञ्चन्ति सर्प्पोऽपि, गृहीतं तस्करा अपि ।
कृतयो घटका एते, न मुञ्चन्ति कदाचन ॥८॥

अतोऽन्यद्वस्तु गतं कदाचिद्वलते, पुनर्यद्वधूभिर्गृहीतं तत्प्राणान्तेऽपि न वलते ।

इति वधूविषये कथा ॥३८१॥

[382] अथ वृद्धुपरि रुतकोथलकथा ।

एकस्य कस्यचिद्वणिजो गृहे सदा वधू रुतं कर्त्तयन्ती विश्रामं न लभते । इतोऽन्यदा

पुराद्बहिर्गता रूतकोथलकान् बहून् दृष्ट्वा प्राह सख्यग्रे—'काहं करिसिइ' इति जल्पन्तीं ग्रथिलां ग्रहग्रस्तां ज्ञात्वा श्रेष्ठी ज्योतिष्किकान् पृष्ट्वा पृष्ट्वा धनं भूरि व्ययितवान् । ततश्चैको बुद्धिमांस्तत्रागतः । कृत्रिमतृणसमूहं ज्वालयन् जगौ तां सुतां प्रति रूतकोथलका ज्वलन्तः सन्ति ज्वलिता वा । एतत् श्रुत्वा सा निर्ग्रथिला जाता हृष्टा च ।

इति बुध्युपरि रूतकोथलकथा ॥३८२॥

[383] अथ उचितसमस्यापूरणे भोजधनपालसम्बन्धः ।

अन्यदा भोजराजः रात्रौ निर्वस्त्रो लघुनीतिहेतवे गृहाद्बहिर्निर्ययौ, तदा स्वं निर्वस्त्रत्वं वीक्ष्य एकं समस्यापदं च करोति—'आजविगूता हंति'

ततो गृहमध्ये समेत्य सुप्तः । प्रातर्धनपालपण्डितपार्श्वे स्वं समस्यापदं पप्रच्छ, तदा धनपालपण्डित औत्पत्तिकबुद्धिमान् पदत्रयं प्राहेति—

लांबा तांणा नहि तणंति, आडी, आडी नली न भरंति ।
वणकर वेजा न वणंति, तो आजविगूता हंति ॥१॥

इति श्रुत्वा हृष्टो राजा धनपालाय लक्षत्रयं ददौ ।

इति उचितसमस्यापूरणे भोजधनपालसम्बन्धः ॥३८३॥

[384] अथ समस्यापूरणे धनपालपण्डितसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजो मार्गे गच्छन् एकां सुरूपां नारीं दृष्ट्वा हस्तस्थितं नागवल्लीवीटकं तस्याः पार्श्वे चिक्षेप तदा तया तद्वीटकं क्षिप्तं दूरतः, एतद् दृष्ट्वा राज्ञः समस्यापदं समुत्पन्नम्—

'किणि कारणि ए लंखइं लंखइ'

एतत्समस्यापदं धनपालपण्डितस्याग्रे राज्ञा पृष्टं । ततः पण्डितेनैवं पूरिता समस्या पदत्रयकरणेन—

सकुलीणी नइ शीलवंती, रायदृष्टि पडी भमंती ।
अंगनयणप्रियकारणि राखइं, तिणि कारणि ए लंखइं लंखइ ॥१॥

एतच्छ्रुत्वा राजा पुनर्लक्षत्रयं तस्मै ददौ ।

इति समस्यापूरणे धनपालपण्डितसम्बन्धः ॥३८४॥

[385] अथ भोजस्य धनपालपूरितसमस्यासम्बन्धः ।

एकदा भोजराजः स्वधवलगृहस्योर्ध्वे स्थितः आसन्नगृहस्योपरि स्थितामेकां स्त्रियं, अम्बरं

हस्तेन ऊर्ध्वीकृत्य आतपे शोषयन्तीं दृष्ट्वा समस्यापदं चकारेति--

[रंगि] 'रंग चंगि उद्धंगि अभिअंगुलि धज फिरहरइ'

इमं समस्यापदं राजा धनपालपण्डितपार्श्वे पप्रच्छ, तदा धनपालः पदत्रयकरणात्पूरयामास पूर्णं समस्यामिति--

एण[१] इंदु[२] अरविंद[३] करणि[४] कलकंठि[५] तु हेमपयकणि[६] नयणि[१] चयणि[२] परिमलि[३] चलंति[४],
सुसरसद्दि[५] कंति[६] जिणमठ[१] पुन्न[२] पुलिअ[३] मयंद[४] अदट्ठ[५] पंचदह[६] घलि[२] ।
वरि[१] सरि[२] वणि[३] सुहकारि[४] अह मेरुपव्वय[५] सुरण[६] सरइ[१] सेहिम[२] गमइ[३],
पावस[४] कुसुमाइ[५] लिखिरइ रायरंगि चंगि उद्धंगि अभिअंगुलि धज फिरहरइ ॥१॥

अत्रापि पूर्ववदानम् । इति भोजस्य धनपालपूरितसमस्यासम्बन्धः ॥३८५॥

[386] अथ अकृतपुण्यस्य मन्त्रिणः सम्बन्धः ।

पद्मपुराद्वज्रभूपः सिंहवैरिणं जेतुं गतः । तत्र महायुद्धं जातं । तदा एकस्य कस्यचित् पुरुषस्य मृतस्य पतितस्य शवं भक्षितुमेकः श्वानो गतो यदा तदा परो जगौ श्वानः--भो भ्रातः! श्रूयतां मम वचः पूर्वं ततो भक्षितव्यमिदं । ततः स प्राह--

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ,
चक्षुः साधुविलोकने न रसिकं पादौ न तीर्थाध्वगौ ।
लुञ्चालञ्चितद्रव्यपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो,
भ्रा : कुर ! मुञ्च मुञ्च सहसा निन्द्यस्य निन्द्यं वपुः ॥१॥

एप पूर्वं बभूव । अनेन किमपि सुकृतं न कृतं । लोका दुःखिनः कृताः । अतोऽस्य पापिनः शरीरं त्यज । ततस्तावपि श्वानौ तत्त्यक्त्वाऽन्यत्र गतौ ।

इति अकृतपुण्यस्य मन्त्रिणः सम्बन्धः ॥३८६॥

[387] अथ स्त्रीणामग्रे गुह्यं न वक्तव्यमितिविपये नागपुण्डरिककथा ।

एकदा तार्क्ष्याद्दुष्टाद् हननोद्यतान्नागपुण्डरिको नष्टः । भूतले समागतः दध्यौ च--कमप्याश्रयं कृत्वा स्थीयते । अतो विप्ररूपं कृत्वा एकां ब्राह्मणीं गृहिणीं चकार । ततः स नागो मनोवाञ्छितं पत्न्याः पूरयति । पत्न्या पृष्टं त्वं कुतः ईदृशीं श्रियमानयन्नसि ? स्त्रिया कदाग्रहे कृते स्वं स्वरूपं पत्न्याः पुरः स जगौ । सा च पत्नी सदा पानीयमानेतुं सरोवरे याति । इतस्तार्क्ष्यः स्वं वैरिणं हन्तुं निर्गतः । स्थाने विलोकयन् दध्यौ "प्रायः पानीयहारिस्त्री-दण्डके बह्वीः वार्त्ता श्रूयन्ते ।" ततः स तस्मिन् ग्रामे पानीयहारिदण्डकेऽभ्येत्य तस्थौ

दैवयोगात् ।

इतः सा ब्राह्मणी स्वस्वभर्तृवर्णनं कुर्वाणाभ्यः स्त्रीभ्यः [प्रति] प्राह--मदीयो भर्त्ता नागपुण्डरिकः स च यद्वाञ्छयते तत्तत्पूरयति । एतत् श्रुत्वा ताक्ष्यस्तस्याः स्त्रियः पृष्टौ गत्वा नागपुण्डरीकं धृतवान् प्राह च--रे दुष्ट ! कुत्र यास्यसि मम पार्श्वात् ? तदा स स्वस्त्रीप्रोक्तं ज्ञात्वा नागपुण्डरीको जगौ--

स्त्रीणां गुह्यम् न वक्तव्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
नीयते पक्षिराजेन, नागपुण्डरिको यथा ॥१॥

एतज्जल्पन् स स्वस्थाने नीत्वा ताक्ष्येंण निगृहीतः ।

इति स्त्रीणामग्रे गुह्यम् न वक्तव्यमिति विषये नागपुण्डरीककथासम्बन्धः ॥३८७॥

[388] अथ पश्यतोहरसौवर्णकारसम्बन्धः ।

कस्मिश्चित्पुरे सौवर्णिको दुर्बलो भूपेन दृष्टः पृष्टश्च तव दुर्बलत्वं किं दृश्यते ? सौवर्णिको जगौ—हेम न दृश्यते । राजा जगौ—हेम दर्शयिष्यते तुभ्यं, तदा त्वं मत्तो भविष्यसि । स जगौ—हेम दृष्टं यदि तदाऽहं मत्त एव ।

ततो राज्ञा हेममयी ५२ पलमयी स्थालिका दर्शिता । ततः सौवर्णकारको यत्र सा स्थाली धाव्यते तत्र कर्कशां वालुकां क्षिप्तवान् छन्नं । ततः स सुवर्णकारकः तां वालुकां लात्वा गालयित्वा सुवर्णसंकुलं कृतवान्, मत्तोऽभूच्च ।

राज्ञा पृष्टमेतत्कुतः प्राभृतीकृतं । सोऽवग्—राजा तुष्टः । राजा प्राह–कथमहं तुभ्यं तुष्टः ! ततः स प्राह--स्वामिन् ! या ५२ पलहेमस्थाली विद्यते सा तोल्यतां । ततो राज्ञा तोलापिता ४४ पलमयी जाता स्थाली । ततो पारितोपिकदानं ददौ तस्मै ।

इति पश्यतोहरसौवर्णकारसम्बन्धः ॥३८८॥

[389] अथ दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिकः ।

ईश्वरपार्वत्यौ पृथिवीचेष्टितं विलोकयितुं निर्गतौ । पार्वती जगौ–लोकाः सर्वे दानिनो विद्यन्ते । ईश्वरो जगौ–नैवं । ततो लोकपरीक्षार्थं तापसरूपं कृत्वा एकस्य कौटुम्बिकस्य गृहे गतौ । प्रातः तदा तस्य पत्नी कछडकं बन्धयित्वा जानुदघ्नकर्दमे भ्रमन्तीं, छगणं क्षेपयन्तीं, गोरसं सर्वबलेन विलोक[ड]यन्तीं, विश्राममगृह्णानां दृष्ट्वा प्रोचतुः—भिक्षां देहि । तदा कौटुम्बिका जगौ–किं सिक्ककायां वसितौ, यतः प्रातरेव भिक्षायै आगतौ युवां, निःकर्माणौ स्थः । अस्माकं कार्याणि विद्यन्ते अधुना, परिवारिता नास्मि ।

ईश्वरो जगौ–तव ईदृशं गोमहिषीधनं अष्टगुणं भवतु । इति जल्पित्वा ततोऽग्रे गच्छन्ने-

कस्य क्षत्रियस्य गृहे गतौ । तत्र भिक्षा याचिता । तेनोत्थाय भावतो भिक्षा ददे । ततो निर्गच्छन्नीश्वरोऽवग्—अस्य गृहं धक्ष्यतु । ततः सोऽग्रे यदा चचाल तदा स क्षत्रियः पृष्टौ गतः। पृष्टं, भवतैवं कथं जल्पितं ? ईश्वरोऽवग्-तं पार्वतीं प्रति अग्रे कथयिष्यते ततः स क्षत्रियः पश्चाद्वलितः । स्वं गृहं दग्धं पुत्रपत्न्यौ च दग्धानि ज्ञात्वाऽकस्मान्मृतः ।

इत ईश्वरपार्वत्यौ स्वर्गे गतौ । पार्वत्या पृष्टं—येनावयोर्भिक्षा दत्ता सोऽत्र कथं सुखं न भुङ्क्ते ! ततः ईश्वरः क्षत्रियः पुत्रपत्नीयुतः देवसुखं भुञ्जानो दर्शितः । दानेन ईदृशं सुखं प्राप्तं। मर्त्यलोके मनसा चिन्तितं न सिध्यति । अत्र मनसा चिन्तितं सर्वं सम्पद्यते । पार्वती जगौ तर्हि सा कौटुम्बिका विलोक्यते । ततस्तत्रायातौ तत्र सा अष्टगुणे महिष्यादि धने जाते अष्टगुणं रलन्ती दर्शिता । ईश्वरेण प्रोक्तं च—अत्रैवं रुलति परत्र च श्वभ्रं गमिष्यति अतो मयोक्तमष्टगुणं भवतु । पार्वती प्राह—सत्यमुक्तं भवता, दानिनो भावतो ददानाः स्तोका एव ।

इति दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिकः ॥३८९॥

[390] अथ भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्धः ।

एकदा द्वौ पुरुषौ इभ्यनिर्धनपुत्रौ गुरुपार्श्वे श्लोकमेकं शुश्रुवतुश्चेति—

सर्वत्र सुखिनां सौख्यं, दुःखिनां दुःखमेव तु ।
सर्वत्र वायसाः कृष्णा, हंसाः श्वेताश्च सर्वतः ॥१॥

इति श्रुत्वा इभ्यपुत्रेण निर्धनपुत्रस्य श्रीर्दत्ता प्रोक्तं च-विदेशं गच्छ, लक्ष्मीमर्जय, यथेष्टं विलस। स च श्रियं लात्वा निर्ययौ लक्ष्मीकृते इभ्यपुत्रस्तु बाहुसखा निर्गतः कस्मिन्पुरे गतस्तत्रोद्याने स्थितः ।

इतो [कश्चिद्] राजा परलोकं गतः । मन्त्रिभिश्चिन्तितं-राज्ञः पुत्री तिलकसुन्दरी विद्यते । यस्य पञ्चदिव्यं राज्यं दत्तेऽस्मै साऽपि दीयते । एवं कृते तैः पञ्चदिव्यैरिभ्यपुत्रस्य राज्यं दत्तं । ततः सा कन्याऽपि तस्मै ददे ।

इतः स राजा गवाक्षस्थ एकं कार्पटिकं दृष्ट्वा स्वपार्श्वे नीतवान् । ततो राज्ञा स उपलक्षितः । ततोऽधोमुखो निर्धनः पुमानभूत्ततः इभ्यपुत्रो राजा जगौ—गुरूक्तं सत्यं जातं । गुरवः पृष्टाः । प्राग्भवसम्बन्धः प्राह-राजन् ! त्वया प्राग्भवे बह्वी श्रीर्धर्मे व्ययिता तेन तव राज्यं जातम् । अनेन तु प्राग्भवेऽपि सत्यां श्रियि मनागपि धर्मे न व्ययितं अतोऽसौ दरिद्री। ततो राजा धर्मं चकार विशेषात्सोऽपि निर्धनो निर्द्रव्यो धर्मं चक्रे । ततो द्वावपि अग्रेतने भवे स्वर्गतौ।

इति भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्धः ॥३९०॥

[391] अथ परापवादग्रहणे लौकिकपरिव्राजिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे वेश्यापाटकासन्ने एका परिव्राजिका तिष्ठति। सा च स्नानादि कृत्वा भुङ्क्ते । ततः सा आसन्नवेश्यागृहे भोगाय नटविटखण्डकमनुजानागच्छतो दृष्ट्वा ईर्ष्यापरा दध्यावेवं—वेश्या पापिनी सदा पापं बहु कुरुते, ततस्तया तत्रागच्छतां नराणां संख्यां कर्तुमेकं

भाजनं पृथु मण्डितं । यस्मिन्दिने यावन्तो नरा आगच्छन्ति तस्मिन्दिने तावन्तः कर्करास्तया भाजने क्षिप्यन्ते ।

अत्रान्तरे प्रव्राजिकाभ्राता समागतः, भगिन्या भोजितः, सा च कार्याय वहिर्गता । इतोऽतिथिना भ्रात्रा भाजनमुद्घाटितं, कीटकभृतं दृष्ट्वा भगिन्या अग्रे पृष्टं—भगिनि ! इदं भाजनं कीटकैः किं भृतं ? साऽवग्—यावन्तः पुरुषा अस्या वेश्याया गृहे भोगहेतवे समायान्ति तेषां संख्याकृते कर्करा मया क्षिप्ताः सन्ति । भ्राताऽवग्—त्वं तु अस्यामीर्ष्यां दधाना अपवादं जल्पन्त्येवमकार्षीः तेन त्वया वेश्यापापं गृहीतं, पापिनः करणवारो न क्रियते, यदि पापिनः क्रियते तदा तस्य लगति । यतः—

अतिथिश्चापवादी च, द्वावेतौ मम बान्धवौ ॥
अपवादी हरेत्पाप---मतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥१॥

यत्त्वया तस्यां वेश्यायामीर्ष्या कृता अतः कर्कराः कीटा जाताः । ततस्तया तद्गृहं त्यक्त्वाऽन्यत्रोषितं । परापवादो मुक्तः । सुखिनी जाता ।

इति परापवादग्रहणे लौकिकप्रव्राजिकासम्बन्धः ॥३९१॥

[392] अथ कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ।

एकदा घूको भुवं पातालं च जित्वा स्वर्गे गतः स्वर्गं जेतुं । तत्र स्वर्गमुच्चालयितुम् घोरं शब्दं कर्त्तुं लग्नः तदा शक्रस्तं तादृशं शब्दं श्रुत्वा पप्रच्छ देवान् । कोऽसौ एवंविधः स्वरः समागतः । देवैः प्रोक्तं—पातालं पृथ्वीं च जित्वा स्वर्गं जेतुं घूकोऽत्रायातोऽस्ति ।

इन्द्रोऽवग्—धीरां दत्त्वात्राकार्यताम् । तत्रेन्द्रपार्श्वे आनीतः सः, इन्द्रेण पृष्टः ईदृक्षा भूमण्डले कियन्तः सन्ति ? घूकोऽवग्—

अरवट्टो घरट्टश्च, लम्बकर्णोऽथ वायसः ।
कौशिको रासभश्चैव, षडेते मधुरस्वराः ॥१॥

इन्द्रोऽवग—

एकेनोद्वासितः स्वर्गः, किं पुनः पञ्चभिः नरः ।
हा हा वज्रमयी पृथ्वी, या न याता रसातलम् ॥२॥

इत्युक्त्वा शक्रोऽवग्—गच्छ, अरघट्टघरट्टादिस्वमित्रपार्श्वे नो चेदनेन वज्रेण तव शीर्षं छेत्स्यते । ततः स नष्टः पुनर्भूमण्डले समागात ।

इति कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ॥३९२॥

[393] अथ असंभाव्यावक्तव्ये भूपमन्त्रिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे भीमो भूपो राज्यं करोति । तस्य चन्द्रो मन्त्री । एकदा मन्त्री अरण्यमध्ये जलाशये शिलां तरन्तीं दृष्ट्वा पश्चादागतो भूपस्याग्रे प्रोक्तं-मया जले शिलां तरन्ती दृष्टा । राजा जगौ-असंभाव्यं न वक्तव्यं, प्रत्यक्षं यदि दृश्यते । एवं प्रोच्य राज्ञा स जल्पन्निषिद्धो दध्यौ मयोक्तं यद् भूपस्याग्रे तन्न वरं ततोऽन्यदा राजाऽश्वापहृतो महाटव्यां गतः तत्र वानरवानरीणां गीतानि सुश्राव । ततः पश्चादागतः मन्त्रीपुरः पदद्वयं प्राह—

यथा वानरगीतानां, तथा तरति सा शिला । यत् त्वया दृष्टा शिला जले सा सत्या । मया यतोऽद्य वानरगीतं श्रुतं तदपि कोऽपि कथितं न श्रद्धे कस्याप्यग्रे न प्रोच्यमानमस्ति ।

इत्यसंभाव्यावक्तव्ये भूपमन्त्रिसम्बन्धः ॥३९३॥

[394] अथ कुपत्नीदृष्टान्तः ।

एकस्मिन्ग्रामे श्रेष्ठिनः पत्नी अकथितकारिका विद्यते । इतस्तस्यापणे बहुकालादेकः प्राघूणकः समागतः । ततः आगतस्वागतादि मिथः कृतं । श्रेष्ठी गृहे गतः प्राह—पत्नि ! एकः सुहृद् बहुकालादागतोऽस्ति, यदि त्वं प्राध्वरमार्गेण त्वं कार्याणि प्रोक्तानि कुरुषे तदा स आकार्यते जेमनाय । पत्नी प्राह—अग्रे तव कथितानि कारं कारं खिन्नास्मि तथापि कार्यसंख्यां यदि कथय तदा कुर्वे । ततः षष्टि कार्यसंख्या कृता । प्राघूर्णको जेमितुमानीतः । तया आचमनादि प्रारभ्य कार्याणि गणितुं मण्डितानि तावद्यावत्तक्रपरिवेषणवेला समायाता । तक्रमेकशः परिवेषितं । श्रेष्ठिनोक्तं-पुनस्तक्रमानय । ततस्तया स तक्रचुरडकः पत्युर्मस्तके आहतो भग्नः । श्रेष्ठी कृष्णमुख उत्थाय हट्टे गतः । सुहृदा पृष्टं किं कृष्णमास्यं कृतं । ततः श्रेष्ठी गृहिणीस्वरूपं प्राह । ततः सुहृत्प्राह—

अनेकानि सहस्राणि, भग्नानि मम मस्तके ।
गुणवतीह ते भार्या, भाण्डमूल्यं न याचते ॥१॥

मम पत्नी तु भग्ने भाजने वस्त्राञ्चलं तदा मुञ्चते यदा भाण्डमूल्यं दीयते, एवं प्रोच्य सोऽपि स्थिरीकृतः । इति कुपत्नीदृष्टान्तः ॥३९४॥

[395] अथ दुर्ग्राह्यस्त्रीविषये सम्बंधः ।

कस्मिंचिद्ग्रामे कौटुम्बिको वसति स्म । तस्य पत्नी अतीव दुर्ग्राह्या । पत्युः[पत्यै] कार्याणि आदिशति पत्युः पार्श्वात्कारयति च ! यदा कान्तः मनागुत्सूरे करोति तदा तथा कटाक्षाणि मुञ्चते यथा स त्वरितं कार्यं करोति । ततोऽन्यदा एकस्मिन् स्थाने घरटिकां शब्दं कुर्वाणां दृष्ट्वा प्राहाऽऽत्मस्थिरीकरणाय—

रे रे ! यन्त्रक ! मा रोदीः, किं किं न भ्रमयंत्यमूः ॥
कटाक्षोत्क्षेपमात्रेण, कराकृष्टस्य का कथा ॥१॥

एवं प्रोच्य स्वमात्मानं स स्थिरीचकार ।

इति दुर्ग्राह्यस्त्रीविषये संबंधः ॥३९५॥

[396] अथ बलीवर्दपातितसम्बन्धः

एकस्मिन् ग्रामे एकः कौटुम्बिकः प्रातरुत्थाय ग्रामाग्रस्थस्तम्भे विलगित्वोच्चैः रौति । राज्ञोक्तं-भो कौटुम्बिक ! प्रातरमङ्गलं न क्रियते रोदनात् । स प्राह—स्वं चरित्रं स्मारंस्मारं रुद्यते मया । राजा जगौ—किं ते चरित्रं ? कौटुम्बिकोऽवग्—गच्छ समुद्रमध्ये कंसद्वीपे स्त्रीराज्ये । तत्र गतः सन् मम चरित्रं ज्ञास्यसि । ततः स कौतुकी तत्र द्वीपे गतः चतुःपथे स्थितः । एका स्त्री दिव्यरूपा तत्रागत्य भूपं स्वस्वामिनीपार्श्वे निनाय । तत्र स पतिः कृत्वा स्थापितः वर्यकर्पूरवासितपयसा स्नापितः । वर्यदिव्याहारैर्भोजितः । हिण्डोलाखट्वायां शायितः । देवसुखमनुभवति स्म । सा च कस्मिंश्चिद् द्वीपे यदा याति जल्पति स्म, त्वया एते २० उपवरका नोद्घाटनीया, सुखेन कर्पूरपानकस्तूरी-भोगसुखमनुभवनीयं । सन्ध्यायामायाति । ततः सा भोगसुखं दत्ते जल्पति च यदि यात्वाऽन्यत्र पुनरागमिष्यसि तदा हतो एव अत्र स्थितश्चिरं मया सह सुखं भोक्तव्यमेवं सुखेन तिष्ठन्नन्यदा तस्यां गतायामेक उपवरक उद्घाटितस्तस्मिन् घोटको वर्यो हेषारवं चकार । तं घोटकमारुह्य वनादिद्वीपानि विलोक्य तत्कालं पश्चादागत्य स्वस्थाने स्थितः । प्रतिदिनं नवीनवाहनारूढो द्वीपानि विलोकयति ।

एकदा वर्यं बलीवर्द सुकुमालशरीरमारुह्य निर्गतः स चाटव्यां लासयित्वा बलीवर्दपृष्ठितः पतितः क्षितौ, बलीवर्दो गतोऽदृश्यतां, ततः क्षणादुत्थितो दध्यौ, तत्र गम्यते तदा सा मां हन्ति अतस्तत्रत्यं सुखं स्मरन् स्वपुरे समेत्य स्तम्भे लगित्वा रुदितुं लग्नो यदा, तदा स कौटुम्बिकोऽभ्येत्य प्राह—'किं बलदिइं पाडया' । राजा प्राह—त्वमपि बलीवर्देन पातितः ततो द्वाभ्यां मिथः स्वचरित्रे प्रोक्ते ततस्तत्रत्यं सुखं यावज्जीवं तौ स्मरतः स्म ।

इति बलीवर्दपातितसम्बन्धः ॥३९६॥

[397] अथ वीणाग्रामे श्रीनेमिजिनकल्पः ।

वीणाग्रामे श्रीजिनेन्द्रप्रासादे सदा प्रातरुत्थाय एका श्राविका भक्तिपूर्वं प्रभोः मज्जनि प्रभुं प्रणम्य सर्वत्र देवगृहं प्रमार्जयामास । एवं प्रत्यहं कुर्वती प्रभुहस्ते एकं विश्वलप्रियं ददर्श । सा तं ललौ यदा तदाऽधिष्टायकसुरः प्रभोर्मुखोऽवतीर्यावक्—तव भक्त्याऽहं तुष्टोऽस्मि । त्वया प्रत्यहं देवगृहं प्रमार्जनीयमेको विश्वलप्रियो ग्राह्यः परं कस्याग्रे न वक्तव्यमेवं सा प्रत्यहं एकं विश्वलप्रियं गृह्णाना ऋद्धिवती जाता ।

एकदा रहसि सख्या पृष्टं—तव कस्तुष्टोऽस्ति, येनेदृशी ऋद्धिर्जाता तव सा चाकस्माद् रभसवृत्या प्रभुतुष्टिसम्बन्धं जगाद । ततोऽग्रेतने दिने देवगृहं प्रमार्ज्य यावद्विश्वलप्रियं गृह्णाति प्रभुस्तान्न विचटति । ततः सा विलक्षाऽभून् । ततोऽधिष्ठायकोऽवग्—अद्यप्रभृति त्वया विश्वलप्रियेच्छा न कार्या ।

इति वीणाग्रामे श्रीनेमिजिनकल्पः ॥३९७॥

[398] अथ व्यापारे सम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे चन्द्रः श्रेष्ठी वसति स्म । स च व्यवसायं चकार । अन्यदा एकं ग्रामकरणवारकारकं महान्तं दृष्ट्वा स श्रेष्ठी ग्रामकरणवारकोत्कण्ठोऽभूत् । क्रमात्तेन राजकुले बहु धनं पूरितं स च मार्गयामास पट्टयल्लपार्श्वे । पट्टयल्लो जगौ—अधुना पूरय तवाग्रे सर्वमर्प्ययिष्यते मुनर्लोभेन कियन्तो दिनाः पूरितं पुनर्मार्गितं यदा धनं तदा पट्टयल्लो जगौ—अग्रे अर्प्पयिष्यते । राजकुले पूरंपूरं गृहं धनरिक्तं ततो यदा खेदं दधानो बभूव तदा मित्रेणोक्तं—

जइ गिलइ गिलइ उदरं, पच्चगिलीए गिलंति नयणाइं ।
केण य विहिवसेणं, अहिणा छुछुन्दरी गहिआ ॥१॥

एवं श्रुत्वा स दध्यौ—यद्दीयते तत्प्राप्तमेव दृश्यते साम्प्रतमर्प्यते तदपि गतमेव दृश्यते अतस्तं व्यापारं त्यक्त्वा श्रेष्ठी पूर्वरीत्या लक्ष्मीमर्जयन् सुखी बभूव ।

इति व्यापारे सम्बन्धः ॥३९८॥

[399] अथ 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' इति विषये शशकसम्बन्धः ।

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य, निर्बुद्धि[द्धे]स्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तो, शशकेन निपातितः ॥१॥

कस्मिंश्चित्प्रदेशे मन्दमतिनामा सिंहोऽजस्रं मृगादिजीववधं करोति । अथ तद्वनजाः सर्वे मृगादयः संभूय सविनयं सिंहं प्रोचुः—देवास्माकं मध्ये वारकेणैकैको भवतामाहारार्थं स्वस्थानस्थानस्थमेव समेष्यति । इति कृतव्यवस्थायां शशकस्य वारकः समायातः । तेन शशकेन बुद्धिमता कूपस्य कण्ठे समागत्य स्वं रूपं कूपे प्रतिबिम्बितं कृत्वा सिंहं प्रतीदमुक्तं अस्य कूपमध्यस्थितस्य शशकस्याद्य वारकोऽस्ति, तेन भवताऽयं खादनीयः । ततः सिंहः कूपमध्ये झम्पामदाद् भक्षयितुं पञ्चत्वं गतश्च । अतो 'यस्य बुद्धि०' ।

इति बुद्धिर्यस्य बलं .... विषये शशकसम्बन्धः ॥३९९॥

[400] अव्यापा० वानरसम्बन्धः ।

अव्यापारेषु व्यापारं, यो नरः कर्त्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति, कीलोत्पाटीव वानरः ॥१॥

कस्यचित् पुरस्यासन्नोद्याने केनचिद्वणिजा प्रासादः कार्यते स्म । तत्र सूत्रधाराः अर्धस्फाटितस्तम्भशिलाया अन्तराले ये अनिरवात खादिरकीलकं दत्त्वा अशनाय ग्रामं गताः । अत्रान्तरे वानरयूथं परिभ्रमन्समायातं । तस्य मध्यादेकेन वानरेणान्यवानरनिवारितेनापि

चापल्यादस्थाने कीलिकोत्पाटनमारब्धं । अर्धस्फाटितशिलान्तरालप्रविष्टस्य [शिश्नस्य] कीलके तस्य चलिते वानरस्य मरणं जातमतो 'अव्यापा०' ।

इति अव्यापा०······इति वानरसम्बन्धः ॥४००॥

[401] अथ हितवचने व्याघ्रादिसम्बन्धः ।

व्याघ्रवानरसर्प्पाणां, यन्मया न कृतं वचः ।
तेनाहं निर्विनीतेन, मानवेन निपातितः ॥१॥

कस्मिंश्चिद् ग्रामे यज्ञदत्तो ब्राह्मणः । स अतीव दारिद्र्याभिभूतः । एकदा तेन देशान्तरे द्रव्यार्थं गच्छता अटव्यां तृषाक्रान्तेन कूपो दृष्टः । तन्मध्याद्व्याघ्रवानरसर्प्पकलादाः कर्षिता । त्रिभिरुपकारः कृतो भूषणफलादानराजपुत्रजीवनैः । पूर्वमारितराजपुरुषादिभूषणदर्शनेन व्याघ्रेणोपकारः कृतः । वने पतितस्य तस्याहाराभावाद् बुभुक्षितस्य फलदानेन वानरेणोपकारः कृतः । सर्पेण च राजपुत्रं जीवन्तं कृत्वा बहुधनदापनेन तस्योपकारः कृतः । कलादेन राज्ञो गतसुवर्णसंकुलस्य कलङ्को दत्तः तस्मै पुरुषाय च [अतः स आपदि पातितः] सांकुलव्यतिरेकेण राज्ञोऽग्रे पैशून्यं विधायानर्थे पातितः ।

अतो व्याघ्र०···हितवचने व्याघ्रादिसंबंधः ॥४०१॥

[402] अथ विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ।

अकालचर्या विषया च गोष्ठी, कुमित्रसेवा न कदापि कार्या ।
पश्याण्डजं पद्मवने प्रसुप्तं, धनुर्विनिर्मुक्तशरेण ताडितम् ॥१॥

कस्मिंश्चित्सरसि हंसस्य वसत उलूकः प्राघूर्णक आगतः । हंसेन पृष्टं—कुतः स्थानात्समायातः ? सोऽब्रवीत्—तव गुणान् स्मृत्वा अहं मैत्र्यर्थं समागतोऽस्मि । मैत्री जाता ।

अन्यदा उलूकेन पद्मवनात्स्वाश्रये गच्छन् हंसो न्यमन्त्रि त्वया मदाश्रये आगन्तव्यमिति कथयित्वा उलूकः स्वाश्रये गतः । हंसोऽप्येकदा मित्रमिलनार्थमतिथिर्जातः । तौ परस्परं मिलितौ तेनोलूकेनैकदोक्तं—दिवसेऽनवलोकनादिदोषप्रसङ्गोऽहं त्वया सह गोष्ठीं कर्त्तुं न शक्नोमि तेन रात्रौ गोष्ठी करिष्यते । अथ रात्रौ गोष्ठीं कुर्वतोस्तयोस्तत्र वने सार्थः कोऽपि आयातः ।

अत्रान्तरे उलूको महान्तं विस्वरं कृत्वा नदीविवरमनुप्रविष्टो । हंसस्तु तथैव स्थितः । ततः केनचित् शब्दवेधिना विस्वरत्वाद्दुर्निमित्तं विज्ञाय शरेण विद्धः मृतश्च हंसः । अतो अकाल० ॥ ४ ॥

इति विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ॥४०२॥

[403] अथ अज्ञातस्थानदाने मत्कुणसम्बन्धः ।

नह्यविज्ञातशीलस्य, प्रदातव्यः प्रतिश्रयः ।
मत्कुणस्य च दोषेण, हता मन्दविसर्प्पिणी ॥१॥

कस्यचिद्राज्ञः सुप्तस्य शय्यायां यूका वसति । तस्याः प्राघूर्णकः मत्कुणः समायातः । तस्य स्थानं तया दत्तं । मत्कुणस्तु राज्ञश्चटकं दत्त्वा नष्टो राज्ञश्चलनेन यूका मृता । इति नह्य० । अज्ञातस्थानदाने मत्कुणसम्बन्धः ॥४०३॥

[404] अथ वृद्धवाक्याकरणदोषे हंसयूथसंबंधः ।

श्रव्यं वाक्यं हि वृद्धानां, ते वृद्धा ये वहुश्रुताः ।
हंसयूथं वने बद्धं, वृद्धबुद्धया विमोचितम् ॥१॥

कस्मिंश्चिद्वने वटवृक्षस्तत्र हंसकुलं शतप्रमाणं वसति । अथास्य वटस्याधः कौशाम्बी नाम वल्ली प्रादुर्भूतां दृष्ट्वा वृद्धहंसेनोक्तं—एषा अनर्थाय वर्धमाना भाविनी, अत उन्मूल्यते, इत्युक्ते प्रमादान्नोन्मूलिता । कालेन या स्थिता, केनचिद्व्याधेन तेषु हंसेषु आहारार्थं गतेषु पाशाः क्षिप्ताः । पतितास्ते सर्वे पाशेषु । वृद्धेनोक्तं—मया पूर्वमुक्तमियमनर्थाय भाविनी । भवद्भिः प्रमादादुपेक्षिता वल्ली । इदानीमपि यदि मदीयं वचनं कुरुथ तदा बुद्धिं भवद्भ्यो ददामि । तैरपि तथा प्रतिपन्नं । तेन वृद्धहंसेनोक्तं—मृता इव यूयं सर्वे तिष्ठत । अथ यदा व्याधः युष्मान्मृतानवज्ञाय भूमौ क्षिपति तदैककालं सर्वैरुत्पतितव्यं । कृते तथैव तैः ९९ हंसान् भूमौ चिक्षेप व्याधः, पुनश्चिन्तितं पश्चादयं वृद्धः क्षिप्यते इत्येवं मत्वा स भूमौ क्षिप्तः । तैर्हंसैः शतथष्वकान् [शतवलान्] मत्वोत्पतितं नवनवतिभिः । वृद्धः स्थितः । व्याधस्तं मारयितुं लग्नो यावत्तावत्तेन बुद्धिमतोक्तं—अहो व्याध ! मम विष्टया कुष्टं याति तेन कस्यापि भूपस्यार्प्पयित्वा [मम] स्वं दारिद्र्यं स्फेटय । ततस्तेन राज्ञोऽर्पितः । राज्ञा राज्यै च याचितश्च । राज्योक्तं—पञ्जरे क्षिप्यतेऽयं । मन्त्रिभिरुक्तं वृद्धोऽयं मुत्कलो मुच्यतां, कथं यास्यति अंह्रिशक्त्यभावात् । राज्ञा स्वकुष्टं तद्विष्टया स्फेटितं । मुत्कलो मुक्तो हंसो रयादुड्डीय भित्तावुपविश्येमं श्लोकमाह—

प्रथमे स्यामहं मूर्खो, द्वितीये पाशबन्धकः ।
तृतीये नृपतिर्मूर्ख,—श्चतुर्थे मन्त्रिमण्डलम् ॥१॥

इति वृद्धवाक्याकरणदोषे हंसयूथसम्बन्धः ॥४०४॥

[405] अथ असंहितदोषे भारण्डपक्षिसम्बन्धः ।

एकोदराः पृथग्ग्रीवा, अन्योन्यफलकांक्षिणः ।
असंहता विनश्यन्ति, भारण्डा इव पक्षिणः ॥१॥

क्वापि सरसि भारण्डाः खगा वसन्ति । एषामुदरमेकं, ग्रीवे पृथग्भवतः । कस्यापि पक्षिणः स्वेच्छया विचरत एकस्या ग्रीवायाः क्वापि अमृतं प्राप्तं । द्वितीययोक्तं—मह्यमर्द्धं देहि । अथ तया न दत्तं । तदा द्वितीयया ग्रीवया कोपोत्पत्त्या विषे भक्षिते एकोदरत्वात्तस्य मृत्युरभूत् । अतो एको० ।

इति असंहितदोषे भारण्डपक्षिसंबंधः ॥४०५॥

[406] अथ लोभे शृगालसंबंधः ।

अतितृष्णा न कर्त्तव्या, तृष्णां नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य, शिखा भवति मस्तके ॥१॥

कोऽपि पुलिन्दः पापर्द्धिं कर्त्तुं प्रस्थितः । अथ तेन भ्रमता बाणेन शूकर आहतस्तेनापि दंष्ट्रेण पुलिन्दोदरं पाटितं, द्वावपि मृतौ । इतः कश्चिच्छृगालस्तत्रायातस्तेन द्वावपि मृतौ दृष्टौ । चिन्तितं तेन शृगालेन तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि भक्ष्यं भवति इति विचिन्त्य चापचटितकोटिं जीवां मुखमध्ये क्षिप्त्वा स्नायुर्भक्षितुमारब्धः । ततस्त्रुटितपाशे भालदेशं विदार्य चापकोटिमस्तकमध्येन तस्य शृगालमस्तके शिखा निष्क्रान्ताऽसावपि मृतः । अतो अतितृष्णा० ।

लोभे शृगालसम्बन्धः ॥ ४०६ ॥

[407] अथ बुद्धौ धूर्त्तरक्षितच्छागसंबंधः ।

बहुबुद्धिसमायुक्ताः, सुविज्ञानबलोत्कटाः ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्त्ता, छागकं ब्राह्मणादिव ॥१॥

इति विचार्य तेन छागस्त्यक्तः । अतो-बहुबुद्धि० ।

बुद्धौ धूर्त्तरक्षितच्छागसम्बन्धः ॥४०७॥

[408] अथ बहवो न विरोद्धव्या ̈ पिपीलिकासर्पसंबंधः ।

बहवो न विरोद्धव्या, दुर्जयो हि महाजनः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं, भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥१॥

क्वापि वनमध्ये वल्मीके कृष्णसर्प्पः । कदाचित्स बिलानुसारमार्गमुत्सृज्यान्येन बिलद्वारेण विषमेण निर्गच्छन्देहे व्रणितः । अथ गच्छदागच्छता सर्पेण विराधिताभिः कीटिकाभिर्व्रण-शोणितगन्धेन ज्ञात्वा व्रणमवसरं च प्राप्य सर्प्पो वृतः । कति तं घ्नन्ति । कति ताडयन्ति, कति चालिनीवत् शरीरं सच्छिद्रं कुर्वन्ति । पश्चात्ताभिः कृतबहुव्रणः पञ्चत्वं गतः । अतो बहवो० । इति बहवो न विरोद्धव्याः--पिपीलिका सर्प्पसम्बन्धः ॥४०८॥

[409] अथ लोभोपरि० पश्चात्तापे द्विजसंबंधः ।

चितां पश्यसि पुत्रस्य, पुच्छच्छेदं स्मराम्यहम् ।
आवयोस्तु कुतः प्रीति-र्गन्तव्यं त्वया द्विज ! ॥१॥

क्वापि ग्रामे द्विजस्य तस्य कृषिं कुर्वतः सदैव निष्फलकालोऽतिवर्त्तते धान्यनिष्पत्तेर-भावात् । अथ ब्राह्मणेन क्षेत्रान्तर्वल्मीके कृष्णं सर्पं दृष्ट्वाऽचिन्ति क्षेत्राधिष्ठाताऽयं सर्पः, एतस्य शक्तिं विना कथं धान्यस्य निष्पत्तिर्भवति । अथ शरावं दुग्धभृतं वल्मीके मुक्तं । प्रभाते शरावे दीनारो दृष्टः । एवं प्रत्यहं क्षीरं दत्ते दीनारमादत्ते च । अथ पुत्रं समादिश्य विप्रो ग्रामं गतः । पुत्रेण क्षेत्रलोभाल्लकुटघातो मुक्तः । सर्पेण दष्टश्च ग्रामागतेन ब्राह्मणेन ज्ञात्वा स सर्पः प्रसादितः सर्पेणोक्तं—'चितां पश्यसि० ।

इति लोभोपरि पश्चात्तापे द्विजाहिसम्बन्धः ॥४०९॥

[410] अथ मिथो विवदन्तः शत्रवो विनङ्क्ष्यन्ति-चौरराक्षसाविव ।

शत्रवोऽपि हिताय स्यु-र्विवदंतः परस्परम् ।
चौरेण जीवितं दत्तं, राक्षसेन तु गोयुगम् ॥१॥

क्वापि ग्रामेऽतिदरिद्रो विप्रो वसति । तस्य [स्मै] केनापि दयया वृषभयुगलं दत्तं । तेन च घृततैलयवसादिना प्रह्लीकृतं । तद्दृष्ट्वा कश्चिच्चौरो रात्रौ बन्धनपाशं गृहीत्वा हर्त्तुं यावदायाति तावदर्धमार्गे विकरालमूर्त्ती राक्षसो दृष्टः । ततः स्तेनेन पृष्टं—को भवानि-

त्युक्ते सत्यवचनोऽहं राक्षसः । भवानपि आत्मानं वदतु । तस्याग्रहे अर्धरात्रौ चौरेणोक्तं प्राग्मम हर्तुं देहि । राक्षसोऽप्याहेत्थं प्राग्मम भक्षयितुं देहि । ततश्चोरेणोक्तं-प्रतिशब्देन यदि कश्चित् बुध्यति तदा महान् अनर्थो भविष्यति. आरम्भोऽप्यावयोर्निष्फलो भविष्यति । इत्थं तयो[विवदतोः]र्विप्रः प्रतिबुद्धः । चौरोऽप्याह--भो ! त्वामयं भक्षयितुमिच्छति राक्षसः । राक्षस आह—चौरोऽयं गोयुगं ते हर्तुमिच्छति । एवं श्रुत्वा शय्यां मुक्त्वा विप्रोऽवहितो भूत्वा मन्त्रं स्मरन् स्थितः । द्वावपि विफलौ गतौ । अत: शात्रवोऽपि० ।

इति विवदन्तः शत्रवो मिथो विनङ्क्ष्यन्ति–चौरराक्षसाविव ॥४१०॥

[411] अथ परमर्मदोपे वल्मीकस्थोदरस्थाहिसम्बन्धः ।

परस्परस्य मर्माणि, ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति, वल्मीकोदरसर्पवत् ॥१॥

क्षोणीमण्डने नगरे देवशक्तिनामा राजा । तस्य पुत्रो जठरस्थवल्मीकाश्रयेण प्रतिदिनं क्षीयते । अथासौ निर्वेदाद्देशान्तरं गतः क्वापि नगरे भिक्षया कालं यापयति ।

अथ तत्र नगरे वलिराजस्य द्वे पुत्र्यौ यौवनस्थे स्तः । राज्ञा पृष्टं-कस्य भाग्येन सौख्यं ? वृद्धयोक्तं—तव । लघ्व्योक्तं—स्वकर्मणा । राज्ञा रुष्टेन तस्य राजपुत्रस्य दत्ता, सा तं लात्वा देशान्तरे निर्गता क्वापि सरःसमीपे तं मुक्त्वा भोजनाय ग्रामे गता । लात्वाऽन्नं यावदायाति तावद्भर्तुः प्रसुप्तस्य मुखात्सर्पो वातपानार्थं निर्गतः । तत्रैव वल्मीकेऽपरसर्पो निष्क्रम्य तथैवासीन् । वल्मीकस्थेन सर्प्पेणोक्तं—भो दुरात्मन् ! कथं सर्वाङ्गसुन्दरं राजपुत्रं कदर्थयसि । मुखस्थोऽब्रवीत्—भो दुरात्मन् ! कथमिदं हाटकपूर्णं कलशयुगलं वल्मीकमध्ये क्षिप्त्वा स्थित इत्येवं परस्परं मर्माण्युद्घाटितवन्तौ तौ । पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्—भोः । किं कोऽपि भेषजमिदं न जानाति जिह्वयाल्लिकोपायेन भवानपि विनाशमुपयाति । अथोदरस्थोऽब्रवीत्-नत्रापि तप्ततैलप्रयोगेण मरणं भवति । सा राजकन्या वृक्षान्तरिता तयोरुक्तीः श्रुत्वा तथैवानुष्ठितवती स्वपतिं नीरोगं विधाय निधिं च लात्वा पितृपुरे गता । पित्रार्चिता च स्वभाग्यात्सुखिताऽभूत् । अतः परस्प० ।

इति परमर्मदोपे वल्मीकस्थोदरस्थाहिसम्बंधः ॥४११॥

[412] अथ स्त्रीवश्यतायां नन्दभूपवररुचिमन्त्रिसंबंधः ।

न किं कुर्यान्न किं दद्यात्, स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।
अनश्वा यत्र हेषन्ते, शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥१॥

नन्दो नाम राजा । तस्य सचिवो वररुचिः । तयो पत्न्योर्मिथः प्रीतिः । संजातगर्वाहङ्कारया मन्त्रिपत्न्योक्तं—अहं प्रधाना एकपत्नीत्वात् । राजपत्न्योक्तं—एवं चेत् त्वं पतिमश्वयन् हेष-

यन्तं वालय । तस्य च प्रणयकलहेन जाया रुष्टा । भर्त्ताह्—भद्र ! येन प्रकारेण त्वं तुष्यसि तं वद । तयोक्तं—यदि त्वं शिरो मुण्डयित्वा मेंऽह्नौ पतिष्यसि तदाऽहं तुष्यामि । तथा कृतं वररुचिना । प्रसन्नाऽसौ ।

अथ नन्दस्य भार्या तथैव रुष्टा तेनाप्युक्तं—प्रिये ! प्रसीद । उपायं नः कथय । साऽवग्—अहं तव पृष्ठेऽधिरुह्य त्वां धावयामि, धावितश्चेदश्ववत् हेषसे तदा प्रसीदामि नान्यथा । तथैव कृतं तेनापि राज्ञा ।

अथ प्रभातसमये वररुचिरायातः तं मुण्डितशिरसं दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ—भो वररुचे ! किमयमपर्वणि मुण्डितं शिरस्ते । सोऽवक्—न किं कुर्या० ?

इति स्त्रीवश्यतायां नंदभूपवररुचिमंत्रिसंबंधः ॥४१२॥

[413] अथ यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ।

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे नरे ।
तेन वानरमूर्खेण, सुगृही निगृही कृता ॥१॥

काप्यरण्ये वृक्षशाखायां कृतनीडा सुगृही वसति । एकदा माघे मासि अकालवृष्टौ जातायां कम्पिततनुः कश्चिद्वानरस्तमेव वृक्षमाजगाम । तं तथाविधं कम्पितशरीरं दृष्ट्वा सानुकम्पया सुगृह्या प्रोक्तं—

हस्तपादसमायुक्तो, दृश्यसे पुरुषाकृतिः ।
शीतवातपरिभ्रष्टो, गृहं किं न करिष्यसि ? ॥२॥

तां प्रत्याह वानरः—

सूचिमुखि ! दुराचारे ! रण्डे पण्डितमानिनि ।
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने ॥३॥

इत्युक्त्वा उत्पत्य नीडं तस्याः खण्डशः कृत्वा गतः । अतः उपदेशो० ।

इति यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ॥४१३॥

[414] अथ सबलनिर्बलसंबंधः ।

उत्तमं प्राणपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन, समशक्ति पराक्रमैः ॥१॥

क्वापि वने चतुरको नाम शृगालः । तेनारण्ये स्वयं मृतो गजो दृष्टः । कठिनत्वात्तं भेत्तुं न शक्नोति । इतश्च सिंह आगतः सविनयं प्राह—स्वामिन् ! त्वत्कृते गजं रक्षामि तदेनं

भक्षयतु स्वामी । सिंह आह—नाहं परहतं भक्षयामि । तवैव प्रसादीकृतः । सिंहे गते व्याघ्र आगतः तस्य संमुखं गत्वाह—मामक मातुल ! कथमत्र भवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः येनैष सिंहेन हतः । स मां रक्षपालं मुक्त्वा स्नानार्थं नद्यां गतः । मया निर्व्याघ्रं वनं कार्यमित्युक्तमपि तेन सिंहेन एतद्वच्छ्रुत्वा भयाद्व्याघ्रो नष्टः ।

इतश्च चित्रक आयातस्तस्यापि तदेवोक्तम्—अहं सिंहेन तद्रक्षार्थं मुक्तोऽस्मि तथापि त्वं किंचि[भ]द्भक्षयित्वा शीघ्रं गच्छान्यथा तवप्राण संशयः इत्युक्ते सति चित्रकोऽपि भयभीतः पलायिष्ट।

अथ शृगाल आगतः तस्मात्तुल्यं दृष्ट्वा युद्धेन निराकृतः । अत उत्तमं प्रणि० ।

इति सबलनिर्बलसम्बन्धः ॥४१४॥

[416] अथ अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं० इति विषये नकुलसंबंधः ।

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं, कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद्भवति संतापो, ब्राह्मण्यां नकुलं [ब्राह्मण्या नकुले] यथा ॥१॥

कस्मिंश्चिन्नगरे देवशर्मा विप्रस्तस्य भार्या रूपिणी दारकद्वयं प्रसूता । एकदारकमपरं नकुलं च । दारकवन्नकुलमपि स्तन्यादिना पालयति । अथ तदा कदाचिद्ब्राह्मणायादिष्टं त्वया गृहं रक्षणीयमहं जलार्थं यामि इत्युक्त्वा बालं शय्यायां शाययित्वा जलाय गता ।

[417] अथ मित्रवचनाकरणदोषे कोलिकसम्बन्धः ।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, मित्रोक्तं न करोति यः ।
स एव निधनं याति, यथा मन्थरकोलिकः ॥१॥

भग्नतुर्यादिषु वस्त्रवानोपकरणार्थं वृक्षारूढस्य मन्थरकोलिकस्य छेत्तुं प्रवृत्तस्य स्वस्थानकभञ्जनभयात् तस्य सत्त्वात् वृक्षस्थव्यन्तरस्तुष्टोऽवग् 'वरं मार्गय' इत्युक्तं तस्य तेनोक्तं भार्यामापृच्छ्य याचिष्ये । मार्गे गच्छतो मित्रं मिलितं तेनोक्तं—राज्यं याचस्व । तस्याप्यग्रे तेनोक्तं भार्यामनापृच्छ्य न याचिष्ये, गृहे गतः, तत्स्वरूपं भार्यायै कथितं तयोक्तं—द्विवस्त्रवणनशक्तिं याचस्व, याचितायां च व्यन्तरेण द्विशिराश्चतुर्भुजः पुरुषः कृतः । लोकैस्तादृक्षमसमञ्जसं दृष्ट्वा विचिन्त्य च स मारितः । अतो यस्य० ।

इति मित्रवचनाकरणदोषे कोलिकसम्बन्धः ॥४१७॥

[418] अथ अतिलोभे वधू ४ श्रेष्ठिसम्बन्धः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो, लोभमेव परित्यजेत् ।
अतिलोभाच्छृङ्गदत्तो, वधूभिश्चिक्षिपेऽर्णवे ॥१॥

रोहणपुरे नगरे शृङ्गदत्तो वणिक्कृपणः द्वात्रिंशत्कोटिद्रव्यभर्त्ता । चतुःपुत्रः । तद्वधूनामानि लक्ष्मीः१, गौरी२, अप्सरा३, रतिः४ तापसीमन्त्रप्रयोगेण न्यग्रोधेन स्वर्णद्वीपे गत्वा नाटकावलोकनं रात्रौ कृत्वा गृहे आगच्छन्ति ।

एकदा कर्मकरो वटकोटरस्थस्तत्र गतः स्वर्णद्वीपे गतेन नाटकादि सर्वमवलोकितं । स्वर्णकोटियुगं तत्र दाने लब्धं तेन कर्मकरेण पश्चादागतः स्वर्णकोटियुगं श्रेष्ठिनोऽर्पितं कथितं तत्स्वरूपं । श्रेष्ठी लोभात्तेन सह वटकोटरे स्थितः । अन्यदा ताभिर्मार्गे गच्छन्तीभिरतिभारत्वात् वृक्षोऽम्बुधौ क्षिप्तः । श्रेष्ठी पञ्चत्वमाप लोभात् । अतोऽतिलोभो० ॥

इति अतिलोभे वधू ४ श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥४१८॥

[419] अथ एकबुद्ध्यादीनां मत्स्यानां संबंधः ।

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बितः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे !, क्रीडामि विमले जले ॥१॥

कस्मिंश्चिज्जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिरेकबुद्धिश्च मत्स्याः सन्ति । सन्ध्यायां तत्पार्श्वे गच्छद्भिर्लुब्धकैरुक्तं--अत्र बहवो मत्स्याः सन्ति, प्रातरागन्तव्यम् ।

एकबुद्धिः शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिं प्राह-भो दूरे गम्यतेऽत्र भयमस्ति । ताभ्यामुक्तं-आवां छलेन तदा यास्यावः । शतबुद्धिसहस्रबुद्धी बुद्धिमन्तौ [वयं तत] एकबुद्धिस्तदीयं वचनमनादृत्य

स्वपरिवारं लात्वा परस्मिन् जलाशये गतः । ततः प्रातर्लुब्धका आगत्य सर्वं तत्सर आलोड्य सर्वे मत्स्या गृहीताः । ततस्तावपि छलं कुर्वाणौ बुद्धया, धृत्वा मारयित्वा च शतबुद्धिं शिरसि कृत्य सहस्रबुद्धिं प्रलम्बयन् लुब्धको वलितो यत्र एकबुद्धिरस्ति तत्रागतः, तं तथा विगच्छमानं [दृष्ट्वा] एकबुद्धिः प्रियां प्रत्याह—हे प्रिये ! विलोकय—

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बितः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे !, क्रीडामि विमले जले ॥

इति एकबुद्धि-शतबुद्धि-सहस्रबुद्धिमत्स्यसम्बन्धो मत्स्यानाम् ॥४१९॥

[420] अथ भवितव्यतायां रावणसम्बन्धः ।

रामरावणयोर्महायुद्धं बभूव । लक्ष्मणेन रावणो हतः । ततो मुहूर्त्तान्तरे अतिबलः केवली षट्पञ्चाशत्सहस्रसाधुपरिवृतो लङ्कापुर्यां समागतः । यदि स ऋषीश्वरो रावणे जीवति समागमिष्यत्तदा रामरावणयोर्मिथः प्रीतिरभवत् परं भवितव्यतायोगात्स नागात् । उक्तं च—

अह तस्स दिणस्संते, साहू नामेण अमियबलो ।
छप्पनसहस्सजुओ, मुणीण लंकापुरी पत्तो ॥१॥

जइ सो मुणी महप्पा, पत्तो लंकाहिवम्मि जीवंते ।
तो लक्खणस्स पीई, होंती *सहरक्खसिंदेण* ॥२॥

इति भवितव्यतायां रावणसंबंधः ॥४२०॥

[421] अथ न्यायमार्गे पृथिवीपालने रामशिक्षासम्बन्धः ।

श्रीदशरथराजेन रामस्य वनवासादेशो दत्तः तदा श्रीरामस्तातपादौ प्रणम्य वनवासाय हृष्टश्चचाल । यतः—

आहूतस्याभिषेकाय, प्रस्थितस्य वनाय च ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य, मुखरंगं समं जनाः ॥१॥

भरतः श्रीरामपृष्ठौ गत्वा पदयोर्लगित्वा विज्ञपयामास ।

यत्पापं ब्रह्महत्यायां यत्पापं कपिला वधे ।
तत्पापमेव मे याता, यद्यार्योऽनुमतेर्मम ॥२॥
लक्ष्मणं राज्यरक्षार्थे, प्रहिणु पृथिवीपते !
मया प्रेष्येण गन्तव्यं, त्वया सह वनं ध्रुवम् ॥३॥

श्रीरामोऽवग्— तदन्यथा न भवति, यन्मयोक्तं तथैव तत् ।
हीनप्रतिज्ञः पुरुषो, वर्जनीयः श्मशानवत् ॥४॥

ततः श्रीरामो लक्ष्मणं प्रति राज्यरक्षायै यदाऽवग्—तदा लक्ष्मणो जगौ—

प्रपतेत् द्यौः सनक्षत्रा, पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नेह, त्यजेयं रघुनन्दनम् ॥५॥

ततो भरतोऽवग्—अहं पादुके राज्ये न्यस्य सेवकीभूतो राज्यं रक्षयिष्यामि, शिक्षा मह्यं दातव्या । श्रीरामः प्राह—

आलस्योपहतः पादः, पादः पाषण्डमाश्रितः ।
राजानं सेवते पाद, एकः पादः कृषीवलः ॥१॥

एकं पादं त्रयः पादा, भक्षयन्ति दिने दिने ।
तथा भरत ! कर्त्तव्यं, यथा पादो न सीदति ॥२॥

एवं शिक्षां लात्वा भरतः पश्चात्समागतो राज्यं न्यायाध्वना पपाल ।

इति न्यायमार्गे पृथिवीपालने रामशिक्षासम्बन्धः ॥४२१॥

[422] अथ सीतापहारे रामविलापसम्बन्धः ।

यदा सीता रावणेनापहृता तदा रामविलापाश्चैवम्—अशोकवृक्षं प्रति प्राह—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै—
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे ! मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे सत्यं ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥१॥

रात्रौ चन्द्रं दृष्ट्वा रामः प्राह—

ससहर खीणो कांइ, रोहिणी पासि वइठी अह ।
अम्ह दुक्खसयाइं, रमणी रावण लेउ गउ ॥२॥

पश्चाल्लक्ष्मणो रामं प्रति प्राहेति—

कांइं झूरइं तू राम सीता गई वलि आविसि ।
सोनइ न लागइ सांवि, माणिक्कि मइल बइसइ नहीं ॥३॥

इत्यादि सीतापहारे रामविलापसम्बन्धः ॥४२२॥

वर्याहारैस्त्वया स पोषितः स्नेहेन लालितः पालितः पाठितश्च ।

अन्यदोद्घटिते पञ्जरे शुकं मार्जारी हत्वा भक्षितवती । सा च वसुमती माता, तं शुकं पुत्रमाह । एतच्छ्रुत्वा प्राप्तवैराग्यो व्रतं लात्वा कर्म क्षिप्त्वा मुक्तिं ययौ ।

इति वैराग्ये मोहे च वसुदत्तसंबंधः ॥४२८॥

[429] अथ कुटुम्ब विघटनादौ जिनदत्तकथा ।

श्रीपुरे जिनदत्तः श्राद्धः । पत्नी जिनदत्ता । पुत्राः चत्वारः परिणायिताः । पत्नी जिनदत्ता मृता । श्रेष्ठिनो मित्रं विमलः ।

एकदा जिनदत्तेन मित्रवारितेनापि पुत्रेभ्यः सर्वा श्रीर्दत्ता । क्रमाद्वध्वः श्वशुरस्य शुश्रूषां न कुर्वते । श्रेष्ठी दुःखी जातः । पुत्राणामग्रे स्वदुःखं श्रेष्ठी प्राह । पुत्रैः स्वपत्नीनां प्रोक्तं—युष्माभिः ऽस्मत् पितुः शुश्रूषा किं न क्रियते ? तदा सर्वा अपि वध्वो जगुः—असौ न वयं मन्यते, तेनास्माभिर्गृहेऽपि स्थातुं न शक्यते, यदि असौ वाटके तिष्ठति तत्रस्थस्यास्माभिर्भुक्तिः करिष्यते, तदा वयं स्थास्यामो नोचेत् पितुर्गृहे यास्यामः । ततस्तैः पुत्रैः पिता वाटककुटीरके स्थापितः । उत्सूरे यत्तदन्नं ददते । दुःखी जातः । मित्रेणोक्तं मत्कथितं न प्रोक्तं [कृतं] तेन दुःखी जातोऽसि त्वं, लक्ष्मीरेव [मान्यसे] न पितृमात्रादिः । ततः सुहृत्तस्य[स्मै] कृत्रिमान् स्वर्णिकान् दत्वावग्—इयं वासनिका खट्वायाः पादस्याधः स्थाप्या, यदा वृद्धा वधूरायाति तदा मुखमस्याः छोटयित्वा स्वर्णिकान् हस्ते गृहीत्वा त्वरितं मध्ये क्षिप्त्वा वासनिका बन्धनीया, यदा वधूर्वदति "तात ! किमस्ति ते पार्श्वे" तदा वाच्यं "वृद्धत्वहेतवे सौवर्णिका रक्षिता ? अहं दुःखी जातः, तेन एते गण्यन्ते"। वधूः प्राहाहं तव भक्तिं करिष्यामि । ततस्तया भक्तौ क्रियमाणायां श्रेष्ठी जगौ—यदाऽहं म्रिये तदा त्वया ग्राह्या, [एवं तिसृणां पुरो वक्तव्यं] । ततो विमलमित्रोक्ते विहिते श्रेष्ठी पत्नीवचसा गृहमध्ये आनीतः । वारकेण सर्वा वध्वो भक्तिं कुर्वते । श्रेष्ठिनि मृते वृद्धा वधूर्मिषं कृत्वा वासनिकां यावद् गृह्णाति तावदन्या जगुर्ममार्पिता श्वशुरेण । एवं विवादं कुर्वतीनां त्रुटिता वासनिका । ठीकरीर्दृष्ट्वा पश्चादुक्तं ताभिर्यादृशी भक्तिरात्मना कृता तादृशी श्वशुरेणापि ।

इति कुटुम्बविघटनादौ जिनदत्तकथा ॥४२९॥

[430] अथ पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसम्बन्धः ।

कुसुमपुरे धनसुनन्दौ गृहस्थौ वसतः स्म । सरलौ दानिनौ दयापरौ । एकदा तौ साधुमुपद्रूयमाणं भिल्लैर्मोचयामासतुः, तेन पुण्येन वीरपुरे वज्रसिंहभूपस्य रुक्मिण्याः पट्टराज्ञ्याः कुक्षौ अवतीर्णौ । तस्या रुधिरपूर्णकुण्डस्नानदोहदो जातः । अलक्तरसपूरितवाप्यां दोहदः पूरितः । अलक्तरसक्लिन्नवस्त्रशरीरा सा भारण्डपक्षिणा मांसबुद्ध्याऽकस्मादुत्पाटिता व्योम्नि

[432] अथ क्षमायां कीर्त्तिधर–सुकोशलमुनिसंबंधः ।

अयोध्यायां कीर्तिधरो राजा । सहदेवीपत्नीयुक्तो राज्यं चक्रे । सुकोशले पुत्रे जाते दीक्षां राजा ललौ । सुकोशलो राज्यं चक्रे । अन्यदा कीर्त्तिधरमुनिर्मध्याह्ने भिक्षार्थमयोध्यानगरमध्ये प्रविशन् सहदेव्या दृष्टो, दध्यौ च सा–यदि कदाचित्कीर्त्तिधरं पितरं सुकोशलो द्रक्ष्यति तदा दीक्षां ग्रहीष्यत्येव, एवं ध्यात्वा सा तं सेवकपार्श्वात्पुराद्बहिर्निष्काशयामास । सुकोशलधात्री रोदिति । सुकोशलोऽवादीत्–मातः ! किं रुद्यते त्वया ? साऽवग्––तव पिता मुनिस्तव मात्रा पुराद्बहिः कर्षितः । ततः पिता प्रतिलाभितः, धर्मं श्रुत्वा सुकोशलो व्रतं ललौ, सहदेवी पुत्रवियोगपतिद्वेषाभ्यां मृता वने व्याघ्री जाता । कीर्त्तिधरसुकोशलमुनी तत्रागतौ चतुर्मासीं तपश्चक्रतुः । पारणकदिने यातौ तौ व्याघ्रया दृष्टौ । प्रथमं सुकोशले पतिता, मुनी प्राणान्तमुपसर्गं ज्ञात्वा कायोत्सर्गं चक्रतुः । सुकोशलऋषिर्व्याघ्रया भक्ष्यमाणः क्षपकश्रेणिरूढः केवलज्ञानमवाप्य मुक्तिं सद्यो ययौ, कीर्त्तिधरं ऋषिं भक्ष्यमाणा व्याघ्री तन्मुखे स्वर्णमढितदन्तान् दृष्ट्वा प्राप्तजातिस्मृतिः स्वं पतिं विज्ञाय प्राप्तपश्चात्तापा समादायानशनं सहस्रारं स्वर्गं गता ।

इति क्षमायां कीर्त्तिधर–सुकोशलमुनिसम्बन्धः ॥४३२॥

[433] अथ अहंकारे उज्झितकुमारसम्बन्धः ।

नन्दिपुरे रत्नसारराजस्य रत्नमत्याद्याः पत्न्योऽभूवन् । अपत्यानि न जीवन्ति यदा तदोपयातैरन्यदा पुत्रो जातः सोऽपि मृत इति कृत्वा उत्करटिकायामुज्झितः, दैववशान्न मृतः, पुनः पश्चाद्गृहीतः, तस्य उज्झितकुमार इति नाम दत्तं । यौवनं प्राप्तः परमत्यन्ताहङ्कारवान् जगत्तृणं मन्यते, स्तम्भ इव मातापित्रोरपि न नमति स्म ।

अन्यदा लेखशालायां पठन् गुरुं प्रत्यवग्–रे ! त्वं उच्चासने उपविष्टः, अहं नीचासने उपविशामीति हक्कयन् चपेटयाहत्य गुरुमपि भूमौ पातयामास । ततः कुपुत्र इति कृत्वा राज्ञा निष्काशितो देशात्तापसाश्रमेगतः । पर्यस्तिकां बध्वा मुनीनामग्रे आसीनः तापसैरुक्तं–महानुभाग ! विनयं कुरु ? ततो रुष्टो निर्गतो मुनीनामत्रैव । मार्गे सिंहं संमुखमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि दर्पान्न ननाश सन्मुख एव गतः, सिंहेन भक्षितः, खरो जातः, ततः करभः, ततः पुनरपि नन्दिपुरे पुरोहितस्यैव सुतोऽभूत् । शैशवेऽपि १४ विद्यापारगः महाहंकारवशान्मृत्वा तत्रैव पुरे गायनोडुम्बो जातः पुरोधसस्तं दृष्ट्वा महास्नेहः ।

इतश्च केवलज्ञानी तत्रागात् केवली पृष्टः पुरोधसा, ममायं डुम्बः अतीववल्लभः कथं ? केवलिनोक्तं–एष डुम्बजीवः तवेतो नवमेभवे भ्राताऽभूत् । अतस्तव स्नेहोऽनेन समं, इति श्रुत्वा संसारासारतां मत्वा द्वावपि धर्मं कृत्वा स्वर्गं गतौ ततो मुक्तिं यास्यतः क्रमात् ।

इति अहंकारे उज्झितकुमारसम्बन्धः ॥४३३॥

अतिमुक्तो बालर्षिराराधकोऽथवाऽनाराधकोऽस्ति । श्रीवीरः प्राह—अत्रैव भवे गुणरत्नतपसा केवलीभूत्वा सेत्स्यति । ततो हृष्टाः स्थविरास्तं पालयन्ति श्लाघयन्ति च । क्रमाद्वृद्धो भूत्वा १२ गुणरत्नतपः कृत्वा सिद्धः । तच्चेदं तपः १ उपवासपारणं—२ उपवासपारणं, एवं शत-उपवासपारणं, पारणे तु आचाम्लम् । इति अतिमुक्तर्षिसम्बन्धः ॥४३५॥

[द्वितीयस्तु अतिमुक्तकः कंसचातो [कंस लघु भ्राता] श्री नेमिनाथवारके केवली बभूव। तृतीयस्तु मेघे वर्षति जलविराधनं कृत्वा गुरुणा वारितः सन् धर्मस्थानके समेत्य इर्यापथिकीं प्रतिक्रामत् दगमट्टी रइति पुनः पुनः ममेमा [भणित्वा] शुक्लध्यानारूढः केवलज्ञानं प्राप क्रमाजिइश्च [क्रमाज्जिनश्च] ॥४३५]

[436] अथ वस्तुपालकुटुम्बप्रतिबोधिसम्बन्धः ।

एकदा धवलक्कपुरे श्रीहेम भसूरयश्चतुर्मासीं स्थिताः । तत्र व्याख्यायां ठक्कुरश्री आभूमन्त्रिनन्दिनी कुमारदेवी मात्रा सहायाति । परं सा कुमारदेवी विधवा । आसराजोऽपि व्याख्यायामागतः । व्याख्यानप्रान्ते सर्वेषु साधुषु स्वस्वगृहे गतेषु गुरुं पप्रच्छ—भगवन् ! युष्माकं दृष्टिर्नीरागाऽपि कुमारदेव्यां कथं पुनः पुनर्गता ? गुरवो जगुः—कुमारदेव्याः कुक्षौ—एकादशरत्नानि सन्ति, ४ पुत्राः सप्त पुत्र्यः सन्ति । तेषु पुत्रद्वयं लोकोत्तरं श्रुत्वेति आसराजः आभूमन्त्रिसेवां करोति स्म । तत्र गृहलेखं करोति स्म । क्रमेण कुमारदेव्या सह प्रीतिर्जाता । गुरूक्तं कथितं, ततस्तस्या मातुरपि प्रोच्य छन्नं वाहनिकायामुपवेश्य कुमारदेवीं आसराजो मण्डलीनगर्यां गतः । तत्र वसतस्तस्य लूणिग१–मल्लदेव२–वस्तुपाल३–तेजपालाह्वा४ चत्वारः पुत्रा बभूवुः । साकु१–माकु२–भाकु३–धनदेवी४–सोहग५–तेजुका६–वइज७ काख्याः सप्त पुत्र्योऽभूवन् । मल्लदेवलूणिगौ अल्पायुषौ जातौ ।

एकदा आसराजो धवलक्कके वासं चकार । वस्तुपालस्य ललितादेवी पत्न्यभूत् । द्वितीया सोषुश्च[सौपूश्च] ललितादेवीपुत्रो जयन्तसिंहस्तस्य पत्नी सूहवदे । तेजःपालस्य तु अनुपमादेवी पत्न्यभूत्। आसराजसुतौ व्यवसायं चक्रतुः । इतो व्याघ्रपल्लीयो राणकः आनाको भीमेन भूपेनापमानितोऽन्यत्र गतः । परिग्रहेणाऽऽकारितोऽपि नायात् । ज्ञापितं च राज्यं विनष्टं च किमागम्यते मया ? परं पदातिमात्रः सन् ओलगां करिष्यामीत्युक्त्वा पत्तने समागात् । तत्सुतो लूणसानामा भल्लकधरोऽस्ति तस्य वीरधवलपुत्रोऽभूत् । स च राज्ञा भीमेन प्रधानः कृतः । राणिमा दत्ता तस्मै, राज्य चिन्तां चक्रे च भीमभूपोविकलोऽभूत् ।

अथ लवणप्रासादेन राज्यमात्मायत्तं [आत्मीयं] कृतं, भीमे मृते स एव लवणप्रसादो राजाऽभूत् वीरधवलस्य कुमारभक्तो धवलक्ककं दत्तं लवणप्रसादो धनं धवलक्कके वीरधवलम्नेहेन तस्थौ । पत्तने अमात्याश्चिन्तां कुर्वन्ति यथा क्रमात्तस्य वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रीश्वरौ जातौ तथा ग्रन्थान्तराद् ज्ञेयौ । क्रमाद्वस्तुपालमन्त्री ब्राह्मणैर्वेष्टितोऽनन्तं बबन्ध हस्ते, मिथ्यात्वे पतितः ।

अत्रान्तरे कुलगुरवः श्रीविजयसेनसूरयो वन्दापयितुमागतास्तत्र कुमारदेव्या नमस्कृता ।

उक्तं च गुरुभिः—मन्त्री वस्तुपालो नायाति । कुमारदेवी जगौ—भगवन् ! गृहे पादावधारयिध्वं वन्दापनार्थं गुरवो प्राप्ता । मन्त्री तूपरि गृहस्य तस्थौ । तदा गुरवो गृहस्योर्ध्वभूमौगताः । वस्तुपालस्तु विप्रैर्वेष्टितः सन्मुखं न पश्यति गुरोः । ततो गुरवः पश्चाद्वलिताः । कुमारदेवी जगौ—भगवन् ! त्वरितं कथं पश्चाद्वलिताः ? गुरुभिरुक्तं—अवसरो नास्ति । कुमारदेवी प्राह—भगवन् ! क्षणं प्रतीक्षध्वं, मन्त्री आगमिष्यति । ततः कुमारदेवी पुत्रपार्श्वे गत्वाऽवग्—पुत्र ! गुरव आगता अपि त्वया न नताः । आत्मनः कुले ये गुरवः सन्ति ते तु मान्यन्त एव । वस्तुपालो मातुर्वचसा विप्रान् विसर्ज्य गुरुपार्श्वे समागात् । गुरवो वन्दिताः, पृष्टं च—भगवन् ! कथं पश्चात्त्वरितं वलिताः ? गुरुभिः प्रोक्तं—त्वं सुश्राद्धमन्त्रिआसराजकुलचूडामणिरसि । आत्मनः कुलाचारं मा मुञ्च । पुनः पुनरुपदेशं ददानैर्गुरुभिरुक्तं—यो देवः पूज्यते स जिमद्भिर्हदनं कुर्वद्भिर्न विराध्यते । [आभछिन्त्यादिना] अयमनन्तो देवः स च जिमद्भिः कथं बाध्यते इत्यादि प्रोच्य छोटापितः ? ये गृहकार्यं कुर्वन्ति भार्यामङ्गीकुर्वन्ति ते तु न धर्मगुरवः किन्तु कर्मगुरवः । एवं ज्ञात्वा त्वया विशेष परीक्ष्य धर्मगुरवोऽङ्गीकार्या इति श्रुत्वा गुरुपार्श्वे वस्तुपालः सकुटुम्बः सम्यक्त्वं लात्वा जैनं धर्मं चक्रे ।

इति वस्तुपालकुटुम्बप्रतिबोधसम्बन्धः ॥४३६॥

[437] अथ वस्तुपालमन्त्रिसंघवात्सल्यादिनियमः ।

एकदा द्वौ वस्तुपाल-तेजपालौ गुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतुं गतौ । गुरुभि प्रोक्तं—

धनदो धनमिच्छूनां कामदः काममिच्छताम् ।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥१॥

कोशं विकासय सदा श्रय धर्ममार्यं, प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ति ।
दोषोदये निबिडराजकरप्रताप–ध्वान्ते नमेष्यति पुनस्तव कः समीपम् ॥२॥

तदनु स्वगृहे समायातौ विमृशतः स्मेति नौ गुरुभिर्हितोपदेशो ददे । उत्तरकालस्तु न ज्ञायते कीदृशो भविष्यति । अतोऽधुना धनं धर्मस्थाने व्ययते ततस्तौ स्थले स्थले प्रासादान् धर्मशालाः सत्रागारान् मण्डयामासतुः । प्रतिदिनं उभयकालं प्रतिक्रान्तिमेकवारं देवार्चां प्रतिवर्षं महतीः संघार्चाः साधर्मिकवात्सल्यत्रयं च १५०० तपोधनविहारणम् ।

इति वस्तुपालमन्त्रिसंघवात्सल्यादिनियमः ॥४३७॥

[438] अथ वस्तुपालमन्त्रियात्रासम्बन्धः ।

एकदा श्रीवस्तुपालो गुरुपार्श्वे श्रीशत्रुञ्जयतीर्थयात्राफलं शुश्रावेति—

पल्योपमसहस्रं तु, ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात् ।
दुःकर्म क्षीयते मार्गे, सागरोपमसञ्चितम् ॥१॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा रैवतकं गिरिम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥२॥

कृत्वा यूपसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
इदं तीर्थं समाराध्य, तिर्यंचोऽपि दिवं गताः ॥३॥

इत्यादि तीर्थमाहात्म्यं श्रुत्वा कुङ्कमपत्रिका बहुषु देशेषु प्रेष्य बहुं श्रीसंघमाकारयामास मन्त्री, जगौ च—

वाहनौषधपाथेयं, सहायवृषभादिकम् ।
यद्यस्य नास्ति तत्तस्मै, सर्वं देयं मया मुदा ॥४॥

प्रस्थानावसरे कविः प्राह—वस्तुपालो मन्त्री भरतचक्रीव यात्रामधुना कुर्वाणोऽस्ति । प्रथमं देवगृहे स्नात्रं विस्तरान्मन्त्री चक्रे, पश्चात्संघार्चां । ततो मन्त्रपूर्वं देवालयानां रथे स्थापनं । तत्र चामरादिधरणढालनादि अविधवास्त्रीतिलककरणगीतगानादि, वृषभाणां घर्घरमालाबन्धनं । कौसुम्भिकाया वृषशृङ्गेषु धारणं । प्रथमयात्राया विस्तरः ४००० सेजवालाः, ७०० सुखासनानि, १४०० श्रीकर्यः, ३३३ सूरयः, २२०० यतयः, ११०० क्षपणकाः, ३३०० भट्टाः, ६४ देवालयाः, १८० हेमजटितवाहिन्यः, ४५० जैनयाचकाः, ४००० तुरंगमा, ७००००० मनुष्याः, मार्गे समकरणाय ५००० कुद्दाडिकाः, ५०० महिषाः, पानीयानयनाय ५०० कुद्दाली, एवमपरमपि स्वयं ज्ञेयं प्रतिदिनं १०० मनुष्याः जिमन्ति मन्त्रिगृहे । एवंविधेन श्रीसंघेन सह वस्तुपालमन्त्री द्वयोस्तीर्थयोर्यात्रां चकार ।

इति वस्तुपालमन्त्रियात्रासम्बन्धः ॥ ४३८ ॥

[439] अथ यात्रायाभाग्ये वस्तुपालहडालाग्रामप्राप्तिसम्बन्धः ।

अन्यदा बहुश्रीसंघं मेलयित्वा वस्तुपालो मन्त्री श्रीशत्रुञ्जयदेवनमनार्थं चलितो हडालाग्रामे गतः । तदा द्वाभ्यां भ्रातृभ्यां गृहसत्कलक्ष्मीर्विलोकिता, लेखके लक्षत्रयं ज्ञातं । ततः प्रोक्तं मन्त्रिणा सुराष्ट्रासु [अथास्वास्थ्यं] अस्वस्थं विद्यते । तेन लक्षमेकमत्रावनौ क्षिप्यते । लक्षद्वयं धर्मे व्ययनार्थं सार्थे नीयते । एवं विमृश्य यावल्लक्षस्य धनस्याधःक्षेपाय भूमिं खनयति मन्त्री, तावत्तत्र भूमौ कस्यापि धनिनः पूर्वस्थापितः वज्रकनकपूर्णः शौल्ककलशो निर्ययौ । ततो मन्त्री अनुपमादेवीं पप्रच्छ—क्वैतन्निधीयते धनं ? तयोक्तं तीर्थे व्ययते स्थाप्यते । ततो मन्त्री तद्धनं सार्थे नीत्वा शत्रुञ्जयगिरिनारतीर्थयोर्व्ययत् । कृत्वा यात्रां संघं परिधाप्य गुरूंश्च सोत्सवं धवलक्कके समागात् मन्त्री ।

इति यात्रायाभाग्ये वस्तुपालहडालाग्रामप्राप्तिसम्बन्धः ॥४३९॥

[440] अथ वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्धः ।

एकदा रात्रौ गौर्जरी[त्रा]अधिष्ठायिका सुरी धवलक्कपुरे वीरधवलभूपस्य पुरोऽभ्येत्यावग्— इयं गूर्जरा बहुभिर्भूपैर्भुक्ता । अधुना त्वमवतीर्णो भोक्तुं यदि तव राज्यवर्धनेच्छा विद्यते तदा वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रिणौ कुरु । एवं प्रोच्य देवी विद्युदिव तिरोदधे । राज्ञा दध्यौ— कोऽपि दिव्योपदेशः, कर्त्तव्य एव । यतः—

दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति,
नीत्या समुन्नयति मन्त्रिजनः पुनस्ताम् ।
रत्नावलीं जलधयो जनयन्ति किन्तु,
संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति ॥ १ ॥

इतो रात्रौ देवी सैव लवणप्रसादस्याग्रेऽप्यवदत् वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रीश्वरौ कार्यौ, पितापुत्रौ एकत्र मिलित्वा मिथः स्वंस्वं रात्रिवृत्तान्तं जजल्पतुः । ततस्ताभ्यां वीरधवललवणप्रसादाभ्यां सोमेश्वरदेवगुरोरग्रे प्रोक्तं । गुरुर्द्विजः प्राह—युवां भाग्येन देव्या ज्ञापितमेतत् । ममकल्ये वस्तुपालतेजपालौ मिलितौ । साक्षात्पुरुषोत्तमप्रायौ विज्ञौ, सदाकारौ, विनीतौ, सर्वकलाकुशलौ, धीमन्तौ, शूरौ, दानिनौ, धर्मवन्तौ । तदा मया ध्यातं यद्येतौ मन्त्रिणौ भवतस्तदा राज्यवृद्धिर्भवति । ततस्तौ सोदरौ राज्ञा तत्राकारितौ, आसनदानादिना सन्मानितौ । ततो भूपो जगौ युवयोर्मन्त्रीश्वरपदं दातुकामोऽस्मि उक्तं च—

आवयोश्च पितृपुत्रयो-र्महानाहितः क्षितिभरः परद्रुहा ।
तद्युवां सचिवपुङ्गवावहं, योक्तुमत्र युगपत्समुत्सहे ॥१॥

अथ वस्तुपालो जगौ—

देव ! सेवकजनः स गण्यते, पुण्यवत्सु गुणवत्सु चाग्रणीः ।
यः प्रसन्नवदनाम्बुजन्मना, स्वामिना मधुरमेवमुच्यते ॥२॥

नास्ति तीर्थमिह पार्थिवात्परं, यन्मुखाम्बुजविलोकनादपि ।
नश्यति द्रुतमपायपातकं, सम्पदेति च समीहिता सताम् ॥३॥

किन्तु किमपि विज्ञाप्यते स्वामी,
आवाभ्यां सागता शुभमयी जगत्त्रयी ।
देव ! संप्रति यु [गः] कलिः पुनः सेवकेषु,
न कृतं [ता] कृतज्ञता नापि भूपतिषु यत्र दृश्यते ॥४॥

दृष्टिर्नष्टा भूपतीनां तमोभिः[1] लोभस्तु सर्वेषां विद्यते[2] राजानस्तु आत्मीयाः न भवन्ति केषामपि, तेनास्मन्मनो मन्त्रीश्वरपदग्रहणे दोलायते। यदा श्रीर्भवति तदा तु धर्मस्थानादौ व्ययितुमिच्छा भवति । तदा राज्ञो दृष्टिर्यदाऽक्रूरा भवति। तदा सर्वं राजा गृह्णाति। राजाऽवग्—यत्र भवतो[ते] रोचते तत्र तत्र श्रीर्व्ययनीया। मन्त्री जगौ—अस्मद् गृहे साम्प्रतं लक्षत्रयी द्रव्यस्य विद्यते कदाचित् पिशुनप्रवेशाद्राज्ञो मनश्चलति। तदा लक्षत्रयं मोचनीयमधिकं ग्राह्यं[3]। राजा जगौ—अहं यदि भवतां श्रियं गृह्णामि । तदा मम भवतोरीश्वरोऽन्तरा क्रियमाणोऽस्ति। ततो राज्ञा दत्ता मुद्रा द्वाभ्यां भ्रातृभ्यां गृहीता। ततः स्तम्भतीर्थदेशव्यापारो दत्तस्तेजःपालस्य धवलक्कदेशव्यापारो, वस्तुपालमन्त्रिणो ददे भूपेन, ततस्ताभ्यां तथा कृतं यथाऽनेके देशाः साधिताः[4]। दिने दिने राज्ञः कोशो ववृधे मन्त्रीश्वरगृहमपि श्रिया भृतं राजा हृष्टः सन्मानं दत्ते तयोः।

इति वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्धः ॥ ४४ ॥

[441] अथाऽनित्यतास्मरणे वस्तुपालसंबंधः ।

अन्यदा श्रीवस्तुपालो मन्त्री मस्तकादागतमेकं पलितं दृष्ट्वा पपाठ ।

अधीता न कला काचित्, न च किञ्चित्कृतं तपः ।
दत्तं न किञ्चित्पात्रेभ्यो, गतं च मधुरं वयः ॥१॥

आयुर्यौवनवित्तेषु, स्मृतशेषेषु या मतिः ।
सैव चेज्जायते पूर्वं, न दूरे परमं पदम् ॥२॥

आरोहन्ती शिरःस्वान्ता–दौन्नत्यं तनुते जरा ।
शिरसः स्वान्तमायान्ती, दिश्यते[दिशति] नीचतां पुनः ॥३॥

लोकः पृच्छति मे वार्तां, शरीरे कुशलं तव ।
कुतः कुशलमस्माक–मायुर्याति दिनेदिने ॥४॥

एवं ध्यात्वा विशेषतोऽनेके प्रसादान् साधर्मिकवात्सल्यगुरुपरिधापनशुद्धभक्तप्रदानादिधर्मकृत्यानि च मन्त्री चकार ।

इति अनित्यतास्मरणे वस्तुपालसम्बन्धः ॥४४१॥

(१) नष्टं सत्वं सात्विकानां । (२) लोभो जातः सर्वलोभिनां, सम्प्रति शपथमाहात्म्यंविद्याविकलेषु, लोभस्तु सर्वेषां विद्यते । (३) अस्मभ्यां [आवाभ्यां] धर्मे सप्तक्षेत्र्यां स्वदर्शने शिवदर्शने श्रीर्व्ययिष्यते यदिस्वामि प्रसन्न एव वीक्ष्यते । (४) वैरीगणोपद्रवः श्रीग्रहणमोचने स्वामिन आज्ञा ग्राहितः ।
[प्रतौ एतदधिकमुपलभ्यते]

ध्यातं–वर्योऽयं देशः यत्र बहुनीरं विद्यते । अस्मद्देशे तु *अगाधाम्बु तदपि स्तोकं । अतोऽधुना तृषितोऽहं जलं पिबामि । ततः पयः पातुं लग्नः । यावज्जलं पीतं तावन्मुखं क्षारमभूत् । कोष्टो दग्धः ततोऽपाठीत्सः—

चिरिवियराजलपिहिं जल, पियइ घुट्टघुट्ट चुलुएहिं ।
सायर अत्थि बहुत जल विकारा किं तेण ? ॥१॥

ततः समुद्रतटे उपविष्टो रत्नानि विलोकयति तदा कल्लोला एवायान्ति । यान्ति च न रत्नानि । वृक्षा विलोकिता ये ते क्षारा एव, धूलिस्तु क्षारा एव मुखे पतिता । ततो नष्टो निजदेशे समागात् समुद्रस्वरूपं प्रोच्यावग्–लोकानां पुर आत्मीय एव देशो वर्यः ।

इति समुद्रवीक्षानिर्गतमरुस्थलीपुरुषसम्बन्धः ॥४४३॥

[444] अथ लूणिगमंत्रिधर्मवाञ्छासम्बन्धः ।

पूर्वं धवलक्कके लूणिगदेव–मालदेव–वस्तुपाल–तेजःपालसोदरा निर्द्रव्या वसन्ति स्म । अन्यदा लूणिगस्यान्त्यावस्थायां पुण्ये मानिते लक्षत्रयप्रमाणे । लूणिगः प्राह—ममार्थमर्बुदगिरौ विमलवसतिकायां प्रासादो देवकुलिका वा कार्या । ततो वस्तुपालेनोक्तं—करिष्यते त्वया पुण्यं श्रद्धेयं तत्पुण्यं श्रद्धानो लूणिगः स्वर्गं गतः ।

इति लूणिगमन्त्रिधर्मवाञ्छासम्बन्धः ॥ ४४४ ॥

[445] अथार्बुदलूणिगवसतिनिर्माणसम्बन्धः ।

एकदा वस्तुपालमन्त्री अर्बुदतीर्थे गतः । तत्र विमलमन्त्रिवसहिकायां श्रीवृषभदेवं पूजयित्वा प्रासादस्य कोरणिकां वर्यां वीक्ष्य दध्यौ—वयं चत्वारो भ्रातरो जाताः, परं मालदेवभ्रातुर्नाम्ना प्रासादाः कारिताः । अत्र लूणिगभ्रातुर्नाम्ना लूणिगाह्वां वसतिं कारयामि । ततस्तेजःपालः पृष्टः सन् वसतिकरणेऽनुमतिं ददौ ।

ततश्चन्द्रावत्यां पुर्यां गत्वा धारावर्षभूपस्य मिलितः तस्याग्रे प्रोक्तमहमर्बुदशैले प्रासादं कारयितुमिच्छामि । तेनोक्तं—यद्विलोक्यते [यदपेक्षसे] तदहं करिष्ये । ततः सुमुहूर्ते सूत्रधारानाकार्य भूमिर्दर्शिता यदा, तदा तत्रत्याः पनीयानका न मन्यन्ते । ततो धर्मनिमित्तं स्पर्द्धकैस्तीरयित्वा भूमिर्गृहीता, चतुःस्पर्धकस्योपरि पञ्चकं स्पर्द्धकं मण्डितं च वस्तुपालमन्त्री स्पर्धकेर्भूमिं तारयित्वा गृह्णानः ३६ स्वर्णरूप्यकैर्भूमिं वह्वीं जग्राह । तदा पनीयानकैरुक्तं असौ मन्त्री सर्वं गिरिं ग्रहीष्यति तदा मेले[मेलं]न समेष्यति । ततो मन्त्री निषिद्धस्तैः । ततो मन्त्री आरासणतः पाषाणाना [आनाय्य] प्रासादं कर्त्तुमारब्धः । अर्द्धार्द्धक्रोशे ग्रामा वासिताः आरासणमार्गे तत्र सत्रागाराः, मुख्यः शोभनः सूत्रधारः । अपरेषां सप्तशतानि सूत्रधाराणां

---

* उंडुं ।

बहु द्रव्यं प्रतिदीयते । सप्तसहस्रं मनुष्याः अर्बुदगिरिआरासणादिग्रामेषु देवगृहार्थं मुक्ताः कर्म कर्त्तुम् ।

एकदा वस्तुपालः सकुटुम्बस्तत्रागात् । तदा स्तोकं कर्बाटकं [कार्यं] निष्पद्यमानं दृष्ट्वा मन्त्री शोभनं प्रति प्राह्—स्तोकं कर्बाटकं चलति एवं कथं प्रासादो निष्पत्स्यते ? शोभनोऽवग्—अत्र गिरौ शीते पतति तेन प्रातर्घटनं न भवति । मध्याह्ने जेमितुं गम्यते रात्रौ तु विश्रामो गृह्यते । ततोऽनुपमा श्रुत्वैतत् दिवसघटकाः सूत्रधारका एके कृताः । रात्रिकर्म[स्थाप्य]कारकाः पृथक् स्थापयामास, मन्त्रिपार्श्वात् यतः—कालस्य विश्वासो न क्रियते—

श्रियो वा स्वस्य वा नाशो, येनावश्यं विनश्यति ।
श्रीसम्बन्धे बुधः स्थैर्य—बुद्धिं बध्नाति तत्र किम् ? ॥१॥

वृद्धानाराधयन्तोऽपि, तर्प्पयन्तोऽपि पूर्वजान् ।
पश्यन्तोऽपि गतश्रीकान्, अहो मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥

तत्र स्तोकैरेव वर्षैः प्रासादो निष्पन्नः । तत्र बिम्बस्थापना कृता प्रतिष्ठा कारिता १२ कोटिः साधिका लग्ना "यत्र यत्र वुद्धिर्नोत्पद्यते तत्र तत्र बुद्धिमनुपमादेवी दत्ते ।" यतः—
स्त्री सती यद्वक्ति तत्प्रायस्तथा भवति शीलमाहात्म्यात्—

गृहचिन्ताभरणहरणं, मतिवितरणमखिलपात्रसत्करणम् ।
किं किं न फलति कृतिनां, गृहिणी गृहकल्पवल्लीव ? ॥३॥

सम्वत् १२८३ प्रासादप्रारम्भः । १२९२ प्रासादः सम्पूर्णोऽजनि । १२ कोडि ५३ लक्षद्रव्याणि तत्र प्रासादे लूणिगवसत्याह्वे लग्नानि ।

इति अर्बुदलूणिगवसतिनिर्माणसम्बन्धः ॥४४५॥

[446] अथ भक्तिदाने अनुपमादेवीसंबंधः ।

अन्यदा वस्तुपालमन्त्रिणा अनुपमादेव्याः पुरः प्रोक्तं—त्वया साधवो विहार्याः साधिका साधर्मिक्यो भोजयितव्याः । ततः प्रतिदिनमनुपमादेवी हृष्टा, यथेष्टं अन्नपानघृतादिसाधुभ्यो दत्त्वा साधिकान् साधर्मिकांश्च यथायोग्यं भोजयित्वा गुरोः पदोर्वन्दनकानि दत्त्वा देवं प्रपूज्य जिमति सदा एवं गच्छति समये । अन्यदा साधुभ्योऽन्नपानं दत्त्वा घृतकटाहकेन बहु घृतं ददानायास्तस्याः क्षौमाण्यभ्यक्तानि घृतेन । तदा महत् घृतकटाहकं साधो्दृष्ट्वा एकेन प्रतीहारेण भग्नं ततस्तया स निष्काशितः । अन्यस्तत्र स्थापितः । अत्रान्तरे स प्रतीहारो वस्तुपालमन्त्रीशस्य पुरो जगौ । अनुपमादेवी बहु घृतं साधुभ्यो दत्ते । यदा तदा साटिका घृतेनाभ्यक्ता भवति मलिनाम्बरा स्त्री तु न शोभते । ततो मन्त्रिणा साऽनुपमादेवी निषिद्धा । तदा अनुपमादेवी मन्त्रीशस्य पुरः प्राह—अनेकेषु भवेषु तैलिकपत्नी अभूवं, कान्दुविकपत्नी च, तत्र

बहुशोघृतेन शाटिकाऽभ्यक्ताऽभूत्, परमधुना धर्महेतोः साधुभ्यो घृतं ददानाया मम शाटिका घृताभ्यक्ता, भवति मम भाग्यं भवे भवे कथमीदृशो योगः तव सदृक्षो ज्येष्ठः धनी धर्मी दयावान् इत्यादिगुणवान् ईदृक्षी देवगुरुसामग्री मनुष्ययोगः, वासना च पापदानानि भूरिशो दत्तानि, धर्मदानानि साम्प्रतमेव लब्धानि सन्ति । एवं तयोक्ते वस्तुपालमन्त्री हृष्टस्तां प्रशंसयामास । ततः प्राह च—अद्यप्रभृति त्वया विचारो न कार्यः। यथारुचि त्वया दानं दातव्यम् । इति भक्तिदाने अनुपमादेवीसम्बन्धः ॥४४६॥

[447] अथ वस्तुपालमन्त्रिकुटुम्बपरलोकगतिसंबंधः ।

सम्वत् १२९८ (वर्षे) अङ्केवालोयाग्रामे वस्तुपालमन्त्री स्वर्गं गतः । तत्र सरः, प्रभुप्रासादो, धर्मशाला, सत्रागाराश्च तेजःपालेन कारिताः १८ वर्ष व्यापारः, तेजःपालो मन्त्री १३०२ चन्द्रोमाणाग्रामे स्वर्गं गतः। तत्रापि सरःप्रासादसत्रागाराश्च जयंतसिंहेन कारिताः । अनुपमादेवी अनशनं लात्वा स्वर्गं गता । सुललितादेव्यपि ।

इतश्चैकदा वर्द्धमानसूरय आचाम्लवर्द्धमानतपः कर्त्तुं लग्नाः अभिग्रहं ललुश्च । यदा तपः-पूर्णं भविष्यति तदा मया शंखेश्वरपार्श्वं वन्दित्वैव पारणकं कार्यं, सम्पूर्णे तपसि देवं मनसि कृत्वा सूरयो दध्युर्मया वस्तुपालादीनां गतिः प्रभोः पार्श्वस्य पुरः प्रष्टव्या एवं ध्यात्वा मार्गे चेलुः। तत्र मार्गे एकस्य तरोस्तलेऽनशनं लात्वा प्रभोर्ध्यानात् मृतः, [स च] शंखेश्वरपार्श्वनाथस्याधिष्ठायकोऽभूत्, ज्ञानेन मन्त्रिणो गतिं ज्ञातुं महाविदेहक्षेत्रे श्रीसीमन्धरजिनं नन्तुं गतः । प्रभुं नत्वा स पप्रच्छ—भगवन् ! वस्तुपालमन्त्री महापुण्यकारकः क्व गतो मृत्वा ? स्वाम्याह—विदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरिकिण्यां पुर्यां कुरुचन्द्रो नृपोऽभूत् वस्तुपालजीवः, स च तृतीयभवे सेत्स्यति । अनुपमादेवीजीवस्तु अत्र विजये श्रेष्ठिसुता जाताऽस्ति, दीक्षां लात्वा सेत्स्यत्यस्मिन्नेव भवे । ततः स देवः श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथमुखेऽवतीर्य स्वसम्बन्धकथनपूर्वं वस्तुपालानुपमादेव्योर्गतिं प्रकाशयामास लोकाग्रे। इति श्रीवस्तुपालानुपमादेवीगतिः । तेजःपालस्तु धरापुरे भूपपुत्रोभूत्तत्रैव ललितादेव्यपि सोमभूपपत्नी जाताऽस्ति एते सर्वे स्तोकैर्भवैर्मुक्तिं यास्यन्ति।

इति वस्तुपालमन्त्रिकुटुम्बपरलोकगतिसंबंधः ॥४४७॥

[448] अथ द्वितीय आभडमन्त्रिसम्बन्धः ।

पत्तने श्रीमालज्ञातीयनागश्रेष्ठिसुन्दरीपत्नीभव-आभडो वणिग्बभूव । तस्मिन् दशवार्षिके मातापितरौ मृतौ श्रीर्नष्टा। आभडस्तु व्यवसायं चक्रे । वृद्धत्वे परिणीतः मणिकारकलां शिक्षितवान् दिनं प्रति पञ्च लोष्टिकानुपार्जयति । तत्रैकं धर्मे व्ययति, द्वौ कुटुम्बकार्ये, द्वौ सञ्चये । चतुर्दशेऽब्दे पुत्रो जातः। पत्न्याः स्तन्यं न, तेन पुत्रः सीदति स्म । ततः पुत्रस्य दुग्धाय छागीं लातुमाभडो ग्रामबहिर्गतः। तत्र अवाहे छागयूथं पानीयं पातुमागात् । अवाहे छाग्यः सर्वाः पानीयं पातुं लग्नाः यदा तदाऽऽभडो नीलं पयो ददर्श । ततश्चिन्तितं तेन कस्या अपि गले रत्नं

विद्यते। ततश्छागीषु पयः पीत्वा चलितासु एकस्या गले कण्डकं दृष्टं तस्यां निवृत्तायां पयोधवलं जातं ततश्छागीयपार्श्वेऽभ्येत्यावग्—मम पुत्रस्यार्थे दुग्धं विलोक्यते तेनैकां छागीं देहि मूल्यं मार्गय। तेनोक्तं—विलोकय या ते रोचते सा गृह्यतां तत आभडोऽवग्—इयं सकण्डका देहि तेनोक्तं—गृहाण ततो मार्गितं मूल्यं वितीर्य छागीं स्वगृहेऽनैषीत्सः तस्या दुग्धेन पुत्रं जीवयति, कण्डकरत्नं समार्घ्यं लक्षेण विचिक्राय अतो व्यवहारी जातः। तत आभडेन वहिकास्तिस्रः कृताः। एका रोक्यवहिका, द्वितीया विलम्बवहिका, तृतीया परलोकवहिका, को भावोऽत्र? धरणं बन्धनं याचनां न कस्यापि करोति उद्धाराद्यनर्पणात् कृपाम्भोधिः क्रमाद्धने वर्द्धिते ३६ वेलातटे धनर्द्धिः पूगहट्टिका निजसदनं श्रीहेमसूरिपौषधशालाश्च मापपिष्टेष्टकचिताः कारितास्तेन। क्रमाच्छ्रीकुमारपाले राज्योपविष्टे महाव्यापारोऽभूत्। श्रीहेमसूरिपार्श्वे साधर्मिकरोपणफलं मुक्तिरिति श्रुत्वा त्रुटितधनान् श्राद्धान् दीनारसहस्रदानादुद्दधार राजाऽपि सहस्रं सहस्रं दीनाराणां भग्नसाधर्मिकेभ्यो दापयति आभडपार्श्वात्, वर्षान्ते एका कोटिर्धर्मे जाता।

आभडोऽवग् भूपोपान्ते—राज्ञो द्विधा कोशः स्थावरो हेमादि० जङ्गमो वणिजः यन्मम धनं तत्तवैव श्रुत्वा राजा हृष्टः आभडं प्रशशंस आभडः प्रभुप्रासादान् भूरिशः कारयामास धर्मशालाश्च शत्रुञ्जयादिषु तीर्थेषु यात्राः साधर्मिकवात्सल्यानि पुस्तकभाण्डागारभरणं चकार च।

इति द्वितीय आभडमन्त्रिसम्बन्धः ॥४४८॥

[449] अथ मूंमाणीखानिसमानीतप्रतिमापञ्चकस्वरूपम्।

अन्येद्युः सुरत्राणमोजदीनमाता हजयात्रार्थिनी स्तम्भ[न]पुरमागता, नौवित्तगृहेऽतिथित्वेन स्थिता। सा चागता मन्त्रिणा ज्ञाता। सेवकानां प्रोक्तं यदेयं जलपथे याति तदा ज्ञाप्या मे।

अन्यदा तैः सा चलनावसरे मन्त्रिणो ज्ञापिता। ततो वर्यान्नपानाम्बरप्रदानात् पूर्वमतीव गौरविता। ततोऽब्धिमार्गे तस्याश्चलन्त्या मन्त्रिणा निजकोलिकसेवकान् प्रेष्य धनं सर्वं लुण्टयित्वा समानायितं, सुष्ठु स्थाने रक्षितं च। तदा नौवित्तैः ज्ञापितं मन्त्रिणोऽग्रे तस्या लुण्टनस्वरूपं। मन्त्री प्राह—कोऽस्ति एवं वर्त्मभङ्गं करोति? आदेशो दत्तः स्वसेवकानां पूर्वं छन्नं शिक्षयित्वा गच्छत। यूयं यानं पूरयित्वा यत्र येन ग्रहीतं तत आनेयं, ततस्ते सप्ताष्ट दिनानि भ्रान्त्वाऽऽगताः प्रोक्तं च तैः—अमुकैर्गृहीतं। ततो बलात्तत आनायितं कूटं प्रकृतं कृत्वा तस्यास्तत्सर्वं दत्तं। मातर्यदन्यद्विलोक्यते तद्ग्राह्यं मम पार्श्वात्, जेमिता वराहारैः। ततो लक्षत्रयद्रव्यनिष्पन्नं आरासणाश्ममयं तोरणं रुतेन वेष्टितं कृत्वा ददौ, मन्त्री प्राह च—इदं हजे बन्धनीयं। ततो याने स्थापितं ततश्चलन्त्याः तस्याः प्रोक्तं मन्त्रिणा त्वया पश्चादत्रागन्तव्यं। ततः सा हजे तीर्थे गता। तत्र हजे तोरणं बद्ध्वा हजसेवां कृत्वा पश्चात्स्तम्भतीर्थं समागता। वस्तुपालेन मानिता भोजनवस्त्रादिदानात्। ततस्तयोक्तं—मम पुत्रद्वयं-एकस्त्वं अपरो मोजदीनसुरत्राणः, यत्तव विलोक्यते तन्मार्गय। मन्त्री प्राह—त्वत्पुत्रदेशे मूंमाणीपाषाणखानिरस्ति। ततः प्रौढप्रस्तरपञ्चकं मम विलोक्यते तयोक्तमेतत्सुकर-

मेवास्ति । अहं तत्र गता सती द्वितीयवारं तदा जिमिष्यामि, यदा प्रस्तरपञ्चकं भवदु ततश्चालयिष्यामि । एवं प्रोच्य यदा चचाल सा तदा वस्तुपालो बहुवर्त्मनि संप्रेषयि गतः । सा च स्वपुरे गता सूनोर्मिलिता पुत्रस्याग्रे प्रोक्तः यात्रासम्बन्धः सर्वः । प्रोक्तमेकस पुत्रः अपरो गूर्जरमन्त्री वस्तुपालः । तस्य मूंमाणीप्रस्तरपञ्चकं यदा प्रेषयिष्यते तदा म द्विर्वारं भोक्तव्यं । ततो राज्ञा प्रस्तरपञ्चकं प्रेषितं । तत एकेन शत्रुंजये श्रीऋषभप्रति कारिता, द्वितीयेन पुण्डरिकप्रतिमा, तृतीयेन कपर्दिकयक्षप्रतिमा, चतुर्थेन चक्रेश्वय प्रतिमा, पञ्चमेन तेजलपुरे पार्श्वनाथप्रतिमा । केचित् वृद्धाः कथयंति—गौमेतं मठादग्र वामपार्श्वे चतुष्किका वर्तते तदधोभूमिगृहे वस्तुपालमंत्रिणा एवं आदिष्टं—इमं प स्थापितमस्ति । इति मूंमाणीखानिसमानीतप्रतिमापञ्चकस्वरूपम् ॥४४९॥

[450] अथ रत्नश्राद्धसम्बन्धः ।

काश्मीरदेशभूपणनवहुल्लकपुरात् रत्नश्रावको निर्गतः । श्रीरैवतगिरौ नेमिनमस्करणा वर्त्मनि स्थाने स्थाने देवतया विघ्नं कृतं पुनर्न चचाल । तीर्थमारूढः रत्नः श्रीसंघयु प्रभोः स्नात्रं कर्त्तुं लग्नः श्रीपञ्चपाण्डवकारितं लेप्यमयं बिम्बं गलितं श्रीसंघयुग्रत्नोऽर्त खिन्नोऽजनि अचिन्तयच्च, धिग्मां यन्मम स्नात्रं कुर्वतः प्रभोर्बिम्बं गलितं, मया तदा भोक्त यदा श्रीअम्बिकादेवी नेमिप्रतिमां दास्यति । अम्बिकादेव्याः पुर उपविष्टो ध्यानेन षष्ठध्यानोपवासा अम्बिका प्रत्यक्षीभूयावग्—त्वत्साहसेनाहं तुष्टास्मि । ततः सा काञ्चनवलानकेतमनैषी तत्र च तस्मै द्वासप्ततिजिनबिम्बान्यदीदृशत् । तेषु १८ हैमानि, १८ रात्नानि, १८ राजता १८ वज्रमयानि एवं ७२ । स विमृश्यावग्—वज्ररत्नमयं बिम्बमर्प्पय मह्यं । ततो देवी क्कच[सूत्रतन्तुभिर्बद्ध्वा तस्य पृष्ठौ मुमोच, पश्चान्न विलोक्यं । यत्र त्वं पश्चाद्विलोकयिष्य तत्रैव स्थास्यति । ततो बिम्बं स्कन्धे कृत्वा निर्गतः । स तदा द्वारि समागात्, तदा [ध्यानं तेन भारस्तु न ज्ञायते । कदाचिद् देव्या वाहितोऽहमेव कपटेन, एवं ध्या यावत् पश्चाद्विलोकितं तावद्बिम्बं तत्रैवाम्बरे स्थितं । ततस्तस्य बिम्बस्य तत्र पूजा कृता, प्रासादस्य ततोऽस्तमनाभिमुखं कृतं, स्तुतिरेवं कृता—

न खानिमध्यादुदखानि, सूत्रैर्नात्रुटि टङ्कैरुडिखंजिनेत्र ।
अद्योति न द्योतमकैर्न वाहैरवाहि, यो मन्त्रि न सिद्धमन्त्रैः ॥१॥

अनादिरव्यक्ततनूरभेद्यः, प्रभामयोऽनन्तवलः स्वसिद्धः ।
तरीस्तरीतुं भविना भवाब्धिं, स नेमिनाथः कृपयाविरासीत् ॥२॥

इति रत्नश्राद्धसम्बन्धः ॥४५०॥

[451] अथ बुद्धौ हरिदत्तदूतसंबंधः ।

कच्छदेशेशश्चन्द्रः समायामुपविष्टो यदा तदा प्रातरेको वैदेशिकः समागात् । स

पृष्टः त्वं कुत आगात् ? किमाश्चर्यं दृष्टं त्वया ? तेनोक्तं—बेन्नातटपुरे भीमसेनराजेन सभा वर्या कारिताऽस्ति, यादृशी अन्यत्र न दृश्यते । राज्ञोक्तं हरिदत्तस्य दूतस्याग्रे । गच्छ तत्र पुरे सभां विलोक्यागच्छ । यादृशी तत्र सभास्ति तादृशी कार्यते । ततः स दूतः किञ्चित् प्रीतिप्राभृतहस्तश्चचाल राज्ञो मिलितः स, प्रोक्तं च—अहं चित्रसभां द्रष्टुं चन्द्रेण भूपेन प्रेषितोऽस्मि । भीमसेनोऽवग्—कल्ये प्रातर्दर्शयिष्यते । ततो द्वितीयदिने प्रातर्दूत आकारितः । तत्र गतः चित्रशालां विचित्ररत्नखचितां जलस्थलभ्रान्तिकारिणीं दृष्ट्वा प्रथमं निश्चेतुमक्षमः स कथं प्रविष्टः ? ततः बुद्धिमान् मुद्रामग्रे मोचं मोचं जलस्थले ज्ञात्वा मध्ये प्रविष्टः । ततः स चन्द्रभूपानुगः पश्चादेत्य यदा भीमसेनभूपसभावर्णनं चकार ।

इति बुद्धौ हरिदत्तदूतसम्बन्धः ॥४५१॥

[452] अथ बुद्धौ क्षत्रियपत्नी नीइणीसम्बन्धः ।

सूरडग्रामे सूरपालः क्षत्रियः पत्नी नीइणी । सा च पतिपार्श्वे नित्यं पट्टसूत्रजं कञ्चुकं याचते । स च न दत्ते वक्ति च तां प्रति नाहं-पट्टकूलवणिग् कार्पासवणिग् वाऽभवं । ततो मम पार्श्वे पट्टसूत्रजं कञ्चुकं नास्ति । तयोक्तं—द्रव्येन किं न भवति ? स वक्ति—द्रव्यं कस्य पार्श्वे समस्ति ? सा वक्ति—अहिफीणादि समानयति कुतो निःसरति । एवं प्रोक्ते पत्न्या सदा नोत्तरं दत्ते ।

ततोऽन्यदा यदा सूरपालः सभायामुपाविशत् । तदा दासी तया शिक्षयित्वा प्रेपिता जगौ—त्वरितं गृहे आगम्यतां त्वया नीइण्या ज्ञापितमस्ति इति "रब्बा" उत्तरिताऽस्ति शीता भविष्यति । ततः सभाजनैरुक्तं किं तव गृहे धनं नास्ति [यद्] रब्बा पीयते ? ततः स लज्जितो गृहे आगतः प्राह—पत्नि ! अहं कथमेवं विगोपितो रब्बाजल्पनेन ? सावग्—यदि पट्टसूत्र-कञ्चुकं नार्पयिष्यसि तदैवं भविष्यति । स प्राह—पट्टसूत्रकञ्चुकं गृहाण । अथ कलंको यथोत्तरति तथा कुरु। ततस्तयोक्तं—सेतिकाद्वयं गोधूमानां प्रेषय, घृतं गुड इत्यादिकं वितर। यदा तदा तव कलंकं उत्तरति । ततः प्रियामार्गितं दत्त्वा सभायां गतः । प्रिया तु वर्यां रसवतीं निष्पाद्य सभायामागता गृहे आगच्छ रसवती निष्पन्नाऽस्ति । ततः सर्वपरिषज्जन-सहितः गृहे आगात्, पत्न्या रसवत्या सर्वपरिषत्सहितः जेमयितः प्रीणितो वर्यरसवतीदानात्। ततः सर्वपरिषत्प्राह—अयं धनी पुण्यवान्, एतस्य पत्नी धन्या, एतयोः संयोगो वर्योऽस्ति ।

एवं बुद्धौ क्षत्रियपत्नी नीइणीसम्बन्धः ॥४५२॥

[453] अथ बुद्धौ सुबुद्धिसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे कुबुद्धिसुबुद्धिमित्रद्वयं विद्यते स्म । सुबुद्धिः देशान्तरं गतः । कुबुद्धिस्तस्य प्रियायां रक्तोऽभूत् । सुबुद्धिर्धनमुपार्ज्य आगात् । कुबुद्धिस्तु कृत्रिमं स्नेहवचो जल्पति सुबुद्धिस्तदजानन् मानयति तं, कुबुद्धिः सुबुद्धिं प्रति उवाच । भवता क्वापि कौतुकं दृष्टं, सुबुद्धिः

प्राह—सरस्वती नदी कमलह्रदोपान्तस्थे कूपमध्ये अकालजमाम्रफलं दृष्टं । कुबुद्धिः प्राह—कूटं किं प्रोच्यते ? सुबुद्धिः—सत्यमेतत् । ततः कुबुद्धिः तस्य पत्नीमंगीचिकीः [तच्चिकीः] प्राह—यदि तत्राम्रं भवति तदा मम गृहस्थाऽपि श्रीस्तव, यदि न भवति तदाहं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां यद्गृह्णामि तन्मामकं । एवं पणबन्धं कृत्वा कुबुद्धिस्तत्फलमानीतवान् छन्नं स्वगृहे, प्रातर्द्वावपि गतौ फलमदृष्ट्वा कुबुद्धिरुवाच चल चेद्गृहे यद् द्वाभ्यां हस्ताभ्यामहं गृह्णामि । तन्मे भवतु । एवं जल्पन्तं कुबुद्धिं सुबुद्धिः भार्यां गृहीतकामं ज्ञातवान् । ततोऽवग्—कल्ये त्वयाऽगम्यं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां वस्तु ग्राह्यं । ततो द्वितीयदिने सर्वं वर्यं वस्तु पत्नीयुतं मालकस्योपरि मुमोच । कुबुद्धिरागान् स्वं लहनं ममार्ग सुबुद्धिर्निःश्रेणीं तत्र मुक्त्वा प्राह गृहाण वस्तु । ततः स यावन्मालकस्योपरि चटितुं निःसरणीं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां जग्राह । तदा सुबुद्धिः प्राह—इमां निःसरणीं लात्वा गच्छ । अद्य प्रभृति मम गृहे त्वया नाऽगम्यं तव मनो ज्ञातं । ततः पत्न्यपि हक्किता सन्मार्गे स्थापिता ।

एवं बुद्धौ सुबुद्धिसम्बन्धः ॥४५३॥

[454] अथ बुद्धौ व्याघ्रमारिकासम्बन्ध. ।

उन्देलिके ग्रामे राजसिंहः क्षत्रियः तद्भार्या कलहप्रिया रुष्टान्यदा पुत्रद्वयं नीत्वा निःससार पितुर्गृहं प्रति, गता मलयपर्वते चन्दनद्रुमादिवृक्षसंकुले एकं व्याघ्रं संमुखमागच्छन्तं दृष्ट्वा दध्यौ, कथमस्माच्छुटिष्यते ? तत उत्पन्नधीः पुत्रौ चपेटया आहत्य प्राह—कथं युवां व्याघ्रं भक्षितुं कलहं कुरुथः ? भवद्भिस्तु अग्रे बहवो भक्षिताः अहं तु बुभुक्षिताऽस्मि, वयं त्रयः असौ तु एकः कथमात्मन उदरपुष्टिर्भविष्यति । एवं जल्पन्तीं श्रुत्वा व्याघ्रो दध्यौ एषा व्याघ्रमारी नारी, अहं मुधा धावितोऽत्रैवाहन्तुं । एते सर्वे व्याघ्रभक्षकाः एवं ध्यात्वा व्याघ्रो नष्टः सा चोद्वलिता तस्माद्भयात् ।

इति बुद्धौ व्याघ्रमारिकासम्बन्धः ॥ ४५४ ॥

[455] अथ बुद्धौ शकटालमंत्रिसंबंधः ।

पाटलीपुरपत्तने नन्दो राजा तस्य शकटालो मन्त्री मन्त्रिधिया सर्वे भूपाला अपि करदायका जाताः उक्तं च—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यात्सानुरागेण कः,
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम् ?
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुचिता येषां गुणा भूतये,
भृत्यौ वातृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु वापत्सु च ॥१

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य, किं करिष्यन्ति संहिताः ?
हस्तोपघृतच्छत्रस्य, वारिधारा इवारयः ॥२॥

स च चर्मनाणकं कारयन् निर्द्रव्यां भुवं कुर्वाणो निषिद्धो मन्त्रिणा । ततः स भूपो रुष्टो मन्त्रिणं सपुत्रमवटे चिक्षेप । तत्रस्थो रहः अपुष्यत स्वजनैः । ततो महामात्यैः शकटालो मृतो मृत इति घोषितं । ततो वङ्गालनाथस्तत् परीक्षार्थं घोटिकाद्वयं प्रेषयामास सेवकपार्श्वा-दुपदादम्भात् स च तत्र गत्वा प्राह अनयोर्मध्ये का माता का पुत्री इति, भूपेन पृष्टमपि तदा न केनापि विज्ञेनापि द्वयोः सम्यग्निर्णयः कृतः । ततो नन्दो दध्यौ—यदि शकटालः कूपे नाक्षेपिष्यत तदा स निर्णयं कुर्यात् । राज्यमहत्वं यास्यति यतः—

भूमेश्च देशस्य गुणान्वितस्य, भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशे ।
भृत्यप्रणाशे मरणं नृपाणां, नष्टाऽपि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥३॥

ततो दण्डपाशकं भूपोऽप्राक्षीत् शकटालकुले कोऽप्यस्ति योऽनयोर्घोटिकयोर्मातृसुतयो-र्विभागं करोति, तेनोक्तं विलोक्य कथयिष्यते । ततः स भूपः पृच्छन् कूपान्तस्थं शकटालं ज्ञातवान् । ततः कूपात् कर्षितः, उक्तं च तेन--

मेदिनीशेन मान्यस्त्वं, गुरुः स्वामी नियोजिकः ।
आश्रयश्च तथा दाता, किं किं न त्वं सदा न च ? ॥४॥

स्वामी दुर्णयवारण व्यतिकरे शास्त्रोपदेशे गुरु—
र्विष्टम्भे हृदयं नियोगसमये दासो भये चाश्रयः ।
दाता सप्तसमुद्रसीमरसनादासांतिकायां क्षितौ,
सर्वाकारसभूस्स्वयंवरसुहृत् को वा न वर्ण्यो मम ॥५॥

मन्त्री प्राह--किं विधेयं ? राज्ञोक्तं--अनयोर्वडवयोर्मातापुत्रिकयोर्निर्णयं कुरु ? ततो मन्त्रिणा वडवायुगं सपर्याणं कारयित्वा बाह्याल्यामतिवाह्य पर्याणरहितं विधाय श्रान्तं सम्मोचितं । यया जिह्वया ऽन्यालीढा सा माता, पुत्री तु या मातुरधोमुखं चकार । ततो राजा हृष्टो मन्त्रिणं मानयामास ।

इति बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ॥ ४५५ ॥

[456] अथ बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ।

एकदा कोऽपि भूपो विचक्षणो नन्दपार्श्वे यष्टिकां पदकवृत्तां विचणीमयां सर्वत्र समां प्रपयामास ज्ञापयामास च । अस्या यष्टिकाया वज्रखचिताया आदि अन्तं ज्ञात्वा ज्ञापनीयं यदा केनापि न ज्ञातमादि अन्तं च । ततो राज्ञा शकटालस्याग्रे प्रोक्तं--त्वां विना न कोऽप्य-नयोर्निर्णयं करोति । ततो मन्त्री यष्टिकां जलेऽमुञ्चत् यतो मूलं तत् ईषज्जले मग्नं भारात् । ततो राजा हृष्टस्तं मानयामास । इति बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ॥४५६॥

[457] अथ बुद्धौ मन्त्रिपार्श्वभस्मप्रेषणसंबंधः ।

इलावत्यां पुरि धम्मिलो राजा वरममात्यं नवीनं सुशीलं चकार । केनचिदुक्तं । अयं मन्त्रीकृतोऽस्ति परं न ज्ञायतेऽस्य कीदृशी बुद्धिरस्ति । ततो राज्ञा मुद्रया मुद्रितं प्राभृतं भस्मच्छन्नं मन्त्रिणो ददे प्रोक्तं च—इदं प्रीतिप्राभृतं शत्रुमर्दनभूपाय देहि । ततः स तत्प्राभृतं लात्वा विदिशायां पुरि जगाम । राज्ञोऽग्रे प्राभृतं मुक्तं राजा तु उत्खिल्य भस्म दृष्ट्वा कालमुखो भूत्वा रुष्टः प्राह—रे मन्त्रिन् ! तव स्वामी ममेदृक्प्राभृतं प्रेषयति ? तव शिक्षा दास्यते । मन्त्री प्राह—स्वामिन् ! मम स्वामिनाऽश्वमेधो यज्ञः कारितो मङ्गलहेतु, तद्भस्म सर्वेषां सज्जनानां अभीष्टानां नृपाणामपि प्रेषयामास । तत एतद्भस्म मुद्रितं कृत्वा स्वामिनः प्रेषितं उक्तं च—

गजाः सन्ति हयाः सन्ति, विचित्राः सन्ति सम्पदः ।
तवाप्यस्ति ममाप्यस्ति, दुर्लभं भस्म यज्ञजम् ॥१॥

ततः स राजा तुष्टस्तं मन्त्रिणं तोषयामास, राज्ञा समं प्रीतिं चक्रे च ।

इति बुद्धौ मन्त्रिपार्श्वभस्मप्रेषणसम्बन्धः ॥४५७॥

[458] अथ बुद्धौ धूर्त्तद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे द्विजः श्रीधरः । तत्र चन्दनाह्वश्चर्मकारश्च तस्य पार्श्वे श्रीधरः उपानद्युगं कारयामास । चर्मकारोऽनिशं मूल्यं याचते । सदा विप्रो वदति त्वां हृष्टं करिष्यामि एवं वदति तस्मिन् बहुः कालो गतः । स विप्रोऽन्यदा धनार्थं चर्मकृता धृतः धनं विना न मुञ्चति सः ।

ततोऽन्यदा तत्रैव ग्रामपतेः सुतो जातः ततस्तं द्विजो भूपपार्श्वेऽनैषीत् प्राह च—मया पूर्वमुपानद्ग्रहणावसरे प्रोक्तं त्वां हृष्टं करिष्यामि । अद्य राज्ञः सुतो जातोऽस्ति त्वं 'रुलीयाइत' अथवा न, एतच्छ्रुत्वा चर्मकृद्ध्यौ यदि ब्रुवे अहं न 'रुलीयाइत' तदा राजा रुष्टो मां दण्डयति, तत उक्तं 'रुलीयाइत हूं हूओ' किं जल्प्यते अधिकं ? यदा पृष्टः ततोऽधिकजल्पने कोऽपि लाभो न, ततश्चर्मकृत्स्वगृहे गतः ।

इति बुद्धौ धूर्त्तद्विजसम्बन्धः ॥४५८॥

[459] अथ बुद्धौ भूपसम्बन्धः ।

विशालापुर्यां वणिग्भीमः तस्य पत्नीद्वयं तच्च वर्यं दृष्ट्वा एको धूर्त्तो देवीमाराध्य भीमरूपधरो भीमे ग्रामान्तरगते समेत्य तद्गृहमधिष्ठाय चावग् पत्न्यादीनां पुरः । अद्य मम स्वप्ने देवी प्राह—त्वं यदि जीवितमिच्छसि चिरं तर्हि धनं वितर । एवं प्राच्य प्रथमं द्वयोः पत्न्योर्भूषणादिवस्त्रादि ददौ । ततः परिजनो वस्त्रादिदानाद्गौरवितः, सर्वोऽपि परिच्छदो हृष्टः । इतो भीमो गृहे आगच्छन् शुश्राव, "भीमो दानी जातः सर्वं धनं धर्मादौ व्ययन् धनद इव

ख्यातोऽजनि सत्यभीमो दध्यौ केनचिदहं वञ्चितो मम रूपकरणात्। ततो यदा हट्टे आगतस्तदा तेन हक्कितो रे दुष्ट धूर्त्त ! अत्र यद्यागमिष्यसि तदा हत एव, गृहे प्रवेष्टुं न लभते । ततो दुःखी रुदन् वक्ति । अहं मुषितोऽस्मि । अनेन लोकास्तु सर्वे तेन भक्तिता धूर्त्तस्य पार्श्वे जाताः । ततो द्वावपि विवदमानौ भूपपार्श्वे गत्वा स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचतुः । द्वावपि सदृशौ सदृशजल्पकौ तेन यदा केनापि निर्णीतिर्न कृता तदा राजा दध्यौ, शिष्टपरिपालनं दुष्टनिग्रह इति राज्ञो धर्मः । यतः—

प्रजापीडनसन्तापात, समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान्, नादग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥१॥

एवं ध्यात्वा भूपस्तस्य पत्नीद्वयमेकत्र स्थापयित्वा पप्रच्छ, किं युवयोः पाणिग्रहे भर्त्रा किं जल्पितं ? किं दत्तं ? प्रथमं संगमे च । कस्मिन् स्थाने किं मुक्तं ? ततो राज्ञा द्वावपि पृष्टौ । यस्य प्रोक्तं विघटितं स गृहस्वामी जातः ।

एवं बुद्धौ भूपसम्बन्धः ॥ ४५९ ॥

[460] अथ आर्यनन्दिलसूरिसम्बन्धः ।

पद्मिनीखण्डपुरे वरदत्तेन वैरोट्या नाम्नी पुत्री पद्मयशसः पद्मपुत्राय दत्ता । वरदत्तो व्यवसायार्थं देशान्तरे गच्छन् दवेन दग्धः । ततो वैरोट्यां श्वश्रूरपमानयति पितृमरणात् । यतः—

रूपं रहो धनं तेजः, सौभाग्यं प्रभविष्णुता ।
प्रभावात्पैतृकादेव, नारीणां जायते ध्रुवम् ॥१॥

वैरोट्या चिन्तयति—स्व कर्मणा एव फलं भवति । यतः—

सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु अ, निमित्तं (च) परो होइ ॥२॥

वैरोट्याऽन्यदा योगीन्द्रस्वप्नसूचितं गर्भं बभार, पायसदोहदो जातः । श्वश्रूर्वक्ति सुता भविष्यति । वैरोट्या श्रीआर्यरक्षितं सूरिं वन्दितुं गता । सहविरोधः प्रोक्तः, गुरुणोक्तं पूर्वभवकर्मणा पायसदोहदात्पुत्रो भावी, श्वश्रा पुण्डरीकतपः कृतं । तस्योद्यापने पायसं कृतं, वध्वै न दत्तं, वधूस्तु अन्यत्र पायसं निष्पाद्य घटे क्षिप्त्वा कुम्भं मुक्त्वा जलाशये गता ।

अत्रान्तरे अलिञ्जरनागः स्वपत्नीदोहदपूरणाय क्षीरान्नं लात्वा गतः । इतो वैरोट्या तत्रागता क्षीरान्नमदृष्ट्वा न चुकोप बभाषे च—येनेदं भक्षितं मे भक्ष्यं तस्य मनोरथाः पूर्यन्तां एतद्वचोऽलिञ्जरपत्न्या ज्ञातं । ततो हृष्टाऽवग्—अस्या मनोरथः पूर्यते तदा वरं, ततस्तस्या

दोहदः पूर्णीचक्रे प्रातिवेश्मिकस्य स्त्रीपार्श्वात् । वैरोट्यानागपत्नीभ्यां पुत्रो जनितः । जन्मोत्सवोऽभूत् वैरोट्यापुत्रस्य नागदत्त इति नामाभूत् । वैरोट्यासुतस्य रक्षार्थं अलिञ्जरनागपत्नी सर्पान्मुमोच वैरोट्यायाः सदा सान्निध्यं चक्रे । अद्यप्रभृति यो वैरोट्यास्तुतिं करिष्यति तस्य कोऽपि सर्पादिजातिर्न दङ्क्ष्यति । ततो वैरोट्यास्तवं जानन् पद्मः प्रियापुत्रसहितो व्रतं जग्राह वैरोट्या मृता धरणेन्द्रपत्नी जाता । तत्रापि वैरोट्या नाम । ततः स्वस्मरण[पूर्वक]पार्श्वनाथभक्तस्य रक्षां चकार । नागदत्तस्य आर्यनन्दिलनामाभूत् सूरिश्च इति ।

इति आर्यनन्दिलसूरिसम्बन्धः ॥४६०॥

[461] अथ वायडग्रामजीवदेवसूरिलल्लश्राद्धदृष्टान्तः ।

जीवदेवसूरयो विहारं कुर्वाणा वायडपुरे समायाताः । इतः पूर्वं वायडपुरे लल्लश्रेष्ठी मिथ्यात्वी यज्ञं मण्डयामास । तत्र लक्षप्रमाणं व्ययितुं कल्पितमस्ति तेन ।

एकदा तस्मिन् यज्ञे कुण्डपार्श्वे महान्सर्पः पपात । द्विजाः प्रोचुरनेनापि आहुतिः क्रियते । स सर्पो नश्यन्नपि तैर्यष्टयोत्पाट्याग्निकुण्डे क्षिप्तः ज्वलितश्च, तदा लल्लेन ध्यातं दया चास्मिन् धर्मे नास्ति । ततो दयाधर्मं विलोकयन् तत्रागतं श्रीजीवदेवसूरिपार्श्वे ययौ, गुरुं वन्दित्वा धर्मोपदेशं शुश्राव—

राग़ी देवो दोसी देवो मामसुन्नंपि [पाणिसूदन्नपि] देवो,
मंसे धम्मो मज्जे धम्मो जीवहिंसाय धम्मो ।
रत्ता मत्ता कंता सत्ता जे गुरू तेवि पुज्जा,
हा हा कट्ठं पुट्ठो [पत्तो] लोओ अट्टं कुणंतो ॥१॥

ततो विप्रान् गुरुंस्त्यक्त्वा जीवदेवसूरिर्गुरोश्चारित्रं शुद्धं वीक्ष्य च हृष्टोऽभूल्लल्लः सम्यक्त्वमूलं धर्मं च जग्राह—भगवन् ! मया यज्ञे अर्धलक्षं व्ययितं, अर्धलक्षं तिष्ठति तत् क्व व्ययिष्यते ? गुरुभिर्जिनप्रासादः कार्यते । ततो निर्लोभतां गुरोर्दृष्ट्वा स प्राह—क्व प्रासादः कार्यते ? गुरुभिः प्रोक्तं अद्य द्वौ वृषौ प्राभृते आगमिष्यतस्तव, तौ तु स्वेच्छया मुच्येतां, यत्र तिष्ठतः तत्र प्रासादः कार्यः । तत्र भूमौ गुरुभिर्विलोक्योक्तं अत्राधो भूरिधनं विद्यते । ततस्तत्र भूमौ कान्यकुब्जभूपसुताया मृताया बहुधनं निर्गतं । ततस्तत्र महान् जिनप्रासादो द्वासप्ततिदेवकुलिकायुतः कारितः । द्विष्टैर्द्विजैरन्येद्युर्मुमूर्षुर्गौश्चैत्ये प्रभोः पुरः गर्भागारे रात्रौ क्षिप्ता, सा च मृता, श्राद्धैः सद्यो गुरोरग्रे विज्ञप्तं, गुरुभिः परकायप्रवेशविद्यया गौर्ब्रह्मभवने क्षिप्ता । यत्परस्य चिन्त्यते तत्स्वस्यायाति ब्राह्मणैर्जीवदेवसूरिचेष्टितं ज्ञातं । ततः सूरिपार्श्वे विज्ञप्तं गौर्यदि ढेढैः कृष्यते तदोड्डाहो भवति । ततः श्रीप्रभुभिस्तथा कार्यं यथा बहिर्निर्गच्छति । गुरुभिः प्रोक्तं—यद्यतो लल्लचैत्ये अस्मत्साधुश्राद्धेषु भक्तिः श्रावकैरिव क्रियते । तदा वो वचः क्रियते । सूरिपदप्रस्तावे हेमयज्ञोपवीतं यदि दत्थ सूरेश्च तत्सुखासनं च वहथ तदा गौः कृष्यते । ततस्तैस्तथा मानिते गौः कर्षिता ।

ततो वायडब्राह्मणाः श्राद्धा इव गुरौ भक्ता अभूवन् तत्सन्तानेऽपि च ।

इति वायडग्रामजीवदेवसूरिलल्लश्राद्धदृष्टान्तः ॥४६१॥

[462] अथ चमत्कारे जीवदेवसूरिसम्बन्धः ।

एकदा धर्मदेशनायां जीवदेवस्य सूरेर्दुष्टो योगी समागत्य स्वजिह्वया पर्यस्तिकां बध्वोपविष्टः सभ्यलोको भीतः । प्रभुभिः सः कीलितस्तथा यथाऽतीव वेदनाऽभूत् । ततः स वक्तुमशक्तस्तेन खटिकया भूमौ लिखितं—

उवयारहउवयारडो, सव्वो लोअ करेइ ।
अवगुण किद्धइ गुणकरइ, विरलओ जणणि जणेइ ॥१॥

अहं तव छलनायागां त्वयाऽहं ज्ञातः स्तम्भितश्च प्रसीद मयि, मां मुञ्च बन्धनात् । ततो गुरुभिः कृपया मुक्तः स च पुराद्बहिः मढिं कृत्वा योगी स्थितो दुष्टः । ततो गुरुभिरुक्तं साधुसाध्वीनां पुरः, यस्मिन् दिग्भागे योग्यस्ति तस्मिन्न गम्यं । तस्मिन् दिग्भागे कदाचित् साधवो गताः तेन छलिताः । ततो गुरुभिर्निविडं स्तम्भितस्तत्रस्थो यथा स्थानाच्चलितुं न शेके साधवः स्वस्थिताः कृताः, योगिनो दिनाष्टकं तत्र जातं बुभुक्षातृट्पीडितो गुरून् ज्ञापयामास मयातः परं भवदीयशिष्याणां श्राद्धानां किमपि अवर्यं न कार्यं, मां मुञ्च दृढवचः कृत्वा मुक्तः पादयोर्गुरोः पपात गुरूणां नवः शिष्य इवाभवत् ।

इति चमत्कारे जीवदेवसूरिसंबंधः ॥४६२॥

[634] अथ प्रासादपुण्ये विक्रमार्कनिम्बमन्त्रिसंबंधः ।

विक्रमादित्येन पृथिवीमनृणां कुर्वता निम्बश्रेष्ठी गूर्जरधरित्र्यां प्रेषितः, स च ग्रामे पुरे लोकाननृणीकुर्वन् धनदानाद्वायडग्रामे समागात् । श्रीजीवदेवसूरयो वन्दिताः उपदेशः श्रुतः, स च लल्लश्रेष्ठिकारितं महान्तं प्रासादं दृष्ट्वा दध्यौ—असौ श्रेष्ठी धन्यो येनायं प्रासादः कारितः एवं ध्यात्वा तेन वायडे श्रीजिनप्रासादो महान् कारितः । तत्र श्रीवीरप्रतिमायाः प्रतिष्ठां श्रीजीवसूरयश्चक्रुः ।

इतः स निम्बः स्वं पुण्यं श्लाघमानः स्वपुरे ययौ ।

इति प्रासादपुण्ये विक्रमार्कनिम्बमन्त्रिसम्बन्धः ॥४६३॥

[464] अथ श्रीजिनोन्नतिकारकश्रीआर्यखपटसंबंधः ।

आर्यखपटाचार्यशिष्यो महेन्द्रः वादे वृद्धकरं बौद्धं जिगाय । सर्वलोकैरपहसितो [बौद्धः] मृत्वा गुडशस्त्रपुरे यक्ष उत्पन्नः, तेन प्रासादः कारितः, स्वप्रतिमा स्थापिता च । स च यक्षः

प्राग्वैरात् जैनानुपद्रवति व्याधिवर्धनभयेन, धनहरणादिप्रकारैः । ततः श्राद्धैर्गुरवो विज्ञप्ताः, यक्षः श्रीसंघस्य पीडां करोति गुरवो यक्षायतने गताः । यक्षस्य कर्णयोरुपानहौ बवन्धुः । वक्षसि पादौ ददुः, लोका मिलिताः, राजाप्यागात्, राज्ञोक्तं—श्वेतवस्त्र ! उत्तिष्ठ यक्षस्याशातना न क्रियते स्तुतिरेव क्रियते भस्मीकरिष्यति त्वां, गुरुवस्तु शरीरमाच्छाद्य सुप्ताः राजा यत्र यत्रोद्घाटयति तत्र स्फुलिङ्गा निस्सरन्ति । ततो घातान दापयति । यदा तदान्तःपुरेषु लगन्ति पत्नीनां । ततोऽन्तःपुरे कोलाहलो जातः, 'मृता वयमिति' काऽप्यदृश्यो सारयति । ततो राजा सूरीणां पदोः पतित्वाऽवग्—प्रसन्नो भव ममापराधः क्षम्यतां, कृपां कुरु लोकेषु । ततोऽन्तःपुरेषु वेदना गता । गुरुभिः प्रोक्तं—यक्ष अत्रागच्छ । ततो यक्ष उत्थितः गुरुपादौ ननाम पादसंवाहनां करोति च जगौ- सर्पे कीटकोपरि कः कटकारम्भः ? गुरुभिः प्रोक्तं—अद्यप्रभृति जैनेषु द्वेषो न कार्यः । यक्षः प्राह—यथा हनूमति रक्षति शाकिन्यः पात्राणि न पराभवन्ति तथा त्वयि रक्षति जैनं कः पराभवति । तव भृत्योऽहं मुञ्च मां राजादयश्चसत्कृताः सूरिभक्ता जाता. सूरयः प्रासादान्निर्गता यक्षोऽपि पाषाणमूर्त्तिः गुरुपृष्टौ चचाल, द्वे दृषत्कुण्डिके सार्धं चलिते मूक्षमपदाश्चेलुश्च नगरद्वारे सर्वे विसर्जिता यक्षादयः स्वस्थाने ययुः जिनधर्मप्रभावनाख्यात्यर्थं कुण्डिके पुरद्वारे पतेते [स्थापिते] अधुनापि तथास्थिते स्तः ।

इति श्रीजिनोन्नतिकारकश्रीआर्यखपटसम्बन्धः ॥४६४॥

[465] अथ श्रीजिनशासनोन्नतौ आर्यखपटाचार्यसम्बन्धः ।

एकदा गुडशखपुरात् श्रीसूरयो यावच्चेलुस्तावत्तत्र साधुद्वयं भृगुकच्छादागतं, गुरवो वन्दिताः । साधुद्वयं प्राह-भगवन् ! श्रीपूज्यैर्युष्माभिर्भृगुपुराच्चलद्भिर्या कपरिका मुक्ताऽभूत् सा चन्द्रक्षुल्लकेन छोटयित्वा वाचिता आकृष्टिलब्धिस्तेन शिक्षिता, स च तया विद्यया इभ्यानां गृहात्सारां रसवतीमानीय भुङ्क्ते, तथाकुर्वन् श्रीसंघेन गच्छेन वारितोऽपि न तस्थौ, रसनेन्द्रियलोलुपो जातः । श्रीसंघेन घनं हक्किकतो बौद्धानां मिलितः । स च दुष्टः बौद्धानां पात्राणि मठात् खेन इभ्यानां श्राद्धानां गृहेषु प्रेषयति तानि भक्तभरितानि खे न आनयति । बौद्धान् भोजयामास सुखेन, तेन क्षुल्लः अतीव-मानितो, गौरवं वहन्ति बौद्धास्तस्मिन् । तस्य शिक्षा यदि दीयते तदा वरं । ततो गुरवो भृगुपरं जग्मुः, प्रच्छन्नं स्थिताः यदा बौद्धानां पात्राणि अन्नपूर्णानि आगच्छन्ति, शिलाकर्कराक्षेपात् आचार्यः बभञ्ज, तदा शोलिमण्डकादि[दयः] राजमार्गादौ पतन्ति । तदा लोकाः कलकलं कुर्वन्ति बौद्धा बुभुक्षापीडिताः जगुः कोऽस्मदीयानि पात्राणि भनक्ति । ततः क्षुल्लको गुर्वागमनं ज्ञात्वा भीतो नष्टः सन्नन्यदा गुरुगुणैरावर्जितः सः क्षुल्लकोऽभ्येत्य गुरून् वंदित्वा क्षमयामास, आचष्ट चाद्य प्रभृति मया गुरूणां वचो माननीयं सूरयः ससंघाः बौद्धानां प्रासादमागमन् बुद्धस्य उपलमूर्त्तिः संमुखमुपस्थिता "जयजय महर्षिकुलशेखर" इत्यादि स्तुतिं चक्रे गुरोः । ततो बौद्धा अपि प्रबुद्धाः ।

इति जिनशासनोन्नतौ आर्यखपटाचार्यसम्बन्धः ॥४६५॥

[466] अथ जिनोन्नतिचमत्कारे महेन्द्रोपाध्यायसम्बन्धः ।

पाटलीपुरपत्तने दाहडो भूपो विप्रभक्तो यतीनाकार्याचष्ट विप्रान्नमत । यतयः प्रोचुः— एते तु गृहस्थाः वयं तु निर्ग्रन्थाः तेनास्माभिर्गृहस्था न वन्द्यन्ते । राज्ञोक्तं—यदि न नमस्यन्ते विप्राः तदा महेशे न स्थेयं । यदि स्थास्यते तदा शिरांसि च छेत्स्यन्ते । ततो जैनयतिभिः सप्तदिना याचिता अत्रान्तरे तत्र श्रीआर्यखपटसूरिशिष्यः उपाध्यायो महेन्द्रनामा भृगुपुरादायचौ । स च यतिभिर्वन्दितः स्वं दुःखं प्रकाशितं यतिभिः, उपाध्यायेन संधीरिताः,

प्रातः श्रीउपाध्यायो दाहडराजस्य सभायां गतः । राज्ञोक्तं—प्रणमत ब्राह्मणानां नो चेद्भवतां शिर्षाणि छेत्स्यन्ते । उपाध्यायोऽवग्—राजन ! एते गृहस्थाः सपरिग्रहाः वयं निष्परिग्रहाः अत एवं न प्रोच्यते जिह्वा त्रुटति । तदा राज्ञोक्तं—भो सेवकाः ! अस्य निग्रहः क्रियते । तत उपाध्यायो हस्ते रक्तकणवीरकंबां लात्वोच्चैः कृत्वा सभायां फेरिता प्रोक्तं च केषां नमस्कारः करिष्यते ? ततो राजानं विना सर्वेषां विप्रादीना मस्तकानि भूमौ पेतुः उपाध्यायेनोक्तं—यदेतेषां कृतं तत्तवापि करोमि नवा ? ततो राजोत्थायोपाध्यायपादयोः पतित्वा भीतः प्राह—भगवन् ! प्रसन्नो भवतु परमेवमपराधं न करिष्यामि । ततो महेन्द्र उवाच—

कः कण्ठीरवकण्ठकेसरसटाभारं स्पृशत्यंह्रिणा,
कः कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं काङ्क्षति ।
कः सन्नह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसं श्रिये,
यः श्वेताम्बरशासनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम् ॥१॥

श्रुत्वैतद्राजाऽवग्—अहमतस्ते सेवकोऽस्मि मम चैतेषां जीवितं देहि । एते विप्रादयः सर्वे भवन्तं नमस्यन्ति । ततो महेन्द्रोपाध्यायेन धवलकणवीरकम्बा तेषामुपरि वाहिता. सर्वे समस्तका उत्थिताः ततो राज्ञोक्ता विप्रादयः सर्वे [सर्वान्] यतीन्नमन्ति स्म राजा श्राद्धोऽभूत् ।

इति जिनोन्नतिचमत्कारे महेन्द्रोपाध्यायसम्बन्धः ॥४६६॥

[467] अथ अतिशये श्रीपादलिप्तसूरिसंबंधः ।

गुरुदत्तविद्यया प्राप्तसूरिपदः पादलिप्तसूरिर्दशवर्षीयः शत्रुञ्जयोज्जयन्तार्बुदतीर्थसमेतशिखराष्टापदतीर्थेषु देवान्नत्वा जिमति स्म ।

एकदा सूरिः पाटलिपुरे गतः । तत्र गरुडो (मरुंडो) नाम राजा षण्मासीं यावच्छिरोर्त्या पीडितः । ततः प्राणांस्त्यक्तुमिच्छति एकैर्मन्त्रतन्त्रयन्त्रैरनेकैः पुरुषैः कृतेऽप्युपचारे न निवर्त्तिता शिरोर्त्तिः । ततो मन्त्रिणः प्रेष्य सूरीनागतान् श्रुत्वाऽकारयामास [ततः सूरीन् आह्वनाय राजामन्त्रिणं प्रेष्य, आगतांश्च तान् श्रुत्वाप्रवेशं कारयामास] राजा प्राह—भगवन् ! प्रसन्नीभूय दुःसाध्या शिरोर्त्ति निर्वर्त्यतां, कीर्त्ति-धर्मौ संचयेतां । ततः सूरिः कृपासागरः शिरोर्त्ति भूपस्येत्यपाचकारा—

जह जह पएसिउं जाणुअंमि[सि], पालित्तउ भमाडेइ ।
तह तह से सिरवेअणा, पणस्सइ मरुण्डरायस्स ॥१॥

प्रीतो राजा स वृत्तोत्सवः पादलिप्तसूरिं गुरुं चक्रे ।

इति अतिशये श्रीपादलिप्तसूरिसम्बन्धः ॥४६७॥

[468] अथ विनये पादलिप्तसूरिसाधुसम्बन्धः ।

एकदा श्रीगुरुभिः प्रोक्तं विनीताः साधवो यदुच्यते तत्कुर्वन्त्येव, राजा प्राह—राजकुले हि विनयो विद्यते । ततः सूरयो जगुः—यस्तव परमभक्तोऽस्ति स आकार्यतां । इदं च तस्मै कथ्यतां गत्वा विलोकय "गङ्गा किं पूर्ववाहिनी पश्चिमवाहिनी वा ?" ततो राज्ञा भक्तो राजपुरुषो गङ्गाप्रवाहवहनदिग्विलोकनाय प्रेषितः । स च यत्र तत्र भ्रमित्वा पश्चादागतः भूपेनोक्तं गङ्गा पूर्ववाहिनी वा पश्चिमवाहिनी वा, स प्राह—आबालगोपाला जानन्ति गङ्गा पूर्ववाहिनी । गुरुभिः प्रोक्तं—राजन् ! राजकुले ईदृग्विनयो विद्यते, गुरुप्रेषिताः साधवः गङ्गातटे गत्वा काष्ठप्रान्ते ध्वजं बन्धयित्वा सम्यग्गङ्गाप्रवाहवहनं विलोकयामासुः । ततः पश्चादागताः साधवः प्रोचुः—भगवन् ! अस्माभिर्गङ्गायां गत्वा प्रवाहो विलोकितः पूर्ववाहिनी गङ्गा ज्ञाता । ततो राजोत्थाय साधून्नत्वा प्राह—धन्यं मतं यत्रेदृक्षा गुरुभक्ताः साधवो भवन्ति उक्तं च—

निवपुच्छीएण गुरुणा, भणिओ गंगा कओ मुही वहइ ।
संपाइयं च सीसो जह, तह सव्वत्थ कायव्वं ॥१॥

इति विनये पादलिप्तसूरिसाधुसम्बन्धः ॥४६८॥

[469] अथ उचितजल्पने श्रीपादलिप्तसूरिसम्बन्धः ।

एकदा गुरौ अन्यत्र गते लघ्ववस्थायां पादलिप्तसूरिः साधुषु गोचरचर्यायां गतेषु बालैः सह क्रीडति, द्रुतं श्राद्धानागताञ्ज्ञात्वा आकारं संवृत्योपविष्टाः उपदेशो दत्तः । ततस्तेषु श्राद्धेषु गतेषु पुनरवरकमध्ये खेलति यावता तावता केऽपि वादिनो विज्ञं ज्ञात्वा वादं कर्तुं समाययुः तैर्विजनं मत्वा "कुकुडुकूकू" इति शब्दः कृतः सूरिणा तु वादिनश्चागतान् ज्ञात्वा "म्याऊं म्याऊं" बिडालशब्दः कृतः । ततस्तैर्वादिभिस्तस्य विद्वत्त्व ज्ञात्वाऽवसरज्ञत्वं च, पदयोस्तस्य पेतुः प्रोचुश्च चिरंजीव बालभारति ! ततो गोष्ठी मण्डिता तैः—

पालित्तय ! कहसु फुडं सयलं मंडलं भमंतेण ।
दिट्ठं सुयं च कत्थय ! चंदणरससीयलो अग्गी ॥१॥

प्रभुणोक्तं— अयसाभियोगसंदूमियस्स पुरिसस्स सुद्धहिअस्स ।
होइ वहंतस्स दुहं, चंदणरससीयलो अग्गी ॥२॥

ततस्ते प्रोचुः त्वं साक्षादेवामरगुरुः ब्राह्मी ।

इत्युचितजल्पने श्रीपादलिप्तसूरिसंबंधः ॥४६९॥

[470] अथ प्रगल्भतायां पादलिप्तसूरिसम्बन्धः ।

एकदा श्रीपादलिप्तसूरयः कुर्चालसरस्वत्यादिविरुदधारिणः प्रतिष्ठानपुर्यां महोत्सवपूर्वं समागच्छन्ति ।

इतः सर्वैः पण्डितैः सम्भूयैकत्र स्त्यानघृतभृतं कच्चोलकमाचार्याणां सन्मुखं प्रेषितं आचार्यैस्तु घृतमध्ये सूचिका क्षिप्ता तथैव पश्चात्प्रेषितं । ततः राज्ञोक्तं गुरुभिरिदं कृतं, को भावः, पंडितैरुक्तं—गुरुभिर्ज्ञापितं पण्डितैर्भृतं पुरं विद्यते तथापि यथा सूचिर्घृतमध्ये प्रविष्टा तथाहमपि प्रवेक्ष्यामि पुर्यां । ततो राजादयो विप्राश्च संमुखं गताः सूत्सवे जायमाने गुरवो धर्मशालायामागता उपदेशो दत्तः श्रीपादलिप्ताचार्यैर्निर्वाणकलिकप्रश्नप्रकाशादिशास्त्राणि निर्मितानि राजा रञ्जितः । इति प्रगल्भतायां पादलिप्तसूरिसम्बन्धः ॥४७०॥

[471] अथ वृद्धवादिसूरिपदसम्बन्धः ।

स्कन्दिलाचार्योपान्ते वृद्धत्वेऽपि चारित्रं जग्राह मुकुन्दद्विजः, स च गुरुभिः सह भृगुपुरे गतः उच्चैः स्वरं ढढस्वरं [ढढनरस्वरेण] भणति राज्ञा साधुभिश्चोक्तं—किं मुशलं पुष्पयिष्यति स चावग्—यदि विद्याः समेष्यन्ति तदा [पुष्पयिष्यते] पुष्पते । ततः खिन्नो विद्यार्थी ब्राह्मीदेव्या अग्रे एकविंशतिमुपवासांश्चक्रे सा प्रसन्ना प्राह—सर्वविद्यासिद्धो भव तपसाऽहं तुष्टा तुभ्यं, सर्वविद्यापारगः स राजादीनां पुरो जगौ-यन्ममोपहासः कृतः 'मुशलं पुष्पयिष्यसो'[तो]त्यादिना । ततो राजादिबहुषु लोकेषु मिलितेषु मुशलमानाय्य चतुष्पथे स्थित्वा विद्यया मुशलं पुष्पयामास । तस्य पृष्टौ स्थित्वा प्रोवाचेति—

[प्र[तप्त]कम्पो [पत्तमवलंबिअं] मुद्गो शृङ्गं शक्रयष्टिप्रमाणं ।]

अप्रतिमल्लोवादीह जो जंपइ फुल्लमुसलमिह ।
तमहं निराकरित्ता फुल्लइ, मुसलं ति ठावेमि ॥२॥

तथा च— शीतो वह्निर्मारुतो निष्प्रकम्पो, मुद्गा शृङ्गं शक्रमुष्टि[यष्टि]प्रमाणम् ।
यस्मै यद्वा रोचते तन्न किंचित्, वृद्धो वादी भाषते कः किमाह ? ॥३॥

अप्रतिमल्लो वादी जातो मुकुन्दमुनिः । ततः सूरिभिः स्वपदं दत्तं वृद्धवादीति नाम जातम । इति वृद्धवादिसूरिसम्बन्धः ॥४७१॥

[472] अथ सिद्धसेनसूरिवाददीक्षासूरिपदसम्बन्धः ।

एकदा देवर्षिद्विजपुत्रो देविकामातृभवः सिद्धसेनो विप्रो महाविद्यापारगो विजितानेकवादी वृद्धवादिसूरिस्फुर्त्ति श्रुत्वा सुखासनारूढोऽनेकच्छात्रपरिवृतो गुरुं जेतुं भृगुपुरं प्रति चचाल मार्गे गुरवो मिलिताः परस्परमालापः सिद्धसेनोऽवग्--त्वं वादं देहि सूरिः प्राह—ददामि शीघ्रं परमत्र के सभ्याः वादे जिताजितादिविषये को निर्णयं करिष्यति ? सिद्धसेनोऽवग्—एते गोपाः सभ्याः वृद्धवादिनोक्तं—तर्हि ब्रूहि । ततः सिद्धसेनः संस्कृततर्कच्छन्दोलङ्कारादि जल्पितुं लग्नः यदा जल्पं जल्पं स्थितस्तदा गोपैरुक्तमस्य प्रोक्तं किमपि न ज्ञायते । तेनासौ किमपि न वेत्ति उच्चैर्जल्पता कर्णाः स्फोटिताः । ततो वृद्धवादी कच्छडकं बन्धयित्वा घींघणीछन्दसा कीडति, तथाहि—

नवि मारीइ नवि चोरीइ परदारह गमण निवारीइ ।
थोवा थोवडं दाईइ डुगडुगि सरगिहिं जाईइ ॥१॥

पुनरपि प्रोच्यैवं नृत्यति पठति च—

[तू]कालु कंबल अनइनीचडु छासिहिं भरीओ दुईओ निष्पदु ।
अइवडपडिओ नीकलइ[सा]डाडि, अवरकिसर[सग]गह सिंगनिलाडि ॥२॥

ततो गोपा प्रोचुः—अयं वयः सर्वज्ञः अहो कीदृक्कर्णसुखकारि वचः । ततः सिद्धसेनः स्वं हारितं मत्वा प्राह—भगवन् ! प्रव्राजय मां तव शिष्योऽहं त्वया अवसरो ज्ञातो मया तु न । अथ वादी आह--भृगुपुरे गम्यते तत्र भूपाग्रे वादः करिष्यते । तत्र ज्ञास्यते को विज्ञ इति ततस्तत्र गतौ । तत्रापि सूरिणा जितः सिद्धसेनो दीक्षां जग्राह-यत्र वादो जातः तत्र तालरसग्रामो राज्ञा वासितः सिद्धसेनस्य कुमुदचन्द्र इति गुरुभिर्नाम ददे दत्तं सूरिपदं क्रमात् सिद्धसेनदिवाकर इत्यपि नाम जातम् ।

इति सिद्धसेनसूरिवाददीक्षासूरिपदसम्बन्धः ॥४७२॥

[473] अथ प्राप्तसर्षपविद्याश्रीसिद्धसेनदिवाकरसम्बन्धः ।

एकदा सिद्धसेनसूरिश्चित्रकूटे प्राप्तः । तत्र चिरन्तनचैत्ये स्तम्भमेकं महान्तं दृष्ट्वा कंचित् पुरुषं प्रपच्छ कोऽयं स्तम्भो महान् किमत्रास्ति ? तेनोक्तं--पूर्वाचार्यैरस्य स्तम्भस्य मध्ये पुस्तकानि न्यस्तानि सन्ति स्तम्भस्तु तत्तदौषधमयो जलादिभिरभेद्योऽस्ति । ततः सूरिस्तस्य स्तम्भस्य गन्धं गृहीत्वा प्रत्यौषधरसैः स्तम्भमाच्छोटयामास। ततः प्रातरम्बुजवद्विकसितः मध्ये पुस्तकाः[नि] दृष्टाः[नि] । तत्रैकं छोटयित्वा वाचयन्नाद्ये पत्रे द्वे विद्ये दृष्टे एका सर्षपविद्या यया अभिमन्त्रिताः

सषपा यावन्तो जले क्षिप्यन्ते तावन्तो अश्ववारावर्यपल्ययन[मळ]कवि, कजरहगुडि[ह्रांग]रक्षिकाटोपखड्गासिपुत्रीप्रमुखद्विचत्वारिंशदुपकरणसहिता निस्सरन्ति । ततः परबलं जेष्यते सुभटाः सिद्धे कार्ये अदृश्यीभवन्ति । द्वितीया हेमविद्या यया क्लेशं विना शुद्धहेमकोटी निष्पाद्यते येन तेन धातुना ततस्ते द्वे विद्ये गृहीते सूरिणा ततो यावदग्रे पाचयति तावत्स्तंभो मिलितः खे वागभूत् पुस्तकमपि मध्ये स्थितं "अयोग्योऽसि ईदृशीनां विद्यानां प्रयासः पुनर्न कार्यः" ततः सिद्धसेनसूरिर्विद्याद्वयं प्राप्य सन्तोषं चकार ।

इति प्राप्तसर्षपविद्याहेमविद्याश्रीसिद्धसेनदिवाकरसम्बन्धः ॥४७३॥

[474] अथ नवीनकटकनिर्माणविद्यासम्बन्धगर्भा सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ।

एकदा कुर्मारपुरे श्रीसिद्धसेनसूरिर्ययौ । तत्र देवपालराजो गुरुं वन्दितुमाययौ धर्मोपदेशं शुश्राव । तत्र परस्परं गोष्ठी सदा गुरुभूपयोः प्रवर्त्तते ।

एकदा गुरुर्विज्ञप्तो रहसि राज्ञा—भगवन् ! वयं संकटे पतिताःस्म । गुरुः पप्रच्छ किं संकटं तवास्ति ? राजा जगौ सीमालभूपाः मम राज्यं जिघृक्षया आगच्छन्तः श्रुताः, श्रीप्रभुपार्श्वे विद्या श्रूयते यदि यूयं कृपां मयि कुरुथ ? तदा राज्यं तिष्ठते। सूरिराचष्ट-चिन्ता न कार्या, तव यद्यहं गुरुरभूवं, राजा हृष्टः क्रमात्परचक्रं समायातं। विद्यया प्रथमया सेना रचिता, द्वतीयया हेम च, ततो युद्धे जायमाने वैरिबलं भग्नं। ततो जयजयारावोऽजनि। ततो राजा भक्तोऽभूत् ततो गुरुणा जैनः कृतः ततस्तेन राज्ञाऽनेके जिनागाराः कारिताः ।

इति नवीनकटकनिर्माणविद्यासम्बन्धगर्भा सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ॥४७४॥

[475] अथ प्रमादत्यागे सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ।

क्रमात्सिद्धसेनसूरिः संयमशिथिलोऽजनि, वेलायां प्रतिक्रमणादिक्रियां न करोति, अनेके राजानः एवायान्ति श्रावकाः श्राविका धर्मशालायां प्रवेशमपि न लभन्ते वेषमात्रधारी जातः । यतः—

दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जंति गिहत्थकिच्चाइं ।
अजया पडिसेवंती, जइ वेसविडंबगा नवरं ॥१॥

ततः सिद्धसेनसूरिः सुखासनारूढश्चलति । इतो गुरुणा सिद्धसेनप्रमादस्वरूपं ज्ञातं। ततो गुरुर्वेषान्तरं कृत्वा सिद्धसेनसुखासनं स्कन्धे चकार वर्त्मनि सिद्धसेनो बभाषे—

"भूरिभारभराक्रान्तः, स्कन्धः किं तव बाधति !"

वृद्धवादी जगौ—

"न तथा बाधते स्कन्धो, यथा बाधति बाधते" ॥२॥

ततो ज्ञातं तेन मम गुरुं विना ममोक्तौ कोऽपि कूटं न कर्षति। एवं ध्यात्वा आसनादुत्तीर्य गुरुमुखमुपलक्ष्य पादौ पपात क्षमयामासापराधं । ततो गुरुभिः प्रोक्तं—

चउदसपुव्वी आहारगा, विमलनाणी विअरागावि ।
हुंति पमायपरवसा, तयणंतरमेव चउगईआ ॥३॥

प्रमादः परमद्वेषी, प्रमादः परमं विषम् ।
प्रमादो मुक्तिपूर्दस्युः, प्रमादो नरकायनम् ॥४॥

ततः प्रमादं मुक्त्वा गुरुपार्श्वे आलोचनां लात्वा शुद्धचारित्रपालनपरोऽभूत् ।

इति प्रमादत्यागे सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ॥४७५॥

[476] अथ अवन्तिसुकुमालस्वरूपम् ।

अवन्त्यां भद्रश्रेष्ठी भद्रापत्नीभवोऽवन्तीसुकुमालः पुत्रो द्वात्रिंशदिभ्यपुत्रीः परिणिन्ये महासौख्यात् शालिभद्रावतारः । एकदा तत्र आर्यसुहस्तिसूरिर्दशपूर्वधरः आगत्य भद्रश्रेष्ठिगृहे स्थितः। अनेकश्राद्धाः धर्मं श्रुत्वा पुण्यं कुर्वन्ति स्म। रात्रौ मधुरस्वरं नलिनीगुल्मविमानाख्यमध्ययनं गुरुभिर्गण्यमानं श्रुत्वोहापोहपरः प्राप्तजातिस्मृतिरवन्तिसुकुमालो दध्यौ। तत्र विमाने यत्सुखं विद्यते। ततोऽत्र कोटिभागेऽपि नास्ति ततस्तत्र गम्यते तदा वरं। ततो गुरुपार्श्वे गतः पृष्टं भगवन् ! किं यूयं नलिनीगुल्मविमानादत्रायातः यतस्तत्स्वरूपमुच्यमानमस्ति। गुरुः प्राह–सिद्धांतं गण्यमानमस्ति। स प्राह–तत्र त्वरितं कथं गम्यते! गुरुणोक्तं—चारित्रात् ! स प्राह—चारित्रं ग्राह्य। गुरुः प्राह—तव मात्राद्यनुमत्या दीक्षा भवति । ततः स्वयं चारित्रं गृहीत्वा श्मशानभूमौ कार्योत्सर्गे स्थितः । तदा पश्चाद्भवसम्बन्धिपत्नीशिवाया उपसर्गं सहमानो मृत्वा तत्र विमाने देवोऽभूत्, प्रातर्मात्राद्याः पुत्रस्वरूपं ज्ञात्वा दुःखिनो जाताः। ततो गुरुभिर्नलिनीगुल्मविमानस्वरूपं प्रोक्तं। ततस्तस्य मृत्युस्थाने महाकालाभिधः श्रीपार्श्वनाथप्रासादः कारितः प्रभोः प्रतिमा स्थापिता । इति अवन्तीसुकुमालस्वरूपम् ॥४७६॥

इति श्रीतपागच्छाधीश *श्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य–श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य* पं० *शुभशीलगणि*विरचितपञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे–

॥ तृतीयोऽधिकारः समाप्तः ॥

चतुर्थोऽधिकारः

[477] अथ ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ।

अन्येद्युः सिद्धसेनदिवाकरः ॐकारनगरप्राप्तः गुरुभिर्धर्मोपदेशो ददे श्राद्धानां। श्राद्धैर्विज्ञप्तं— भगवन् ! भरटका राजप्रासादमदमत्ता जैनं प्रासादं कारयितुं न ददते, तथा क्रियताम् यथात्र जैनप्रासादो भवति । ततः श्रीसिद्धसेनो हस्तन्यस्तचतुःश्लोको विक्रमादित्यभूपगृहस्य प्रतोल्यां गतः । ततो द्वारपालो भूपपार्श्वे गत्वा प्राह—

भिक्षुर्दिदृक्षुरायात-स्तिष्ठति द्वारि वारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः, किंवागच्छतु गच्छतु ? ॥१॥

ततो राज्ञा प्रतिश्लोकः प्रेषितश्चमत्कृतेन—

दीयतां दशलक्षाणि, शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः, किंवागच्छतु गच्छतु ॥२॥

ततो मध्ये गतः सूरिः श्लोकचतुष्टयं यदा चतुर्षु दिक्षु पपाठ । तदा राजा तुष्टः ते चैते श्लोकाः—

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः ।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणो याति दिगन्तरम् ॥३॥

सरस्वती स्थिता चक्रे [वक्त्रे] लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्त्तिः किं कुपिता राजन् ! येन देशान्तरे गता ? ॥४॥

कीर्त्तिस्ते जातजाड्येव, चतुरम्भोधिमज्जनात् ।
आतपाय धरानाथ, गता मार्त्तण्डमण्डलम् ॥५॥

सर्वदा सर्वदोऽसीति, मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्टं, न वक्षः परयोषितः ॥६॥

श्रुत्वा राजा तुष्टो जगौ—चतुर्दिग्राज्यं गृहाण । गुरुः प्राह—अस्माकं निर्ग्रन्थानां राज्येन किं कार्यं ? ततो भूपोऽवग्—यदन्यद्विलोक्यते तन्मार्गय । गुरुः प्राह—

"ॐकारनगरे चतुर्द्वारं जिनप्रासादं शिवप्रासादादुच्चं कारय, तत्र पार्श्वप्रतिमां प्रतिष्ठा. ततो राजा सिद्धसेनप्रोक्तमचीकरत् ।

इति ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ॥ ४७७ ॥

[478] अथ नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ।

एकदा सिद्धसेनदिवाकरः श्रीविक्रमादित्यभूपस्याग्रे दानधर्मोपदेशं ददावेवं—

श्रीनाभेयजिनेश्वरो धनभवे श्रेयःश्रियामाश्रयः,
श्रेयांसः स च मूलदेवनृपतिः सा नन्दना चन्दना ।
धन्योऽयं कृतपुण्यकः शुभमनाः श्रीशालिभद्रादयः,
सर्वेऽप्युत्तमदानदानविधिना जाता जगद्विश्रुताः ॥१॥

कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं, जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेयं महात्मनाम् ॥२॥

न कयं दीणुद्धरणं, न कयं साहम्मिआण वच्छलं ।
हिययंमि वीयरायो, न धारिओ हारिओ जम्मो ॥३॥

तीर्थङ्कराः पृथिवीमनृणीं कृत्वा दीक्षां गृह्णन्ति, तथाहि—

एगा हिरण्णकोडि, अट्ठेवय अणूणगा सयसहसा ।
सूरोदयमाईअं, दिज्जइ जापाउरासाओ ॥ ४ ॥

तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीअं च हुंति कोडीओ ।
असीइं सयसहस्सा, एयं, संवच्छरे दिन्नं ॥५॥

अधः क्षिपन्ति कृपणा, वित्तं तत्र यियासवः ।
सन्तस्तु गुरुचैत्यादौ, तदुच्चैः फलकाङ्क्षिणः ॥६॥

इत्यादि व्याख्यानं श्रुत्वा विक्रमादित्यराजा जगौ—भगवन् ! मम गृहे स्वर्णपुरुषः विद्यते । ततो दिने दिने बहु हेम लभ्यते । तेन मम पृथिवीमनृणीकर्त्तुमिच्छाऽस्ति । गुरुः प्रोक्तं—न भाग्यं विना धर्मं कर्त्तुं मनोरथो भवति सम्पूर्णो भवति च । यतः—

भवन्ति भूरिभिर्भाग्ये-र्धर्मकर्ममनोरथाः ।
यत्पुनस्ते फलन्त्येव, तत्सुवर्णस्य सौरभम् ॥७॥

श्रुत्वेति राजा ग्रामे पुरे स्वसेवकान् प्रेष्य मुखमार्गितं धनं दायं दायं पृथिवीमनृणीं चकार । ततस्तस्य संवत्सरो टिप्पणके शास्त्रेषु लिखितो बुधैः ।

इति नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ॥४७८॥

[479] अथ शत्रुंजयतीर्थवालने मल्लवादिसम्बन्धः ।

खेटपुरे देवादित्यद्विजस्य सुभगा पुत्री विधवाऽभूत् कस्मादपि गुरोः सौरं मन्त्रं प्राप तदा सौरो मन्त्रो ध्यातः । ततः सूर्योऽभेत्य भुक्तवान्, सगर्भाऽभूत् तां तादृशीं दृष्ट्वा मातृपितृभिर्हक्किता । सा च सूर्यागमनं प्राह—तथापि मात्रादिभिर्न मानितं कर्षिता । सा च वलभीं पुरीं गता काले तया पुत्रपुत्र्यौ जनिते, क्रमाद्ववर्धते लेखशालिकैरपुत्रक इति प्रोक्ते मातरं स पप्रच्छ मम कः पिता माताऽवग्—सूर्यस्ते पिता ध्यातस्तेन सोऽभेत्य तस्मै पुत्राय कर्करं ददौ प्राह च यस्ते पराभवं करोति सोऽनेन कर्करेण हतो मर्त्ता, स च कर्करः पश्चात्तवान्तिकं समेष्यति । ततः स पराभवकर्त्तारं तेन हन्ति । ततः स वालवधकारकः श्रुतो वलभीशेन । ततः स भूपेन पराभूतः । ततस्तं स हत्वा राजाऽभूत् तस्य शिलादित्यनामाऽभूत् । ततः शिलादित्य स्वां भगिनीं भृगुपुरे भूपाय ददौ, तया च सुतोऽसावि सुदिने इतः शिलादित्यो बोद्धैः स्वधर्मः ग्राहितः, श्रीशत्रुंजयं तीर्थं बौद्धा आत्मीयं चक्रे । इतः शिलादित्यभगिनी भर्त्तरि मृते सपुत्रा सुहस्तिसूरिपार्श्वे चारित्रं जग्राह । स च बालकोऽष्टवर्षीयः सामाचारी कुशलो विनीतोऽभूत् प्राज्ञश्चाभवत् । एकदा मातरं पप्रच्छ अल्पः श्रीसंघः कथं ? माताऽवग्—श्वेताम्बरा देशात्कर्षिताः शिलादित्यभूपो वलभीपुरीस्वामी बौद्धः कृतः शत्रुंजयतीर्थमपि गृहीतं तैः, पूर्वं संघो वहुरभूत् स च शिलादित्यभूपस्तव मातुलोऽस्ति इति श्रुत्वा वालः कुपितोऽम्बादेवीमाराध्य वहुविद्यावान् मल्लगिरौ तपश्चक्रे कतिपयदिनैः शासनदेवी प्रसन्नाऽभूत् प्राह च के मिष्टाः, सोऽवग् मम वल्लाः ततस्तया ध्यातमयं तपस्वी नीरसाहार पाचनात् । ततः पुस्तकं दत्वा देव्योचे अमुं पुस्तकं वाचय सर्वान्वैरिणो जेष्यसि । ततो मल्लवादीति त्वं नाम्नाऽस्याः । ततः स प्राप्तविद्यो वल्लभ्यां समेत्य बौद्धान् विजित्य शिलादित्यं भूपं प्रबोध्य श्रीशत्रुंजयं तीर्थं वालयामास बौद्धा देशान्निष्काशिताः । ततो गुरुभिः सूरिपदं ददे तस्य [तस्मै] । इति शत्रुञ्जयतीर्थवालने मल्लवादिसंबंधः ॥४७९॥

[480] अथ हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ।

चित्रकूटे हरिभद्रो विप्रश्चतुर्दशविद्याविशारदः सर्वशास्त्रार्थं विन्दते । ततः प्रतिज्ञां चक्रे—यस्योक्तस्यार्थं न जाने तस्याहं शिष्यो भवामि । एकदा स रात्रौ पुरमध्ये व्रजन् साध्व्युपाश्रयान्ते गतः । तदा साध्वी श्रीआवश्यकगाथां जगौ—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसिअचक्की अ ॥१॥

अस्या अर्थमजानन् विप्रः प्राह—महासति ! 'चक्कि-चक्कि' इति किं प्रोच्यते ? तयोक्तं नवीनं लिप्तं चिक्कचिक्कायते ततो ध्यातं तेनाहमनया जितः गाथार्थाज्ञानादस्याः शिष्योऽस्मि। ततः पृष्टं कोऽर्थोऽस्याः साऽवग्—अस्माकं गृहस्थस्याग्रे रात्रावर्थो न प्रोच्यते गुरवः कथयिष्यन्ति तेनोक्तं क्व सन्ति ? गुरवः, तयोक्तं उपाश्रये सन्ति जिनागारोपान्ते। ततो देवगृहे गतः देवं दृष्ट्वा नमस्कारान् प्राह—

वपुरेव तवाचष्टे, भगवन् ! वीतरागताम् ।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाद्वलः ॥१॥

जं दिट्ठि करुणातरंगिय पुडा एयस्स सोमं मुहं,
आयारो पसमायरो परियरो संतो पसन्नातणू ।
[तं मन्ने] तन्नूणं जरजम्ममधुहरणो देवाहिदेवो [जिणो] इमो,
देवाणं अवराण दीसइ जओ नेयं सरूवं इमं ॥२॥

ततो देवान्नमस्कृत्य सूरिपार्श्वे गतः गुरुं नत्वा गाथाया अर्थं पप्रच्छ। गुरुणा गाथार्थो व्याख्यातः इति—

अस्यां चतुर्विंशतौ प्रथमं भरतसगरौ जातौ चक्किदुगं[२] । हरिपणगं—तिविटू[१] द्विविटू[२] सयंभु[३] पुरुषोत्तम[४] पुरुषसिंहः[५]। पणगं चक्कीण—मघवा[१] सनत्कुमार[२] शान्तिनाथ[३] कुंथुनाथ[४] अरनाथ[५] । केशवो—पुरुषपुण्डरीकः[१] । चक्की—卐सुभौमः[१] । केशवः दत्तः[१] । चक्की—महापद्मः[१] । केसव—नारायणः लक्ष्मणाह्वः[१] । दुचक्की—हरिषेणः[१] जयः[२] । केसव—कृष्णः[१] । चक्की—ब्रह्मदत्तः । एवं १२ चक्रिणः ९ वासुदेवा उक्ता अनुक्रमेण । उक्तं च—

उसभे भरहो अजिए सगरो मघवं सणंकुमारो अ ।
धम्मस्स संतिस्स य, जिणंतरे चक्कवट्टिदुगं ॥३॥

संती कुन्थू अ अरो, अरहंता चेव चक्कवट्टी अ ।
अरमल्लीअंतरे पुण, हवइ सुभूमो अ कोरव्वो ॥४॥

मुणिसुव्वए नमिम्मि अ, हुंति दुवे पउमनाहहरिसेणा ।
नमिनेमिसु जयनामा, अरिट्ठपासंतरे बंभो ॥५॥

पंच अरहंते वंदंते केसवा पंच आणुपुव्वीए ।
सिज्जंस तिविट्ठाई, धम्मपुरिससीहपेरंता ॥६॥

अरमल्लिअंतरे दुन्नि, केसवा पुरिसपुण्डरिअदत्ता ।
मुणिसुव्वय नमिअंतरि नारायणकन्हनेमिम्मि ॥७॥

卐 सुभूम ।

ततः पूर्वप्रतिज्ञाबद्ध उत्पन्नवैराग्यो दीक्षां ललौ । ततो जैनग्रन्थात् सिद्धान्तः तेन पठितः निर्विशेषतोऽतीवविज्ञोऽभूत् गुरुभिः सूरिपदं ददे ।

इति हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ॥४८०।

[418] अथ हरिभद्रसूरिक्रोधोपशमसम्बन्धः ।

श्रीहरिभद्रस्य हंसपरमहंसौ क्षुल्लौ प्रज्ञालौ गुरुभिः पाठितौ। तत एकदा प्रोचतुः—भगवन्! बौद्धशास्त्रमर्म गृहीत्वा बौद्धा जेष्यन्ते तत्रावां स्यावः । गुरुभिः प्रोक्तं—ते निर्दया यदि युवां जैनौ ज्ञास्यन्ति तदा हनिष्यन्ति। ततस्तौ गुरुं पर्यवसाय्य वेषान्तरं ग्राह्य बौद्धाचार्योपान्ते गत्वा छात्रमध्ये शास्त्राणि पठतः तेषां शास्त्राणां मर्म पृथग्लिखितः [लिखन्तौ स्तः]।

एकदा पत्रदत्तखटया बौद्धाचार्येण जैनछात्रपठनं ज्ञातं, परमुपलक्षति न। ततो जैनछात्रज्ञानाय द्वितीयभूमौ पाठयितुमुपविष्टः छात्रेषु पठत्सु निश्रेण्यां जिनप्रतिमा मण्डिता, यदा छात्रा विसर्जितास्तदा सर्वे प्रभोः प्रतिमाया उपरि पादौ दत्त्वोत्तीर्ण्णा, हंसपरमहंसौ प्रतिमायाः कण्ठे रेखां कृत्वोत्तीर्णौ। ततस्तौ शंकितौ पुस्तकं लात्वा नष्टौ। ततो बुद्धाचार्येण राज्ञः शिविरं तत्पृष्टौ प्रेषितं तयोर्हननाय, हंसेन युद्धकृतं वहुसैन्यं हतं, ततो वहुसैन्यं समागतं, ततो हंसो हतः, ततो वहु शिविरं समागतं परमहंसोऽपि हतः। क्रमाद्गुरुभिः शिष्यहननसम्बन्धो ज्ञातः। ततो रुष्टैस्तप्ततैलकटाहं मण्डितं मन्त्रबलेन १४४० [१४४४] बौद्धाः[बौद्धान्] कटाहेषु जुह्वन्[जुह्वन्] वारितो हरिभद्रो, न पापान्निवृत्तस्तदा एकः श्राद्धोऽभ्येत्य जगौ—

जइ जलइ जलओ लोए, कुसत्थपवणाहओ कसायग्गी ।
तं चुज्जं जं जिणवयणा, वारिसित्तो वि पज्जलई ॥१॥

इत्यादि श्रुत्वा हरिभद्रसूरिः पापान्निवृत्तः पश्चादालोचनां लात्वा १४४० [१४४४] प्रकरणानि चक्रे ।

इति हरिभद्रसूरिक्रोधोपशमसम्बन्धः ॥४८१॥

[482] अथ वप्पभट्टीदीक्षासम्बन्धः

पांचालदेशे डुंबाउधिग्रामे वप्पक्षत्रियस्य भट्टिः पत्नी, सूरपालः पुत्रोऽभूत् । तस्य क्षत्रियस्य वहवो रिपवः तान् हन्तुं स पुत्रः पित्रा निषिद्धः स्थितः । कस्मिंश्चिदपमाने सूरपालो निर्ययौ सिद्धसेनसूरेर्मोढेरग्रामे मिलितः गुरवः प्रोचुः कस्त्वं कुत आगाः। ततस्तेन स्वमातापित्रादिसम्बन्धः प्रोक्तः। गुरुणोक्तं—वत्स ! अस्मत्पार्श्वे तिष्ठ सुखी भवसि पाठयित्वा विलोकितो गुरुणा स च दिनं प्रति सहस्रं श्लोकानां पठति तीक्ष्णबुद्धिः। ततो गुरवो जगुश्चारित्रं गृहाण त्वमस्मत्तुल्यो भविष्यसि। तेनोक्तं–अहं दीक्षां जिघृक्षुरस्मि। ततो गुरवस्तं चारित्रग्रहणे दृढं कृत्वा डुंबाउधीग्रामे गताः। तस्य शिशोर्मातापितरावालापितौ उक्तं च पुत्रा भवन्ति भूयांसः किन्त्वैर्यैः संसारसागरात्

मातापितरौ उद्भियन्ते न । यद्यसौ दीक्षां गृह्णाति तदा वरं । माता प्राह—यदि मम नाम दीयते पुत्रस्य तदा दीयतां दीक्षां । ततो गुरुभिर्दीक्षितः बप्पभट्टिर्नाम ददे तस्य, स्तोकैरेव दिनैर्बहूनि शास्त्राणि पपाठ । इति बप्पभट्टिदीक्षासंबंधः ॥४८२॥

[483] अथ आमराज्यप्राप्तिसंबंधः ।

गोपालनगरे यशोधर्मनृपतेर्यशोदेवी पत्नी पुत्रआम । स चान्यदा पित्रा हक्कितो निर्ययौ गृहात् भ्रमन्स मोढेरकग्रामे बहिर्देवकुले समागात् । इतस्तत्र बप्पभट्टिसाधुस्तत्र गुरुणा सार्द्धं समागात् । स च आमस्तत्र देवकुले काव्यानि बप्पभट्टिपार्श्वाद्वाचयामास । ततो गुरुणा समं स शिशुरुपाश्रये आगतः गुरुणा पृष्टं कुतस्त्वं पुरादिहागाः स चात्मनो मातापितृपुरादिसम्बन्धं जगौ गुरुणोक्तं–किं तव नाम ? ततस्तेन बालेन खटिकया लिखित्वा ज्ञापितं स्वं नाम आम इति । ततो गुरुणा ज्ञातं—महानेष ततो गुरुणा ध्यातं च यः पुरा रामसैन्यग्रामे राज्ञा निष्कासिता स्त्री समागता । तया च पिचुवृक्षे वस्त्रान्दोलके मुक्तो बालकः । तस्य वृक्षस्य छाया न नमिता स एव बालकः एष महान् भूपो भविष्यति । ततो गुरुणा श्राद्धानां भलायितः श्राद्धा वयं भोजनं ददन्ते बप्पभट्टिना समं आमः पठति बहुशास्त्राणि पपाठ, लक्षणादिसर्वशास्त्रादिवेत्ताऽभूत् । बप्पभट्टिरामेन गुरुः कृतः, महान्प्रेम तयोरभूत् । एकः एकेन विना न तिष्ठति । यतः—

आपातगुर्वी[1] क्षयिणी क्रमेण, ह्रस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना, छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥१॥

इतस्तत्रस्थं पुत्रं ज्ञात्वा पिता स्वपार्श्वे नेतुं जनमप्रेषयत् । तत आमः प्राह—अहं पित्राऽकारितस्तत्र गच्छन्नस्मि कदाचिद्राज्यं भविष्यति तदा त्वमेव गुरुः बप्पभट्टिश्चापि । ततो यशोधर्मभूपपतेः पितुर्मिलितः पित्रा राज्यं दत्तं, राजा तु आराधनां कृत्वा स्वर्गं [स्वर्गं] गतः आमः पितुः परलोककार्यं कृत्वा गोपगिरिपुरे राज्यं प्राप्तमपि पलालपूलप्रायं मन्यते । ततः आमेन बप्पभट्टिस्तत्राकारितः आसनं मण्डितं, यदा बप्पभट्टिर्जगौ—आसने तु गुरव एवोपविशन्ति । ततः आमेन गुरुपार्श्वात् बप्पभट्टेः सूरिपदं दापितम् ।

इति आमराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥४८३॥

[484] अथ गोपगिरौ १८ भारस्वर्णप्रतिमानिर्मापनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीबप्पभट्टिसूरिभिः प्रासादकारणपुण्ये उपदेशो दत्तः ।

प्रासादप्रतिमा यात्रा–प्रतिष्ठादिप्रभावना ।
अमायुद्घोषणादीनि महापुण्यानि गेहिनां ॥१॥

काष्ठादीनां जिनागारे, यावन्तः परमाणवः ।
तावन्ति पल्यलक्षाणि, तत्कर्त्ता स्वर्गभाग्भवेत् ॥२॥

१. आरंभगुर्वी ।

इत्याद्युपदेशं श्रुत्वा एकोत्तरहस्तशतप्रमाणः प्रासादः कारयामास । भूपो गोप गिरौ तत्राष्टादशरैभारप्रमाणां श्रीवीरप्रतिमां न्यवीविशत् श्रीबप्पभट्टिभिः प्रतिष्ठिता । तत्र चैत्ये मूलमण्डपः सपादलक्षसौवर्णटङ्कैर्निष्पन्नः इति वृद्धाः प्राहुः । सदा भूपो गजारूढो देवं वन्दितुं याति देवगृहे सदा नृत्यनादपूजामहापुष्पं पूजादि महोत्सवं राजा कारयति । दिनं प्रति देवगृहे मूढकद्वयमक्षता आयान्ति, गोणीद्वयं पूगीफलानि, अपरवस्तूनां संख्या न ज्ञायते । उभयकालमारात्रिकमहोत्सवो भवति । विशेषतः कार्त्तिकपूजा कार्त्तिकमासे दीपशतसहस्रैः कार्यते नृपेण । इति गोपगिरौ १८ भारस्वर्णप्रतिमानिर्मापनसम्बन्धः ॥४८४॥

[485] अथ श्रीबप्पभट्टिसूरिर्लक्षणापुरीगमनधर्मराजप्रतिबोधसम्बन्धः ।

एकदाऽन्तःपुरे वल्लभां प्रम्लानमुखीं दृष्ट्वा श्रीबप्पभट्टिपार्श्वे गाथार्द्धं राजाऽवग्—

"अज्जवि सा परितप्पइ, कमलमुही अत्तणोपमाएणं" ।

गुरुः प्राह—

"पढमविबुद्धेण तए, जीसे पच्छाईअं अंगं" ॥१॥

राजा दध्यावयं सर्वज्ञ एव ।

अन्यदा राजा पत्नीं पदे पदे मन्दं मन्दं संचरन्तीं दृष्ट्वा गाथार्द्धं प्राह—

"बाला चंकमंती पए पए, कीस कुणइ मुहभंगं" ।

सूरिः प्राह—

"नूणं रमणपएसे मेहलया छिप्पए नहपंती" ॥१॥

इदं श्रुत्वा राजा दध्यौ—एष सूरिरन्तःपुरे किं प्रविष्टः ? अहो विद्यागुणोऽपि दोषाय गतः । राज्ञो मनो ज्ञात्वा श्रीसूरिः संघमनापृच्छय पुरद्वारे काव्यं लिखितवानेवं—

यामः स्वस्ति तवास्तु [१]रोहणगिरौ मत्तः स्थितिप्रच्युता,
वर्तिष्यन्त इमे कथं कथमिति स्वप्नेऽपि मैवं कृथाः ।
[२]श्रीमांस्ते मणयो वयं यदि भवल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा,
ते शृङ्गारपरायणाः क्षितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति नः ॥१॥

अस्मान् विचित्रवपुषश्चिरपृष्ठलग्नान्, किं वा विमुञ्चसि विभो ? यदि वा विमुञ्च !
हा हन्त केकिवर हानिरियं तवैव, [३]भूपालमौलिषु पुनर्भविता स्थितिर्नः ॥२॥

एवं लिखित्वा गुरवोर्लक्षणवत्यां पुर्यां धर्मराजपालितायां गताः सूत्सवं । तत्र नित्यं धर्मराजा गुरुं वन्दते उपदेशं शृणोति ।

इति श्रीबप्पभट्टिसूरिर्लक्षणापुरीगमनधर्मराजप्रतिबोधसम्बन्धः ॥४८५॥

---

१. रोहणगिरे ! २. श्रीमंस्ते । ३. भूपालमूर्धनि ।

[486] अथ लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्धः ।

आमभूपः श्रीबप्पभट्टिगुरुं "याम स्वस्तीति" काव्यवाचनात् ज्ञातवान् । मम मनो ज्ञात्वा गुरवो गताः । गुरवोः ज्ञानिनः मया मुधा दुश्चिन्तितं राजा बप्पभट्टिं स्मारं स्मारं दुःख्यभूत् ।

अन्यदा बहिर्गतेन राज्ञा सर्पं मुखे धृत्वा वाससाछाद्य गृहमानीतवान् सभायां कवीनां पुरः श्लोकार्द्धं प्राह—

"शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या अन्यो यो येन जीवति" ।

यदा न केनापि पदद्वयमग्रेतनं पूरितं । तदा राजा जगौ—यः समस्यां पूरयति तस्मै हेमटङ्कलक्षं दास्ये बहुषु दिनेषु गतेषु एकः पुरुषः समस्यां पूर्णां चकार—

"सुगृहीतं च कर्त्तव्यं, कृष्णसर्पमुखं यथा" ॥१॥

ततो राज्ञोक्तं—भो पुरुष ! सत्यं ब्रूहि मया मानितं तुभ्यं दास्यते, केनेयं समस्या पूरिता । ततस्तेनोक्तं लक्षणावत्यां गतस्तत्र मया श्रीबप्पभट्टिपार्श्वे समस्यार्द्धं पृष्टं गुरुणाऽग्रतः पदद्वयं प्रोक्तं । ततो राजा दध्यौ स गुरुः कथमत्रायास्यति । एकदा आमः पुराद्बहिः न्यग्रोधद्रोरधः पान्थं मृतं ददर्श । तस्य तरोः शाखायां-करपत्रकं गलद्बिन्दुव्यूहं लम्बमानं च दृष्ट्वा गाथार्थं प्रावणिलिखितं दृष्टवानिति—

"तईया महनिग्गमणे पियाइ घोरं सुएहिं जं रुण्णं ।"

तदपि गाथार्द्धं भूरि कवीनां पुरः प्रोक्तं ततो न केनापि पूरितं । जनं प्रेष्य सूरिपार्श्वात् समस्यां पूर्णां ज्ञातवान्—

करवत्तयबिंदुय निवडणेण तं मज्झ संभरियं ॥२॥

एवं श्रुत्वा राजा नित्यं सूरीन् सस्मार ।

इति लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्धः ॥४८६॥

[487] अथ आमभूपलक्षणापुरीगमनधर्मभूपमिलनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीआमराजेन गुरुमाकारयितुं मन्त्रिणः प्रपिताः । गुरवो यदा वलितुं लग्नास्तदा धर्मराजाचष्ट-यदा आमभूपः भगवत आकारयितुमायात्यत्र तदा गन्तव्यं ममापि तस्य नृपतेर्दर्शनेच्छा विद्यते । ततो गुरुणोक्तं—राजा नायास्याति अत्र, तथापि ज्ञापयिष्यते । ततो मन्त्रिण आकार्य रहः प्रोक्तं—आमकेन स्थगीयरूपभृता प्रातः सभायामागम्यते, मन्त्रिणः पश्चाद्गताः आमस्य बप्पभट्टेरनागमनादिकारणं प्रोचुः । ततोऽन्यदा प्रभाते श्रीधर्मभूपादिश्राद्धसंकुलायां सभायां स्थगीरूपधर आमो भूरिनरैर्युक्त आगच्छन् दृष्टो यदा तदा गुरुणोक्तं—पुनरामनरा आगच्छन्तः सन्ति मदाकारणाय, यदा सभायामागतस्तदा । गुरुभिः प्रोक्तं—"आम ! आवओ"

तस्मिन्नुपविष्टे अपरनरपार्श्वे पृष्टं स्थगीहस्ते किं बीजोरा ? ततो धर्मभूपेन पृष्टं—राजा कथं कथयात्र नागादाकारयितुं गुरोः ? ततस्तेनोक्तं—आगत एवाज्ञेयः राज्ञा पृष्टः कीदृशः आमास्ति गुरुणोक्तं—स्थगीसदृशोऽस्ति। ततो धर्मेण यूयं [उक्तं] पश्चायातं राजानं अत्र प्रेषयत ततस्ते सर्वे गुरून् वन्दित्वा जगुः—भगवन् ! भवद्भिः शीघ्रं गोपगिरौ आगम्यते । गुरुभिः प्रोक्तं—'वर्त्तमानयोगिइं" । ततस्ते गता घटिकायोजनोष्ट्रीमारूढो राजा स्वपुरं प्रति चचाल ।

इतो गुरवो धर्मभूपतेः पुरः प्रोचुः—वयं चलिता गोपगिरिं प्रति राजाऽवग्—यथाम-भूपागमनं विना गमिष्यते तदा प्रतिज्ञाभंगो भविष्यति । गुरुगोक्तं—यः स्थगीरूपभृत् । स आगतः मयोक्तं—'आवइ' एकेन नरेण प्रोक्तं मयापि च बीजोरा स्थगीतुल्यः प्रोक्तः । ततो धर्मः प्राह—अहं वाहितो वचश्छलात्—आमो विद्वान् गुरुवो विज्ञाः अहं मुग्धः । गुरुणोक्तं—आमो दर्शितो भवतः । ततस्तं भूपं मुत्कलाप्य बप्पभट्टिगुरुः सूत्सवं गोपगिरौ गतः ।

इति आमभूपलक्षणापुरीगमन धर्मभूपमिलनसंबंधः । ४८७॥

[488] अथ आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ।

अन्यदा राजसभायामामस्य गाथकवृन्दं समायातं तच्च गातुं मधुरध्वनिप्रवृत्तं आमभूपतिरेकां बालिकां मृगांकमुखीं स्वर्नारीरूपां गायन्तीं दृष्ट्वा मदनज्वरपीडितोऽभूत् । ततो राजा पद्यद्वयमपाठीत्—

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाधरलता दन्ता मणिश्रेणयः,
कान्तिः श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते [१]पारिजातद्रुमः ।
वाणी कामदुधा कटाक्षलहरी सा कालकूटच्छटा,
तत्किं चन्द्रमुखि ! त्वदर्थममरैरामन्थि दुग्धोदधिः ॥१॥

जन्मस्थानं न खलु विमलं वर्णनीयो न वर्णो,
दूरे शोभा वपुषि निहिता पंकशंकां तनोति ।
विश्वप्रार्थ्यः सकलसुरभिद्रव्यदर्प्पापहारी,
नो जानीमः परिमलगुणः कस्तु कस्तूरिकायाः ॥२॥

सूरिभिर्ध्यातं महतामपि मनःपरिवृत्तिर्भवति । यतः—

अक्खाण रसणी कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंते ॥१॥

उत्थिता सा सभा, राज्ञा वर्या सभा त्रिभिर्दिनैः कारापिता गृहरूपामातंग्या सममिह वत्स्यामीति ध्यायति स्म—

---

१. पारिजातद्रुमाः ।

इङ्गिताकारज्ञाः श्रीबप्पभट्टिसूरयो राज्ञो मनो जज्ञौ दध्यौ—असौ भूपः कुमार्गसेवनान्नरकं यास्यति। अतस्तथा कुर्वे यथा राजा कुमार्गं न सेवते। ततस्तस्मिन्नेव चित्रशालाभारपट्टे सूरिः पद्यानि लिखितवानिति—

शैत्यं नाम गुणस्तवैव भवतु स्वाभाविकी स्वच्छता,
किं ब्रूमः शुचितां [1]भवन्ति शुचयस्त्वत्संगताऽन्ये यतः ?
[2]किं वातः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवितं देहिनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः ? ॥१॥

सद्वृत्तसद्गुणमहार्हमनर्घ्यमूल्य-कान्ताघनस्तनतटोचितचारुमूर्त्ते,
आःपामरीकठिनकण्ठविलग्नभग्न-हा हार हारितमहो भवता गुणित्वम् ॥२॥

जीअं जलविंदुसमं, संपत्तीओ तरंगलोलाओ ।
सुमिणय समं च पिम्मं, जं जाणसि तं करिज्जासि ॥३॥

लज्जिज्जइ जेण जणो, मइलज्जइ निअकुलकमो[3] जेण ।
कंठठिएवि जीए तं, न कुलीणेहिं कायव्वं ॥४॥

प्रातरमूनि पद्यानि दृष्ट्वाऽऽमभूपोऽक्षराण्युपलक्षयामास दध्यौ च अहो गुरूणां मयि कृपालुता मया मातंगीसंगश्चिन्तितः तस्मात्पापात्कथं छुटिष्यामि क्व यामि कथं ? गुरोर्मुखं दर्शयिष्ये किं च तपः करोमि वह्नौ प्रविशामि भूमिमध्ये वा भृगुपातं करोमि वा। ततो राजा चितां रचयित्वा यावदग्नौ प्रविशति तावद्गुरुणा हस्ते धृत्वोक्तं—त्वया मनसा पापं बद्धं मनसा च मुक्तं । यतः—

मनसा मानसं कर्म, वचसा वाचिकं तथा ।
कायेन कायिकं कर्म, निस्तरन्ति मनीषिणः ॥१॥

ततो राजा गुरुवचसा निवृत्तो गृहे समागतः आलोचनां लात्वा तत्तपश्चक्रे च ।

इति आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ॥४८८॥

[489] अथ आमसमस्यासम्बन्धः ।

अन्येद्युरामो राजपथे गच्छन् हालिकप्रियां एरंडवृहत्पत्रसंवृतस्तनविस्तरां एरण्डपत्राणि विचिन्वानां गृहपाश्चात्यभागे दृष्ट्वा गाथार्द्धं बबन्ध वक्ति—

---

१. व्रजन्त्यशुचयः स्पर्शात्तवैवापरे । २. किंचातः । ३. कमो ।

"वइविवरनिग्गयदलो एरंडो साहइव्व तरुणाणं"

सूरिपार्श्वे पृष्टं, सूरिणा चापूरि—

इत्थ घरे हालिअवहू इद्दहमित्तत्थणी वसइ ॥१॥

श्रुत्वैतद्राजा चमत्कृतः । अन्यदा प्रोषितभर्तृकां वासगृहं यान्तीं वक्रग्रीवां दीपकरां ददर्श गाथार्द्धं चक्रे नृपः—

"दिज्जइ [1]वंकगीवइ [2]दीवउ पहिअजायाए" ।

सूर्यग्रेऽपाठीत्, सूरिणापूरि—

पियसंभरणपलुट्टन्त अंसुधारानिवायभीयाए ॥१॥

राजा चमत्कृतः । अन्यदा सौधोपरिस्थेनामेन एकस्मिन् गृहे प्रविष्टो यतिर्दृष्टः तद्गृहस्था स्त्री कामार्त्ता यतिरिरमयिषुः कपाटं ददौ मुनिरतां न वाञ्छति । ततस्तया मुनिः पदतलेनाहतः तस्या नेपुरं मुनिचरणे प्रविष्टं काकतालीयन्यायाद्राजा समस्यां चकार—

"कवाडमासज्ज वरंगणाए, अब्भत्थिओ जुव्वणगव्वियाए" ।

सूरिः प्राह—

"न मन्निअं तेण जिइंदिएणं, सनेउरो पव्वइअस्स पाओ" ॥१॥

अन्यदा प्रोषितभर्तृकाया गृहे भिक्षुर्भिक्षार्थी प्रविष्टः तया भिक्षुवशीकरणाय वरान्नमानीतं उपरि कौकैर्भक्षितं मुनिर्दृष्टिस्तदा तस्या नाभौ पपात तस्या दृष्टिर्मुनेर्मुखे । आम एतदृष्ट्वा समस्यां चकार—

"भिक्खायरो पिच्छइ नाभिमंडलं, सा पिच्छइ तस्स य आणणं वुअं" ।

सूरि प्राह—

"आणाय भिक्खोपरि काकघातया, विट्टालियं तेहिं न जाणिअं तु" ॥१॥

राजा रञ्जितः ततो राज्ञा धनं दत्तं गुरुणा न गृहीतं । ततस्तेन द्रव्येण लेप्यमया प्रतिमा एका मथुरायाम्१ । एका मोढेरकवसहिकायाम्२ । एका अणहिल्लपुरस्थितायाम्३ । एका गोपगिरौ४ । एका [3]सामारकपुरे५ कारिता प्रतिष्ठा प्रभावनादिरपि कारिता ।

इति आमसमस्यासम्बन्धः ॥४८९॥

[490] अथ आमाभिग्रहसम्बन्धः ।

एकदा आमभूपस्य पुरः सूरिरुपदेशं ददौ—

---

१. ग्गीवाइ । २. दीवओ । ३. सातारकपुरे ।

लावण्यामृतसारसारणिसमा सा [1]भोजभूः स्नेहला,
सा लक्ष्मीः स नवोद्गमस्तरुणिमा सा द्वारिका तद्बलम् ।
ते गोविन्दशिवासमुद्रविजयप्रायाः [2]प्रियाः प्रेरकाः,
यो जीवेषु कृपानिधिर्व्यधित नोद्वाहं स नेमिः श्रिये ॥१॥

मग्नैः कुटुम्बजम्बाले यैर्महाकामजर्जरैः ।
नोज्जयन्ते नतो नेमि-स्ते जीवन्तो मृताः स्मृताः ॥२॥

श्रुत्वैतद्राजा जगौ रैवतके नेमिं नत्वैव भोक्तव्यं गुरुभिः प्रोक्तं—रैवतको दूरे, मृदवो भवादृशाः । राजाऽवग्—मम प्रतिज्ञा मेरुचूलेव ज्ञेया । ततः शीघ्रं रैवतकं प्रति सारपरिवारश्चचाल राजा स्तम्भतीर्थोपान्ते समागात् । राजा खिन्नः प्राणसन्देशं प्राप परमभिग्रहं न मुञ्चते ततः सूरिणा ध्याता कूष्मांडी देवी समागता। तदाग्रे प्रोक्तं तथा कुरु यथा राजा पारणकं करोति। ततस्तया देव्या रैवतशिखरस्थमेकं बिम्बं नेमिनाथस्य तत्रानीतं प्रोक्तं चेदं श्रीनेमिबिम्बं तव साहसेन संमुखमागतं वन्दस्व पारणकं कुरु। ततः सूर्यादिभिरपि तथा प्रोक्तं । ततस्तद्बिम्बं वन्दित्वा राजा पारणकं चकार ।अद्यापि तद्बिम्बं स्तम्भतीर्थे पूज्यमानमस्ति ततः। शत्रुञ्जयगिरिनारयो र्देवान् वन्दित्वा स्वपुरमागात् ।

इति आमाभिग्रहसम्बन्धः ॥४९०॥

[491] अथ श्रीगिरिनारतीर्थवालनसम्बन्धः ।

एकदा ससंघः श्रीआमः शत्रुञ्जये वृषभं नत्वा रैवतके गतः । तदा तत्तीर्थं दिगम्बरै रुद्धं, श्वेताम्बरसंघश्चटितुं न शक्नोति आमो यदा युद्धं कर्त्तुं लग्नः । तदा दिगम्बरभक्ता ११ राजानः समागतास्तेऽपि युद्धाय सज्जा अभूवन् । ततो बप्पभट्टिनोक्तं—द्वयोरग्रे युद्धे मनुष्यसंहारो भवति । इदं तीर्थं यस्याम्बिका दत्ते तस्यैव ज्ञेयं । ततोऽम्बिका द्वाभ्यां संवेशाभ्यामाराधिता सती व्योम्नि समेत्य प्राहेति गाथा—

"उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खानाणं निसिहिया जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥१॥

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥२॥

ततः श्वेताम्बरैर्जितं दिगम्बरैर्हारितं स्त्रीणां मुक्त्यभावजल्पनात् ।

इति गिरिनारतीर्थवालनसम्बन्धः ॥४९१॥

---

१. सा भोजसूः २. प्रिया प्रेरकः ।

[492] अथ श्रीहेमसूरिदीक्षासम्बन्धः ।

वटपद्रपुरे श्रीयशोभद्रसूरिपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा राणकः क्षत्रियो जिनधर्मं प्रपेदे । एकदा जिनधर्मं कुर्वन् चरिक्षेत्राणि द्रष्टुं गतो राणः तावता भ्रूण्टानि ज्वालयन्ति भृत्याः तेषु एकां सगर्भां दंदह्यमानां तडफडायमानां सिमिसिमायमानां राणोऽद्राक्षीत् । ततो दध्यौ अहो एकस्योदरस्य हेतवे सर्पिणीं कियत्पापं क्रियते, धिग्गृहवासं यत्र सदा पापमेव, धन्याः साधवः यैः संसारसुखं त्यक्तं । ततोऽहं सर्वसंगत्यागं करिष्ये । ततः श्राद्धाः पृष्टाः प्रातः श्रीदत्तसूरयः क्व सन्ति ? श्राद्धैरुक्तं डींडूआणकग्रामे सन्ति । ततः सारपरिवारस्तत्र गतो राणः । गुरवो वन्दिताः स्वं पापं प्रकाशयामास व्रतं विना तस्माच्छुद्धिर्न दृश्यते । तेन दीक्षां दत्स्व । गुरुभिर्मानिते लक्षमूल्यहारेण डींडूआणके प्रभोर्महान्प्रासादः कारितो । राणकेन पुत्रस्य गृहभारं दत्त्वा राणको दीक्षां जग्राह । यावज्जीवं विकृतिस्त्यक्ता एकान्तरोपवासान् चक्रे । तं विद्यां पठन्तं धर्मिष्ठं गीतार्थं विनीतं मत्त्वा सूरिपदं गुरुभिर्ददे [सूरिपदं गुरवस्तस्मै ददौ] "यशोभद्रसूरि"रिति नाम तस्याभूत्। [१]तत्पट्टे गुणसेनसूरिरभवत् तत्पट्टे देवचन्द्रसूरिः स्थानाङ्गवृत्तिकर्त्ता । देवचन्द्रसूरयो धुंधुक्ककं पुरं प्राप्ताः। एकदा गुरवो देवगृहे गताः । यदा मोढज्ञातीयचाचिगपत्नी पाहिणीगर्भजातश्चंगदेवः सुतः बाल्यत्वात् गुरूणामासने उपविष्टः, तदा गुरुः प्राह—महाभागे पाहिणि ! तवायं पुत्रो यदि दीक्षां गृह्णाति तदा महाविद्यापारगः सूरिर्भवति । मात्रा प्रोक्तं—यद्ययं वर्धमानो दीक्षां मानयिष्यति तदा न मया वारयितव्यः । ततो वर्द्धमानश्चंगदेवो मातृपित्रनुज्ञातो दीक्षां ललौ । गुरुदत्तविद्याः पपाठ विद्वानभूत् । स च प्राप्तविद्यो हेमसूरिर्नामाऽभूत् ।

इति श्रीहेमसूरिदीक्षासम्बन्धः ॥४९२॥

[493] अथ श्रीहेमसूरिनामसम्बन्धः ।

स च हेमसूरिः क्षुल्लकावस्थायामेकस्मिन्ग्रामे गतः । स च वृद्धसाधुना सह प्रातराशां विहरणाय श्राद्धस्य गृहे गतः । तस्य गृहे बालका रब्बां पिबन्ति, वृद्धसाधोरग्रे चेल्लकः प्राह—गणीश ! अस्य श्रेष्ठिनो गेहे ! एवंविधा भूतिर्दृश्यते बाला रब्बां कथं पिबन्ति ? वृद्धः साधुः प्राह मौनं कुरु ? तदा गृहस्वामी क्षुल्लकवचः श्रुत्वोत्थाय पप्रच्छ—अयं क्षुल्लकः किं वक्ति ? साधुः प्राह—न किंचित् । ततो बलात्पृष्टे विभूतिसम्बन्धं क्षुल्लकः प्राह गृहमध्ये सौवर्णिकराशिर्दृश्यते । ततः श्रेष्ठी जगौ अस्माकं हेमनिधिः [२][थिराहलिका] खिराहिलिको जातः । तेनायं मध्ये क्षिप्तोऽस्ति यदा क्षुल्लकेन तस्योपरि हस्तो दापितः । तदा हेममयो जातः तदा क्षुल्लकस्य हेमक्षुल्लकनाम जातं । ततः श्रेष्ठिना ततो हेमविहारः कारितः पुनर्महेभ्या जातः ।

इति हेमसूरिनामसम्बन्धः ॥४९३॥

[494] अथ जीवदयायां कुमारपालसम्बन्धः ।

श्रीहेमसूरिपार्श्वे जैनं धर्मं ज्ञात्वा सर्वत्रामारिं कारयित्वा कुमारपालभूपो राज्यं चक्रे ।

१. तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रन्थकारः । २. कोलसा ।

अन्यदा आश्विनमासे समागते अबोटिकाः [आच्छोटिकाः] पतीआनका अभ्येत्य । भूपस्याग्रे प्रोचुः—पर्व समायातं महिणिकाह्वं । तत्र सप्तम्यां सप्तशती महिषाणां हन्यते, अष्टम्यां अष्टशती, नवम्यां नवशता । ततो दीयन्तां, देवीभ्यो दास्यन्ते । ततो राजोत्थाय गुरुपार्श्वे गतः कथिता सा वार्त्ता गुरुभिः प्रोक्तं—कथयिष्यते युक्तिः । ततो ऽग्रेतने दिने प्रोक्तं गुरुभिः—

"यस्मिन् दिने यावन्तो हन्यन्ते तावन्तो देवीनां पुरतः स्थाप्याः" प्रोच्यं च, भो देवि ! तव बलिः कृतोऽस्ति त्वं भक्षयित्वा तृप्ता भव । गुरूक्तं राज्ञा कृतं, देवीभिरेकोऽपि न भक्षितः । दशमोदिने पतीआनकेभ्यो भूरि धनं दत्त्वा । राज्ञा प्रोक्तं—अद्यप्रभृति यद्भवतां विलोक्यते तन्मार्गणीयं न जीवो हिंस्यः । ते तु पशवो देवी[सत्काः] कृत्वा स्वेच्छया चरितुं मुक्ताः ।

इति जीवदयायां कुमारपालसम्बन्धः ॥४९४॥

[495] अथ धर्मदृढतायां कुमारपालसम्बन्धः ।

एकदा कण्टेश्वरी देवी रात्रावभ्येत्य । भूपस्याग्रे प्राह—अहं तव कुलदेवी त्वया अस्मदर्थं किमपि न कृतं ? राजा जगौ मया जीवहिंसाविषये नियमो गृहीतः जीवन्नहं पिपीलिकामपि न हन्मि पञ्चेन्द्रियाणां का कथा । ततो रुष्टा त्रिशूलेन भूपं हत्वा गता राजा कुष्ठी जातः । ततो भूप उदयिनं मन्त्रिणमाकार्य प्राह देव्योक्तं स्वं वपुर्दर्शयामास च । मन्त्री प्राह स्वस्थीभूय तं गुरवः पृच्छयन्ते प्रातः यदि लोकाः पश्यन्ति भवद्वपुस्तदोड्डाहो भविष्यति जिनमतावहीलना च । ततो मन्त्रिणा गत्वा भूपस्वरूपं श्रीहेमसूरिपार्श्वे प्रोक्तं, गुरुभिः सद्यो जलमभिमन्त्र्य दत्तं प्रोक्तं अनेन भूपदेहमाच्छोट्यं सिञ्चनेन । ततो मन्त्रिणा तेन जलेन भूपवपुराच्छोटितं राजा दोगुन्दकदेवशरीरोभूत् प्रातर्गुरुं वन्दितुं ययौ गुरुभिः प्रोक्तं—

शूराः सन्ति सहस्रशः प्रतिपदं विद्याविदोऽनेकशः,
सन्ति श्रीपतयो निरस्तधनदास्तेऽपि क्षितौ लक्षशः[१] ।
किन्त्वाकर्ण्य निरीक्ष्य वाऽन्यमनुजं दुःखार्दितं यन्मन-
[२]स्ताद्रूप्यं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पूरुषाः पञ्चषाः ॥१॥

ततो राजा विशेषतो जिनधर्मे दृढतां दधार ।

इति धर्मदृढतायां कुमारपालसम्बन्धः ॥४९५॥

[496] अथ कुमारपालभूपालयात्रासम्बन्धः ।

एकदा श्रीहेमसूरिः प्राह—भो कुमारपाल ! शृणु-पुरा भरतचक्री शकटलक्षमनुष्यकोटि-भूपशतसहस्रयुतः स्थाने स्थाने उत्सवं कुर्वन् शत्रुञ्जये श्रीऋषभं ननाम तथाऽन्येऽपि आदित्यादयो भूपाः कोटिशः संघपतयो जाताः, संघपतिसमं पदं न स्यात् । यतोऽन्यत्पदं पापनिबन्धनं

१. भूरिशः । २ तद्रूपं ।

संघेशपदं तु मुक्तिदायि निगद्यते, शत्रुंजययात्राफलं श्रुत्वा राजा भूरिसंघयुतः प्रौढदेवालयारूढजिनप्रतिमापूर्वं शत्रुञ्जययात्रायै चचाल चतुर्विंशतिप्रासादान् कारयन् मन्त्रिपुत्रवाग्भट्टमन्त्रि-नागश्रेष्ठिपुत्र आभड षड्भाषाचक्रवर्तिश्रीपालसिद्धपालानेकप्रह्लादनपुरस्वामिभूपालादयोऽपि चेलुर्यात्रायै। श्रीहेमसूरिदेवसूरिप्रभृतयोऽनेके सूरयः साधवश्च। महादानानि दीयन्ते, ग्रामे पुरे जिनेन्द्रपूजा क्रियते, श्रीशत्रुञ्जये संघः प्राप्तः, मरुदेव्या दर्शने नालिकेरादिस्फोटनपूजाकरणं। तत्र ददति धनं कुमारपाले मार्गणेभ्यः, कवयश्च प्रोचुः—

क्षिप्त्वा वारिनिधिस्तले मणिगणं [१]रत्नाकरारोहणो-
रेण्वावृत्य सुवर्णमात्मनि दृढं बद्ध्वा सुवर्णाचलः।
क्ष्मामध्ये च धनं निधाय धनदो बिभ्यत्परेभ्यः स्थितः,
किं स्यात्तैः कृपणैः [२]स सोऽयमखिलार्थिभ्यः स्वमर्थं ददन् ॥१॥

"श्रीवीरे परमेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्त्तुं क्षमः श्रेणिकः।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्
[३]यस्यासौ सुवचः सुधां स परभः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥२॥

लक्षदानं सर्वत्र देवगृहेषु चैत्यपरिपाटीं कुर्वाणो भूपो देवपूजास्नात्रमहोत्सवारार्त्रिकमंगलप्रदीपादि चक्रे ततः स्थाने स्थाने स्नात्रमहः कुर्वन् देवपत्तने चन्द्रप्रभस्वामिनं प्रपूज्य गिरिनारे श्रीनेमिं पूजयामास। तत उत्तीर्णो मार्गे मार्गे श्रीसंघं जेमयित्वा दिव्यवस्त्रैः परिधापयन् गुरून् परिधापयामास। ततः संघं विसर्ज्य सोत्सवं राजा पत्तने समागात्।

इति कुमारपालभूपालयात्रासम्बन्धः ॥४९६॥

[497] अथ भाग्ये कुमारपालसम्बन्धः।

एकदा शाकम्भरीपतिभूप आनाकः कुमारपालभगिनीपतिर्द्यूतं रममाणः पत्न्या सह हास्येन प्राह–हेमसूर्यादिमुण्डकान्मारय। तदा पत्न्योक्तमेवं न प्रोच्यते, ते तु मम भ्रातुर्गुरवो जीवदया-पालकाः। यदा पुनः पुनरेवं वक्ति तदा पत्न्योक्तं–जिह्वां संभालय। तदा रुष्ट आनाकः पत्नीं पार्ष्णिना हतवान् पत्न्योक्तं–विलोकय तव जिह्वां मम भ्राता अवटोः कर्षयिष्यति। ततः सा रुष्टा पत्तने गता पतिस्वरूपं प्राह। ततो राज्ञा आश्वासिता भगिनी, प्रथमं तत्र स्वमंत्रिनं तस्य स्वरूपं ज्ञातुं प्रेषितः। स च तत्र गतो दास्या लुब्धोऽन्यदा दासी उत्सूरेण समागात् तदा तेनोत्सूरागमने हक्किता प्राह–"अद्य मयाऽधुना (आनो) राजा मन्त्रिणा विचार्य कुमारपालं हन्तुं जनः प्रेष्यमाणोऽस्ति तस्याग्रे प्रोक्तं–त्रिभुवनविहारमध्ये त्वया रविवारे स्थेयं, तत्र यदा याति तदा त्वया हननीयो राजा। ततो मन्त्री सद्यस्तत्क्षणं आकर्ण्य राजसूत्रितं कुमारपालाय

१. रत्नोत्करं रोहणो। २. समोऽयमखिलार्थिभ्यः स्वमर्थं ददत्। ३. यस्यास्वाद्य वचः सुधां।

ज्ञापयामास । राजा तस्मिन् सावधानीभूय देवगृहे प्रविष्टस्तं धृतवान् कंकलोहपत्र्यपि दृष्टा ततो राजा संनह्य शाकम्भरीं गतः युद्धं मण्डितं स्वभगिन्याः प्रतिज्ञापूरणाय महती सेनां दृष्ट्वा आनाको धनं दत्वा कुमारपालसैन्यं बिभेद । यदा संग्रामे जायमाने सर्वे स्ववसेका न युध्यन्ति तदा हस्तिपकं प्रति राजाऽवग्—किं न युध्यति सैन्यं, सोऽवग्—तव सैन्यं धनदानाद्वशीकृतं चानाकेन राजाऽवग्—त्वं कीदृशोऽसि ! स प्राहाहं हस्ती च तवैव स्तः ततः सचिन्तो राजा युद्धं कर्त्तुमुत्थितः, तदा चारणः प्राह—

कुमारपाल नवि चिंत करि चिंतिउं किंपि न होइ ।
जिणि तुह रज्ज समप्पिउं, चिंतं करेसिइ सोइ ॥१॥

ततो युध्यता कुमारपालेन आनाको हस्तिनः स्कन्धे चटित्वा गले (आनाको) धृतः प्रोक्तं च—भगिनीप्रतिज्ञां पूरयामि ततो भगिन्याभ्येत्य पतिभिक्षा मार्गिता पादशीर्षिकाच्छीत्कारयित्वा पुनरानकस्य राज्यं दत्त्वा स्वाज्ञां धारयित्वा पत्तने समागात् ये ये विघटिताः सेवकास्तेषां शिक्षा दत्ता इति सर्वत्र ततो मारिरित्यक्षरेन न कोऽपि जल्पति स्म ।

इति भाग्ये कुमारपालसम्बन्धः ॥४९७॥

[498] अथ बुद्धौ शातवाहनभूपसम्बन्धः ।

उज्जयिन्यामेको विप्रश्चत्वारः पुत्रास्तेषां शिक्षां (दातुं) वृद्धत्वे मरणावस्थश्चतुरः पुत्रानाकार्य प्राह—वत्सा ! अहं परलोकं प्रति प्रस्थितोऽस्मि । मयि मृते मदीयायाः शय्यायाश्चतुर्णां पादानामधः चत्वारो वर्याः कुम्भाः सन्ति, ते तु वस्तुभिर्भृताः सन्ति ततः कर्षणीयाः भवद्भिर्यथाजेष्ठं ग्राह्याः वस्त्वनुसारतः भवतां निर्वाहस्तैर्भविष्यति विवादो न कार्यः ततः पिता मृतः तस्यौर्ध्वदैहिकं कृतं त्रयोदशे दिने चत्वारः कलशाः कर्षिताः यावदुद्घाटयन्ति तावत्प्रथमे कुम्भे कनकम्१ । द्वितीये मृत्स्ना२ । तृतीये३ बुसं । चतुर्थेऽस्थीनि४ दृष्टानि तैः, ज्यायसा साकं सर्वे विवदन्तस्ततः कनकलोभात् । ते भूपस्याग्रे गताः स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचुः, केनापि विवादो न भग्नः । ततस्ते ग्रामे पुरे पृच्छन्तः प्रतिष्ठानपुरे गताः । तत्रापि यदा भूपादिभिर्न केनापि तेषां विवादो भग्नः । तदा बाल्यावस्थायां शातवाहनबालकस्तेषां विवादं बभञ्जेति—यस्मै पित्रा कनककलशो ददे । स कनकस्वामी भवतु ।१। यस्मै मृत्स्नाकलशो ददे पित्रा, स क्षेत्रकेदारान् गृह्णातु ।२। यस्मै बुसं स कणस्वामी ।३। यस्मै अस्थीनि स पशून् गृह्णातु ।४। ततः सर्वे स्वपुरे गताः पितृदत्तविभवेन सुखिनो जाताः ।

इति बुद्धौ शातवाहनभूपसम्बन्धः ॥४९८॥

[499] अथ भोजजन्मपत्रिकासम्बन्धः ।

सिन्धुलभूपस्य यदा पुत्रोऽभूत् तदा जन्मपत्री वर्त्तिता, एवं—

पञ्चशत्पंचवर्षाणि माससप्तदिनत्रयम् ।
भोजराजेन भोक्तव्यं, सगौडं दक्षिणापथम् ॥१॥

तदा मुञ्जो भोजजन्मपत्रिकोक्तं श्रुत्वा दध्यौ । मम सन्ताने राज्यं न भविष्यति किन्तु भोजस्य राज्यं भविष्यति । एवं ध्यात्वा वर्षाष्टप्रमाणं भोजं मारयितुं वने स्वसेवकाभ्यां प्रेषयामास रहः । ताभ्यां प्रोक्तं स्मर दैवतं त्वं तु मुञ्जेन मारयितुमत्र प्रेषितोऽसि । भोजो जगौ युवयोः किं दूषणं मम कर्मण ? एव तथापि प्रथमं एकं पलाशपत्रमत्रानयत ताभ्यामानीतं । ततः स्वजंघां विदार्य तद्रुधिरेण काव्यं भोजो लिलेख—

मान्धाता स महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो [१]यावद्भवान् भूपते !,
नैकेनापि समं गता वसुमती मन्ये त्वया यास्यति ॥२॥

एतत्साहसं दृष्ट्वा ताभ्यां छन्नं गृहे नीत्वा कृपया भूमिगृहे स्थापितः लेखोमुञ्जहस्तेऽर्पितः मुञ्जेन लेखो वाचितः । ततो वज्राहत इवाभूत् प्राह च—मया मुधा एवंविधो विनीतो भक्तो भोजो मारितः । ततो राजा मर्तुं समुत्सुकोऽभूत् । प्राह च-यदा भोजोऽत्र जीवन्नेति तदाहं जीवयामि नो चेन्मृत एव । ततस्ताभ्यां भोजः प्रकटीकृतः राजा हृष्टो भोजं मानयामास । ततो भोजस्यानिच्छतोऽपि युवराजपदवी दत्ता ।

इति भोजजन्मपत्रिकासम्बन्धः ॥४९९॥

[500] अथ मुंजमरणस्वरूपे भोजराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ।

तिलंगेशेन तैलपदेवराज्ञा वैरं जातं ततो राजा मुंजस्तं जेतुं यदा विचलिपुरभूत्तदा भोजेनोक्तमहं यामि तं जेतुं ।

मुंजोऽवग् त्वं लघुरहं यास्यामि, ततो वारितो राज्ञा पुरोधसा भोजेन न तस्थौ । ततः प्रोक्तं भोजेन स्वामिन् ? गोदावर्यास्तटादर्वागेव युद्धं कार्यं ततस्तद्वचोऽङ्गीकृत्य मुञ्जश्चचाल । दैवयोगाद् गोदावरी परतटे गतः युद्धं मण्डितम् । तैलपदेवेन जितं मुञ्जापि धृतः गुप्तिगृहे क्षिप्तः सर्वं हस्त्यादि सैन्यं गृहीतं तत्र विधवा मृणालवती दासीभवा भूपभगिनी जेमनादानाद् भक्तिं चक्रे मुञ्जस्य । इतो भोजेन स्वभ्रातृकर्षणाय तस्य यस्मिन् स्थाने मुञ्जस्तिष्ठति तत्र यावत् पुराद्बाह्यतः सुरंगा दापिता अंतरांतरा वाह्निका स्थापिता । मृणालवत्या मुञ्जस्य प्रीतिर्जाता, मुञ्जनृपो मृणालवत्याः पुरो गाथां प्राह—

मुञ्जभणइ मृणालवइ के मा कांइं रोअंति ।
लद्धपसायपयोहरां वंधनभणी रोअंति ॥१॥

---

१. याता दिवं भूपते ।

पभणइ मुञ्ज मृणालवइ जुव्वण गयू मझूरिजइ ।
जइ सक्करसयखंडि [वातोइ] कियतोइ जि मिट्ठीभूरि [चूरि] ॥२॥

एवं प्रोक्ते मुंज चलनं तया ज्ञातं तया च भ्रातुः पार्श्वे प्रोक्तं । तैलपदेवस्ततो रुष्टो मुंजं शूलायां क्षेपयितुं पुरमध्ये भ्रामयामास गृहे गृहे भिक्षा याचते मुंजः कौटुम्बिकगृहे नीतः । कौटुम्बिक प्रियया प्रोक्तं भिक्षाऽधुना कुतो दीयते । ततो मुंजः प्राह—

धणवंती मम गव्वकरि [परकरिय रुआइं] पिख्क विपद् दुरुआइं ।
चउदसइं छहुत्तारां मुञ्जह गयागयाइं ॥ ३ ॥

तयोक्तं—

च्यारि बइल्ला धेनु दोइ मिठावोली नारि ।
काहुं मुञ्ज कुटुम्बीह, गयवर बाऊइं वारि ॥४॥

ततो मुंजो[ऽ]वग्—

गयगयरहगयतुरयगय [मेय] पायक्कडानि भिच्च ।
सग्गट्ठियकरि [१]भामणउं महंता रुद्दा इव ॥५॥

यतो रुद्रादित्येन वारितोऽहं तैलपं जेतुं चलितः । तत्कथितमपि न कृतं । ततो मुंजः प्राह स्त्रियां विश्वासो न कार्यः ।

सउ चित्तह सट्ठी मणह पंचासडाहि आइं ।
[२]अम्मीतेन रटहसीजे वीससी आती असती आह ॥६॥

झोली त्रुटिवि किं न मूंउ किं नवि [हणउ ठार] हूउ वारह पुंज !
घरि घरि मुञ्ज भमाडीइ जिम–मंकडा–तिम–मुञ्ज ॥७॥

शूलाक्षिपावसरे प्राह—

लक्ष्मीर्यास्यति गोविंदे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुञ्जे यशःपुञ्जे [३]निराधारा सरस्वती ॥८॥

इतरजनवाक्यानि—

छंडिवि पिम्म गहिल्लपिअ जे दास हि रव्वंति ।
ते मुंजाल नरिंद जिम परभव घणा सहंति ॥९॥

चित्त विसाय न आणीइ रयणायर गुणमुञ्ज ।
जिम जिम वायइ [चपऽइ] विविहि पडह तिम तिम [निमंचिइ] नचइ मुञ्ज ॥१०॥

१. मंतणओ । २. अम्हे वे नरढाडसीये, वीससिया त्रियाहं । ३. निरालम्बा ।

मुञ्जः प्राह—

अट्ठोत्तर सुवुद्धिडी रावण तणइ कपालि ।
एकबुद्धि न सांपडी लंका भंजणकालि ॥११॥

इत्यादि पराभवपूर्वं मुञ्जः शूलायां क्षिप्तः । ततो भोजो मुञ्जं मारितं श्रुत्वा अतीव दुःखी जातः । ततो मंत्रिभिः शोक उत्तारितः । ततो राज्ये नोपविशति भोजः । ततो मंत्रिभिर्बलात्मुञ्जपदे भोज उपवेशितः ।

इति मुञ्जमरणस्वरूपभोजराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥५००॥

[501] अथ पद्यद्वयपठन भोजसम्बन्धः ।

एकदा एको विप्रः पुराद्वहिर्देहवि[चिं]तायै, गतः । तदा एको वृषः शंडो वृक्षं स्कन्धेन घर्षयति । पुनः कर्णौ उत्पाट्य विलोकयति च तदा विप्रेणोक्तम् घसइ घसावइ किं रे मारिसि, कान टहरी टहरी जोइं छइं किं नासिसिरे । एतच्छ्रुत्वा शंडो नष्टः । ततः स विप्रः स्वकृतं पद्द्वयं भूपाग्रे प्राह शंडागमनं च । ततो राज्ञा सहस्रं द्रम्माणां दत्वा तस्मै तस्मात् पदद्वयं गृहीतं अत्रान्तरे वैरिणा भूपेन नापितः कलावान् सुकुमालहस्तोऽगमर्दनकुशलो भोजमारणाय प्रहितः स च भूपस्य मिलितः वर्यं तं मत्वा भूपेन रक्षितः भूपस्य शरीरे संवाहनां करोति । एकदा राजा सुप्तस्तदा स मुहूर्त्तमेकं राज्ञः पदयोः संवाहनां कृत्वा भूपं हन्तुं क्षुरकं तेजयति पुनर्भूपस्य संमुखो भूत्वा कर्णौ दत्वा विलोकयति सचिन्तः । राजा तं तथाविधं कर्मकुर्वाणं दृष्ट्वा प्राह—

"घसइ घसावइ किं मारिसि रे कान, टहरी टहरी जोइ छइं किं नासिसिरे ?"–एतदुक्तं भूपस्य श्रुत्वा स नापितश्चकित आत्मकृत्यं ज्ञातं विदन् भूपस्य पदोः पतित्वा प्राह–अहमभाग्यवान् यत्त्वं हन्तुं वांछितो मया, राज्ञोक्तं किं त्वया हन्तुं वांछितः अभयं दत्तं ? ततः स नापितः प्राह अहं चंद्रभूपेन, त्वां हन्तुं प्रेषितः त्वयाहं ज्ञातः । ततो राजा तं विसर्ज्य तं वैरिणं जिगाय ।

इति पद्यद्वयपठनभोजसम्बन्धः ॥५०१॥

[502] अथ स्त्रीचरित्रे भोजमोदकपरिवेषणसम्बन्धः ।

भोजस्य भूपस्य शतपत्नीषु एका पत्नी भोजाभीष्टापि गोविंदविप्रे लुब्धाऽभूत् । राज्ञान्यदा रात्रौ नक्तचर्यायां भ्रमता सा पत्नी अन्यपुरुषपार्श्वे सुप्ता दृष्टा । तदा अभिज्ञापनाय पंडितस्य विप्रस्य वेणी छिन्ना :शनैः, यतो अवध्यः । उन्निद्रः पण्डितो वेणीं छिन्नां वीक्ष्याचिन्तयत् राज्ञाहं ज्ञातः परमभिज्ञानायेदं कृतं । ततः स तत्क्षणादुत्थाय सर्वेषां पण्डितानां वेणीं छिन्नवान् प्रातर्भूभुजः सभायां सर्वे पण्डिताच्छिन्नवेणीकाः स्थगितशीर्षा राज्ञः पार्श्वेऽभ्येत्याशीर्वादं ददुः । राजा तु सर्वेषां वेणींच्छिन्नां वीक्ष्य सम्यग् निश्चयं न चक्रे । ततः कौतुकीनृपः सर्वान् पण्डितान् न्यमन्त्रयत्

सर्वे जेमितुमुपविष्टाः । राज्ञीं प्रति प्राह मोदकान् परिवेषय पंच पंच । ततः सा मोदकान् परिवेषयन्ती स्वाभीष्टं पण्डितभाजने दश मोदकान् मुमोच । ततो बुधोऽवग्—

पंच पंच प्रदीयन्ते किमत्र दश मोदकाः ।
भोजराजो न जानासि स्त्रीचरित्रं न विश्वसेत् ॥१॥

ततो राजा तां पत्नीं तत्याज, पण्डितस्त्ववध्यो निजदेशात् कर्षितः ।

इति स्त्रीचरित्रे भोजमोदकपरिवेषणसम्बन्धः ॥५०२॥

[503] अथ मुग्धविप्रतारणे द्विजसम्बन्धः ।

मरुस्थल्यां एकस्मिन् ग्रामे उद्वाहे चतुरिकास्थाने कर्पासग्रहणाय रुतकोत्थलकचतुष्कं मंडापितं द्विजेन । वरकन्ये तत्रायाते यदा तयोः परिणायितुं द्विज उपविष्टो गूर्जरस्तदान्यस्तत्रागतः । कौतुकं तादृक्षं दृष्ट्वा प्रोवाच "आश्चर्यं दृष्ट्वा [दृष्टं] कर्पासेवेहा" तदा तत्रस्थो द्विजो जगौ—"मौनं कर्त्तव्यं अर्द्धो अर्द्धि स्वाहा" एवं प्रोच्य [प्रोक्त्वा] तयोर्वरकन्ययोः पाणिग्रहणं कारितं । ततो द्वाभ्यां रुतं विभुभज्य गृहीतं ।

इति मुग्धविप्रतारणे द्विजसम्बन्धः ॥५०३॥

[504] अथ मालतीकुसुमं भातीत्यादि अंधपदद्वयकरणसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजा सपरिच्छदो वहिरुद्याने गतः । रसंतं मालतीपुष्पस्थितं शिलीमुखं वीक्ष्य भोजः प्राह—

[1]मालतीकुसुमं भाति मञ्जुगुंजन्मधुव्रतम् ।

भूपोक्तं श्रुत्वा एको वृक्षान्तरस्थः पुमान् विज्ञः प्राह—

[2]पृथिव्यां पंच वाणस्य शंखमापूरयन्निव ॥१॥

प्रत्युत्तरपदद्वयं श्रुत्वा राजा चमत्कृतः मेदिनीशः स्वावासं समागतः । प्रभाते श्लोके सभायां कथिते सति पण्डितैः सर्वैः व्याख्यातः । ततः सीता पंडिता जगौ अग्रेतनपद्यद्वयमंधेन कृतं । राजा प्राह्–हे पंडिते ! त्वयैवं कथं ज्ञायते ? सा प्राह्–शंखस्य पूरणं वक्त्राज्ज्ञायते गुंजारवस्तु पक्षिभ्यो जायते, द्विरेफाणां विज्ञोप्यंधो नर एवं न वेत्ति यतः ततस्तत्र गत्वा तस्य विज्ञस्यान्धस्य पार्श्वे प्राह् राजा, "त्वया कृतं पदद्वयं दूषितं विद्यते" [विज्ञ प्राह्] मत्कृतं काव्यं रंडया विना कोऽपि न दूषयति । ततो विशेषतो राजा चमत्कृतो द्वयोरपि भूरिधनं ददौ ।

इति मालतीकुसुमं भातीत्यादि अंधपदद्वयकरणसम्बन्धः ॥५०४॥

---

१. मालतीमुकुले भाति । २. प्रयाणे ।

[505] अथ दाने आपदर्थे धनं रक्षेदित्यादि सम्बन्धः ।

भोजभूपः श्रियाश्चंचलत्वं वीक्ष्य यदा बहुदानं ददन्नभूत् तदा रोहितो मन्त्री दध्यौ । राजा कोशं धनरिक्तं स्तोकदिनैः करिष्यति अत उपायेन वार्यते । ततश्चित्रशाला भारपट्टे रहः पदं लिलेख—

"आपदर्थे धनं रक्षेत्"—प्रभाते भूपः पदं दृष्ट्वा मंत्रिलिखितं ज्ञात्वा तत्रैव लिलि[ले]ख- "भाग्यभाजः क्व आपदा[दः]" राज्ञा द्वितीयं पदं लिखितं ज्ञात्वौ तृतीयपदं तत्रैव पुनर्मन्त्रिणालिखितं—"दैवं हि कुप्यति कापि"-राजा तत्पदमपसार्य लिलेख—"संचितोऽपि विनश्यति" ।

ततो राज्ञो मनो दाने संसक्तं ज्ञात्वा मंत्री क्षमयामास [उक्तं च] त्वं भाग्यवानसि यत एवं विधं दाने मनस्तव । ततो राजा[हृ]रुष्टो दानं दत्ते ।

इति दाने आपदर्थे धनं रक्षेदित्यादिसम्बन्धः ॥५०५॥

[506] अथ नष्टं नष्टं नष्टं नष्टमिति सम्बन्धः ।

एकदा भोजभूपसभायाः समीपस्थवटशाखायामुपविश्य शुकः प्राह—"नष्टं नष्टं नष्टं नष्टं" अस्य पदस्यार्थः सर्वेषां पण्डितानां पार्श्वे भूपेन पृष्टः केनापि न ज्ञातो विलोकितोऽपि भृशं । तच्च विद्वत् कुटुंबेनार्थः प्रोक्तः इति । प्रथमं द्विजः प्राह "(१) कुभोजनात् दिनं नष्टं" । पत्नी प्राह "(२) भार्या नष्टा कुशीलिनी" । पुत्रः प्राह "(३) कुपुत्रेण कुलं नष्टं" । पुत्रपत्नी प्राह "(४) तन्नष्टं यन्न दीयते ।" ततो राजा विद्वद् कुटुम्बाय लक्षं ददौ ।

इति नष्टं नष्टं नष्टं नष्टमितिसम्बन्धः ॥५०५॥

[507] अथ भोजकृतदानार्थसम्बन्धः ।

दानेन सर्वं वशीभवति इति-ज्ञापनाय भोजनरेन्द्रोऽन्यदा आर्याचतुष्कं रचयामास।

इदमंतरमुपकृतये, प्रकृतिचला यावदस्ति संपदियं ।
विपदि १नियतोदितायां, पुनरुपकर्तुं कुतोऽवसरः ॥१॥

निजकरनिकरसमृद्ध्या धवलय भुवनानि पार्वणशशाङ्क ।
सुचिरं हंत न सहते हतविधिरिह सुस्थितं कमपि ॥२॥

अयमवसरः सरस्ते सलिलैरुपकर्तुमर्थिनामनिशं ।
इदमपि सुलभमंभो भवति पुरा जलधराभ्युदये ॥३॥

१. नियतोदयायां ।

कतिपयदिवसस्थायी पूरो दूरोन्नतोऽपि भविता ते ।
१तटिनी तटद्रुपातिनी–पातकमेकं चिरस्थायि ॥४॥

इति आर्याचतुष्टयं कंकणे लेखयित्वा सर्वे पण्डितानां हस्ते बंधयामास ।

यदनस्तमिते सूर्ये न दत्तं धनमर्थिनां ।
[ते] तद्धनं नैव जानामि, प्रातः कस्य भविष्यति ॥५॥

इति भोजकृतदानार्थसम्बन्धः ॥५०७॥

[508] अथ जानुदघ्नं श्रुतिदानसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजा राजपाटिकायां बहिः क्रीडां कृत्वा नदी तीरे समागतः । उत्तीर्णं नदीजलं विप्रं मस्तकदत्तं काष्टभारं वीक्ष्य प्राहेति—

—कियन्मात्रं जलं ? विप्र !

द्विजः प्राह प्रत्युत्तरं--जानुदघ्नं नराधिप ।

राजाऽवग्—ईदृशी किमवस्था ते ? [कथं सेयमवस्था ते ?]

द्विजः प्राह—न सर्वत्र भवादृशाः ।

तस्य चातुर्यं अवस्थां च दृष्ट्वा चमत्कृतो भूपो तस्मै धनं दापयामास ।

लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं, मत्ताश्च दश दंतिनः ।
दत्तं [श्री भोजराजेन] भोजेन तुष्टेन, जानुदघ्नप्रभाषिणे ॥२॥

इति जानुदघ्नं श्रुतिदानसम्बन्धः ॥५०८॥

[509] अथ "यदेतत् चन्द्रान्तर" इति काव्यसम्बन्धः ।

एकदा रात्रौ भोजराजा चन्द्रं दृष्ट्वा पपाठ—

यदेतत् चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते ।
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ॥१॥

तदा भूपगेह [अधोभूमौ] क्वनीवाला स्थितश्चौरो विज्ञो भूपोक्तपदद्वयं । श्रुत्वा प्राहः—

अहंत्विन्दुं मन्ये, त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी—
कटाक्षोल्कापातव्रणशतकलंकाङ्कितततनुम् ? ॥२॥

श्रुत्वैतद् राजा चमत्कृतस्तं स्तेनं धृत्वा चाभयदानं दत्त्वा पप्रच्छ । कोऽसि त्वं किं स्तैन्यं कर्तुमायातः ? ततः स स्तेनो जगौ—अस्मिन् पुरे कृष्णविप्रपुत्रोऽहं चंद्राह्वः पित्रा सर्वाणि शास्त्राणि पाठितः परं गेहे तन्नास्ति यत् भुज्यते । ततः सर्वं कुटुम्बं दुःखितं जातं ।

१. तटद्रुम पातन पातकमेकं ।

पञ्च नश्यन्ति पद्माक्षि ! क्षुधार्तस्य न संशयः ।
तेजो लज्जा मतिर्ज्ञानं मदनश्चापि पञ्चमः ॥३॥

तेन मयोदरपूर्तिहेतोश्चौर्यं कर्तुमारब्धं । राज्ञोक्तं त्वयातः परं स्तैन्यं न कार्यं नरकहेतुम् । सोऽवग्—कुटुम्बं मरिष्यति मम । ततो नृपस्तस्मै दानं दापयामासेति ।

अमुष्मै चोराय प्रतिनिहितवृत्यै [१]प्रतिभिये,
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते ।
सुवर्णानां कोटीर्दशदशनकोटिक्षतगिरीन् ,
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन् मधुलिहः ॥४॥

ततस्तेन स्तेनेन चोर्यकरणे नियमो गृहीतः । ततो राजा दानगर्वं दधानं ज्ञात्वा विक्रमार्कदानवहिकां दर्शयामास—

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते,
बाहुः काकुत्स्थवीर्यः स्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः [२]क्वचिदपि भवतो नैव मुञ्चंत्यजस्रं[३] ;
[४]स्वच्छान्तर्मानसं ते कथमवनिपते क्वाम्बुपानाभिलाषः ॥५॥

एतत् काव्यं कविपार्श्वे श्रुत्वा दानं ददौ तस्मै ।

श्रुत्वेतद् विक्रमादित्यस्तस्मै पंडितमौलये ।
माघायाष्टौ सुवर्णानां कोटिर्दापितवान् मुदा ॥६॥

एतत् दृष्ट्वा राजा गर्वं तत्याज ।

इति यदेतच्चंद्रांतरितिकाव्यदानसम्बन्धः ॥५०९॥

[510] अथ पुनर्हेमलक्षदानं शीतोद्धुपितदानसम्बन्धः ।

अन्यदा राजा रात्रौ शीतकंपितं नरं दृष्ट्वा पप्रच्छ किं कंपो विधीयते, स चाह—

शीतेनोद्धुपितस्य मापफलवच्चिंतार्णवे मज्जतः ।
[५]शीतोग्निः [६]स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम ॥

---

१. मृत्युप्रतिभये । २. क्षणमपि । ३. अभीक्ष्णं । ४. स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते तेम्बुपानाभिलाषः । ५. शान्तोऽग्नि । ६. स्फुरिताधरस्य ।

[513] अथ माणुसडां दस दस हवइ सम्बन्ध.

एकदा राजा एकां स्त्रियं दुःखिनीं दुःस्थां दृष्ट्वा प्राह—किमीदृशी अवस्था ? लक्ष्मीने .. सा प्राह—

१माणुसडां दस दस हवइ देवेहिं निम्मिवी [दी] आइं ।
मज्झकं तेह एकहि दसा, नव चोरे हरी आइं ॥१॥

ततो राजा बीजपूरमध्ये लक्ष्यमूल्यरत्नद्वयं क्षिप्त्वा तस्यै दापयामास । तया ध्यातमनेन भक्षितेन किं, विक्रीय धान्यमानीयते । ततो वणिजे ददे, तेन च सार्थवाहाय, सोऽपि प्राभृतीचकार भूपाय । भूपो बीजपूरमुपलक्ष्य प्राह—

हेल[illegible] महल्ल कल्लोल पिल्लिअं जइवि गिरिनई पत्तं ।
अणुसरइ मग्गलग्गं पुणोवि रयणायरे लग्गं ॥२॥

ततो राजा तां स्त्रियमाकार्य रत्नव्यतिकरं कथयित्वा प्राह—

यच्च त्वयोक्तं 'मम भर्तुरेकैव दशा' सत्या बीजपूरमध्ये रत्नादर्शनात् । ततो राज्ञा बहुधनं कृपया दापितं ।

इति माणुसडां दस दस हवइ इति संबंधः ॥५१३॥

[514] अथ क्रीडाचंद्रछान्दसब्राह्मणागमनसम्बन्धः ।

एकदा परदेशात् क्रीडाचन्द्रकविर्भोजस्य मिलनायागात् । राजा सभायामुपविष्टः । पण्डिताः सर्वे मिलिताः । क्रीडाचन्द्रकविस्तत्रागतः । आशीर्वादं ददौ—

बल्यरिक्रत्वरी पातां सांबु व्यम्बु घनोपमौ ।
सदृशौ काकपकाभ्यां तवैहतु तवैह तु ॥१॥

बलेः अरिः कृष्णः इति बल्यरिः । क्रतोः अरिः इति क्रत्वरि (शंकरः) । बल्यरिश्च क्रत्वरिश्च इति बल्यरिक्रत्वरी (कृष्णशंकरौ) अम्बुना सहितः सदृशो वा इति साम्बुः । विगतं अम्बुः इति व्यम्बुः । सांबुव्यम्बुश्चासौ घनश्च इति साम्बुव्यम्बुघनः, तदिव उपमा ययोस्तौ तवैहतु (तवेप्सितं) ।

ततो मुख्यपण्डितोऽवग् वर्षाकालो वर्ण्यताम्—

वर्षाकाले प्रणाले खलह [ख] लमुदकं याति खाले विशाले ।
चिक्खिल्ले लिप्सयित्वा खडहडपडीओ लंब२ गुड्डो मणुस्सो ॥
चुल्लीं गेहस्स३ मज्झे खर खर खनते कुकरो घुघुरंतो ।
सुन्नागारस्स मज्झे टहरित करणो रासभो रारटीति ॥२॥

---

१ माणुसडां दस दस दसा सुणियइ, लोयपसिद्ध. मह कन्तह इक्क ज दसा अवरि ते चोरहिं लिद्ध।
२ लंबगुंडो मनुष्यः । ३ गेहस्य मध्ये ।

कतिपयदिन[illegible]ता पंडिता वर्ण्यतां, ततः क्रीडाचंद्रेण वर्णितेति। सीता पंडिता—

सीता सुरूपा तरुणी–रुणी–रुणी,
मुखं च चंद्र–प्रतिमं–तिमं–तिमं ।
स्तनौ च पीनौ कठिनौ–ठिनौ–ठिनौ,
कटिर्विशाला–रभसा–भसा–भसा ॥३॥

ततो हसितं सर्वैरहो कवित्वमस्य । ततः पुनः क्रीडाचंद्रस्तेषां मदोत्तारणाय प्राह आशीर्वादं ।

च्युतां चान्द्रीं लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं,
द्वयं चन्द्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया ।
अवोचद्यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा,
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥४॥

ततो नृपेण दत्ते सिंहासने क्रीडाचन्द्रोपवेशाय, पंडिताः प्रोचुरस्य भूमिरेव दीयतामुपवेशाय। ततः क्रीडाचन्द्रोऽवग्—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा—
मिह [हि निहितभारा] निवसति लोकः सागराः सप्त चैते,
इदमतुलमनंतं भूतलं भूरि भूभृत ।
भर भरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम् ॥५॥

ततः सर्वे चमत्कृताः । ततः पुनरपि वर्षावर्णनं दत्तं, स चाह—
नृत्यद्बर्हिषि दुर्दरारवपुषि प्रक्षीणपांथायुषि,
चंचद्विप्रुषि [च्योतद्विप्रुषि] चन्द्ररुग्मुषि सखे हंसद्विषि प्रावृषि ।
मा मा मुंच कुचाग्रसन्ततपतद् वाष्पाकुलां[1] [विगलद्वाष्पाकुलां] च कां,
काले कालकरालनीलजलदव्याप्तसूर्यत्विषि भास्वत्त्विषि] ॥६॥
तदा पण्डितैरुत्तरार्द्धं दूषितं । ततस्तेनार्थः सम्यग् व्याख्यातः । पुनः वर्षा वर्णिताः—
दिशां हाराकाराः शमितशमभारा [श्च शमिनां] इव मुने,—
रशुची संचारा कृतमदविकाराश्च शिखिनां ।

1. विगलद्वाष्पाकुलां । 2. भास्वत्त्विषि ।

हृताध्वन्यापारास्तुहिनकणसारा विरहिणी,
मनः क्षीर्णागाराः किरति जलधारा जलधरः ॥७॥

ततः क्रीडाचन्द्रः सर्वाणि काव्यानि व्याख्यायामास। राजा चमत्कृतः भूरि दानं ददौ। क्रीडाचन्द्रं कविं मान्यमानं दृष्ट्वा वेदविदो विप्रा ईर्ष्यापराः क्रीडाचन्द्रं जेतुं राजद्वारे समागताः। यतः—

ब्राह्मणा गणका वेश्याः, सारमेयास्तपोधनाः।
परस्परं विरुद्ध्यन्ति, न जाने तत्र कारणं ॥८॥

ततः प्रतीहारो द्विजानामागमनं भूपपार्श्वे प्राहेति—

राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः।
तिष्ठन्ति द्वारि राजेन्द्र छांदसा श्लोकशत्रवः ॥९॥

राज्ञाकारिताः सभामध्ये समागताः। भूपोऽवग्–वर्ण्यतां चन्द्रोदयः। ते जगुश्चिरं विमृश्येति—

चन्द्रोदयस्य माहात्म्यं, वर्ण्यते किमतः परं।
श्रोत्रियोऽपि दिवा भ्रांत्या, मूत्रयत्युत्तरामुखं ॥१०॥

ततो द्वितीयेन्दुर्वर्णितुमर्पितः ततस्ते चिरं परस्परं कर्णयोर्लगित्वा लगित्वा प्रोचुः—

अयं चंदो वट्टुलउ मंडकाकारसुन्दरः।
सोहेइ मणं मोहइ अम्हं तुम्हं न संदेहो ॥११॥

सभा हसिता। ततो राजाऽवग् यूयं मुधा विज्ञानामुपरि गर्वं तनुतां, भवतां वेदभणनेऽधिकारः, ततः कृपया दानं दत्तं तदा क्रीडाचन्द्रो भूपोक्तमश्वं वर्णयामास।

पादाः कन्दुकवत् स्थितिश्च गिरिवत्, संस्फालनं सिंहवत्।
नेत्रे नीरजवत्, जवः पवनत्, हेपारवो मेघवत् ॥
विन्यासस्तटवत् मुखं कुलवधूवक्त्रेंदुवत् वाजिनः।
क्षोणीशस्य वशत्वमेव नृपते, साम्राज्यमुर्वीपतेः ॥१२॥

इति क्रीडाचंद्रछांदस ब्राह्मणागमनसम्बन्धः ॥५१४॥

[515] अथ विद्वत्कुटुम्बसम्बन्धः।

विद्वत्कुटुम्बकं स्वस्थानात् भोजपार्श्वे गन्तुं मार्गे चचाल यदा तदैको बुधः प्राह मिथः।

विद्वन् वद क्व चलितोऽसि समग्रविद्या,
पारंगमं कलयितुं किल भोजराजं ।
वेत्त्यक्षराणि न हि वाचयितुं स राजा,
मह्यं ललाटलिखितादधिकं ददौ यः ॥

ततो हृष्टं अवन्तीसमीपे गतं। तत्र कुटुंबं मुक्त्वा पुरीमध्ये गन्तुं विद्वान् चचाल। रजकं वस्त्रं क्षालयन्तं प्रति प्राह सः—अस्मिन् पुरे का का वार्ता, कीदृक् पुरं विद्यते, स रजको जगौ।

अश्वा वहन्ति भवनानि सतोरणानि, गावश्चरन्ति कमलानि सकेसराणि ।
पीतं[1] दधिर्नास्ति तिलेषु तैलं, प्रासादशृंगेषु[2] मृगाश्चरन्ति ॥१॥

विद्वान् दध्यौ रजकोऽपि विज्ञः ततोऽग्रे पुरद्वारे बालिका पृष्टा तेन, त्वं कस्य पुत्री ? साऽवग्—

मृतका यत्र जीवंति निःश्वसंति गतायुषः ।
स्वगोत्रे कलहो यत्र तस्याहं कुलबालिका ॥२॥

(लोहकार-पुत्री)

ततो दक्षिणद्वारे बालिकैका मिलिता पृष्टा तेन, त्वं कस्य पुत्री, सा प्राह—

पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः ।
चलते वायुवेगेन तस्याहं कुलबालिका ॥३॥

(कुम्भकार-पुत्री).

स चमत्कृतः पश्चिमद्वारे पूर्ववद् बालिका पृष्टाऽवग्—

सस्नेहा यत्र निस्नेहा भ्रमंति भ्रमवर्जिताः ।
त एव स्नेहदा लोके तस्याहं कुलबालिका ॥४॥

(चाक्रिकस्य—रथकारस्य पुत्री)

उत्तरदिक् बालिका पृष्टा घटे किमस्ति—

मदः प्रमादः कलहोऽतिनिद्रा, विवेकविज्ञानकलाक्षयश्च ।
महत्त्वकीर्तिक्षतिरर्थनाशो, ऽसत्यं दोषगणो घटेऽस्मिन् ॥५॥

(मदिरा३)

१. पीतं च यत्र दधि, (२) प्रासादवारशिखरेषु ।

३. विहिता निर्विषा नागा, देवाः शक्तिविवर्जिताः । द्रुमाच्छायाविहीनाश्च, तस्याहं कुलबालिका । (असि-पुत्री) ग्रीवा नास्ति, शिरो नास्ति, हस्तौ कार्यविवर्जितौ । स जीवो मानुषं खादेत्, तस्याहं कुलबालिका (किंपाक-फलम्) इत्यपि क्वचित् ।

एवं स्थाने स्थाने बुधान् जनान वीक्ष्य सायं बुधः स्वकुटुम्बपार्श्वे समागात्, रात्रौ वाटिकायां स्थितो, वाटिकां पल्लवितां दृष्ट्वा मालिको हृष्टो भूपपार्श्वे विद्वत् कुटुम्बागमनं प्राह। ततो राज्ञा स्वं पंडितं विद्वत्कुटुम्बपरीक्षार्थे प्रेषयामास। स च भिक्षुर्भूत्वा तत्र गत्वा प्राह—

भिक्षां मे पथिकाय देहि सुभगे [*पुत्रपत्नी प्राह*] हा हा गिरो निष्फलाः।
[*भिक्षुः प्राह*] कस्माद् ब्रूहि सखे [*विप्रपत्नी प्राह*] प्रसूतकमभूत् [*भिक्षुःजगौ*] कालः कियान् वर्तते॥
[*पुत्रोऽवग्*] मासः, [*भिक्षुः प्राह*] शुद्धिरभूत् [*पत्न्योक्तं*] न शुद्ध्यति विभो प्रोद्भूतमृत्युं विना।
[*भिक्षुः प्राह*] को जातो [*तयोक्तं*] मम सर्वविचहरणो दारिद्रनामा सुतः ॥६॥

भिक्षुश्चमत्कृतोऽवग् भो पण्डित! तव कुटुम्वं विद्वत्, शेषाः परपरिग्रहाः गोशतादपि गौक्षीरं, मानं मूढशतादपि मन्दिरे मंचकस्थानं शेषाः [पण]।......

ततः स भूपपंडितः प्रकटीभूय प्रशशंस। अहं युष्माकं परीक्षां कर्तुमागां ततो विद्वत्-कुटुंबं भूपतेर्मेलितं भूपतिस्तेषां वचनाद् हृष्टः प्राह अस्य वासाय गृहं दाप्यतां। ततः स भूपभृत्यो विद्वत् कुटुम्बवसनाय प्रथमं लुब्धकगृहे गत्वा लुब्धकपत्न्या अग्रे प्राह—यूयमन्यत्र वसथ, अत्र विद्वत् कुटुम्वं स्थास्यति। लुब्धकपत्नी-एतदेव विद्वत् कुटुंबं विद्यते? अहमपि वक्तुं जानामि। ततः सा मांसपिण्डं हस्ते लात्वा भूपपार्श्वे गता। प्रत्युत्तररूपं काव्यं जिजल्पिषुरवादीत्—

देव! त्वं जय कासि लुब्धकवधूर्हस्ते किमास्ते[१] पलं।
क्षामं किं सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यस्ति ते कौतुकं॥
गायंति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनी-तीरेषु सिद्धांगना।
गीतान्धा न चरंति भोजहरिणास्तेनामिषं दुर्बलं ॥७॥

ततस्तंतुवायगृहदापितं तंतुवायोऽपि—

काव्यं करोमि न च चारुतरं करोमि,
यत्नत्करोमि न च[२] शुध्यति किं करोमि,।
भूपालमौलिमणि[३]चुम्बितपादपीठ,
[४]श्रीभोजराज कवयामि वयामि यामि ॥८॥

ततो राज्ञोक्तमन्यद् गृहं दीयतां पण्डितोऽवग् पुरमध्ये सर्वे विद्वांस एव विद्यन्ते। अत्रान्तरे एको विप्रः प्राह—एतद् विद्वत्कुटुम्बकं न वेत्ति किमपि, यतः—

---

१. किमेतद्। २. सिध्यति, ३. लालित, ४. श्री साहसाङ्क,

ब्राह्मणजातिरनीर्ष्यालुर्वणिग्जातिरवंचकः ।
प्रियाजातिरनीर्ष्यालुः शरीरी च निरामयः ॥९॥

ततः "स्त्रीपुंवच्च" प्रभवतीत्यादिजल्पकदेवताधिष्ठितं गृहं शून्यं तस्य वासाय दत्तं । यदा स तत्र गत्वा रात्रौ स्थितो बुधः तावत्स यक्षः प्रत्युत्तरप्रदानाय काव्यस्य आद्यं प्राह—

स्त्री पुंवच्च ! प्रभवति यदा [१]तस्य गेहं विनष्टं ।
वृद्धो यूना ! सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभिः ॥
सर्वस्य द्वे ! सुमतिकुमती[२] पूर्वकर्मानुचीर्ण्णे ।
एको गोत्रे ! स भवतु पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति ॥१०॥

चतुर्षु प्रहरेषु काव्यं निष्पन्नं । यक्षो हृष्टस्तद्गृहं तत्याज । विद्वत्कुटुम्बं तत्रोवास ।

इत्यादि विद्वत्कुटुम्बसम्बन्धः ॥५१५॥

[616] अथ नवीनधारा स्थापनसम्बन्धः ।

एकदा भोजो नवीनं पुरं स्थापयितुं वर्यां भूमिं ज्ञातुं पटहं वादयामास । एका धारावेश्या पटहं स्पृष्ट्वा यानमारुह्य लंकायां गत्वा लंकास्थितिं विलोक्य पश्चादागत्य प्राह—यदि मन्नाम दीयते तदाहं शूरां भूमिं दर्शयामि । ततो राज्ञा मानिते तया भूमि दर्शिता । तत्र वेश्या नाम्ना नवीन धारा स्थापिता वासिता भूपेन । इति नवीनधारास्थापनसम्बन्धः ॥५१६॥

[517] अथ एकेन बूडतीति सम्बन्धः ।

एकदा भोजसभायां एकः पुमान् आयातः । स पृष्टः किं त्वयाश्चर्यं दृष्टं ? स प्राह कांतीपुर्यां एकेन महेभ्येन महत्सरः कारितं, वारिणा भृतं, एकं मस्तकं जलान्निर्गच्छति वक्ति च एकेन ब्रूडति । ततो राज्ञा पृष्टाः पंडिताः अर्थं न जानन्ति । ततो दूरे भ्रमन्नेकः पण्डितो मरुस्थल्यां गतः । तत्रैकस्मिन् ग्रामे वृद्ध पुं[सो]मिलितस्तस्याग्रे वार्त्ता कथिता । स प्राह एष श्वानो गृह्यतां तव लक्षद्रम्मान् दापयामि । ततः स द्विजोऽनिशं स्नानकारी तं श्वानं स्कन्धे वहति तत्र पुरे समायातः । ततो भूपेन स (पण्डितः) पृष्टः वृद्धः प्राह—लोभेनैकेन ब्रूडति । राज्ञोक्तं कथं सोऽवग् धनलोभेनानेन श्वानः स्कन्धे न्यूढः । ततो मस्तकं गतं राज्ञः समीपात् लक्षं दापितं वृद्धेन तस्मै । इति एकेन ब्रूडतीत सम्बन्धः ॥५१७॥

[518] अथ माघसम्बन्धः ।

श्रीमाल्पुरे मुकुन्दपण्डितस्य पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सवं कृत्वा वर्षशतमायुर्ज्ञात्वा षट्त्रिंशति सहस्राणि दिनानि ज्ञात्वा तावत्संख्यानि नाणकहारकानि पुत्रस्यार्थे कृतानि दिनं प्रत्येकं हारं

१. सदा २. संपदां पत्तिहेतू ।

व्ययिष्यति । ततः पितरि मृते स सशिखं हारं व्ययन् वृद्धत्वे दरिद्रयभूत् स माघपण्डितः एकं काव्यं भोजराजपार्श्वेऽप्रैषीत्—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदंभोजखण्डं, त्यजति [1]मदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं, हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥६॥

अस्य काव्यश्रुतेर्भोजो नवनवतिलक्षान् ददौ । तदपि माघऔदार्यत्वाद् ददौ ।

इति माघसम्बन्धः ॥५१८॥

[519] अथ धनपालश्राद्धभवनसम्बन्धः ।

अवन्त्यां लक्ष्मीधरविप्रस्य द्वौ पुत्रौ जातौ । एको धनपालो द्वितीयः शोभनः । एकदा तस्य गृहे न्यस्तो निधिर्बहुविलोकितो न लभते, तदा गुरुपार्श्वे निध्यप्राप्तिस्वरूपं कथितं लक्ष्मीधरेण । यदि मे निधिर्लभ्यते तदाहमेकस्य पुत्रस्य दीक्षां दापयामि । ततो गुरुणा दर्शितो निधिः । ततः शोभनस्य दीक्षा दापिता । शोभनो विद्वान् जातः क्रमात् पितरि मृते धनपालः पंचशतपंडितमध्ये मुख्योऽजनि । स्वं भ्रातरं गुरुणा दीक्षितं श्रुत्वा मिथ्यात्वग्रसितः साधून् पराभवति । ततः साधवस्तत्र अवंत्यां पुरि न यान्ति ।

इतः एकस्मिन् पुरे गुरवः प्राप्तास्तदा गुरवः साधून् तीर्थं च स्मारयन्ति । अवंती नाम न गृह्णन्ति । तदा शोभनोऽवग् अवन्त्याः कथं नागतं ? गुरुभिः प्रोक्तं-तव भ्राता दुष्टः साधूनां पराभवं करोति । ततः शोभनो गुरूनापृच्छ्य अवन्त्यां स्वभ्रातुः प्रबोधायाचालीत् ।

ततोऽवन्त्या द्वारे यावन्गतः तावद् धनपालः संमुखो मिलितः । धनपालो हास्यात्प्राह, "गर्दभदंत भदंत नमस्ते ।" साधुः प्राह-मर्कटकास्यवयस्य ? सुखं ते । ततश्चातुर्यं ज्ञात्वा धनपालोऽवग्, कस्य प्राघूर्णिकः ? साधुः प्राह, तवैव । ततः स्वगृहे उत्तारितः धनपालेन गोष्ठि कृता । शोभनवचसा प्रीणितोऽवग्—तव काप्यस्ति सांसारिक वर्गः । साधुः प्राहात्रैव । ततो धनपालेनोपलक्षितो भ्राता गृहे विहर्तुमाकारयन् मोदका आनीता यदा तदा साधुना कस्मान्मक्षिका मृता दृष्टा, ततः प्रोक्तं, न कल्पन्तेऽमी । धनपालोऽवग् विषमस्ति ? साधुनोक्तं विषमत्र विद्यते । ततो ज्ञातं परंपरया वैरिक्षिप्तं विषं, दधि आनीतं । साधु प्राह कियद्दिनीयं । पंडितोऽवग्, त्रिदिनीयं ? इदमपि न कल्पते बुधोऽवग् अत्र किं जीवाः सन्ति ? ततः साधुना आलक्तकं प्रदानात् श्वेताः सूक्ष्मजीवाः दर्शिताः । ततोऽन्यद् प्रासुकं आहारं ददौ । बुधो दध्यौ मया ग्रन्था बहवो भणिताः परं न ज्ञाता जीवाः कुत्रोत्पद्यन्ते । स धनपालः श्राद्धोऽभूत्सम्यक्त्वं जग्राह । तदा शोभनभ्रातुः पार्श्वे शोभनपण्डितकृताः शोभनस्तुत्यादिग्रन्थाबहवोऽन्ये च सिद्धान्ताद्याश्रिता ग्रन्थाः धनपालेन पेठे । ततो जैनधर्मस्वरूपमवगत्य जय जंतुकप्पपायवेत्यादि बहवो ग्रन्थाः धनपालेन चक्रिरे ।

इति धनपालश्राद्धभवनसम्बन्धः ॥५१९॥

---

१. मुद

[520] अथ धनपालपंचाशिकादिग्रन्थान् बबन्ध इति सम्बन्धः ।

क्रमाद् राज्ञा धनपालः श्रावको जातो ज्ञातस्तत्परीक्षणार्थं पुष्पभृतां छब्बां ददौ धनपालहस्ते, प्राह च देवान् सर्वान् पूजय। स च सर्वान् प्रपूज्य समागतः । राज्ञा पृष्टं, देवाः पूजिताः। धनपालः प्राह, यत्रावसरोऽभूत् तत्र देवाः पूजिताः । राजावग् अवसरः कुत्राऽभूत् कुत्र न ? ततः स प्राह कृष्णपार्श्वे पत्नीं दृष्ट्वा शंभोः पार्श्वे पार्वतीं, सूर्यपार्श्वे सावित्रीं, ब्रह्महस्ते जपमालां दृष्ट्वा ऋषभदेवं तु स्त्र्यादिरहितं दृष्ट्वाहमपूजयम्, ततो राज्ञा ज्ञातं धनपालः श्राद्धोऽभूत्। ततः प्रभुं पूजयित्वा धनपालः पठति ।

कतिपयपुरस्वामी क्षायव्ययैरपि दुर्ग्रहो, मतिवितरता मोहेनासौ मयानुसृतः पुरा ।
[1]त्रिभुवनगुरुर्बुद्ध्याराध्योऽधुना स्वपदप्रदः प्रभुरधिगतस्तत्प्राचीनो दुनोति दिनव्ययः॥१॥

सव्वत्थ अत्थि धम्मो [2]जाव न पत्तं जिणिंदसासणं ।
कणगाउराण कणगं व ससियपयं अलभमाणाणं ॥२॥

ततो धनपालः सर्वमिथ्यात्वं त्यक्त्वा जिनधर्म्मं चक्रे ।

इति धनपालपंचाशिकादिग्रन्थान् बबन्ध ॥५२०॥

[521] अथ हरिणवध-सरोवरवर्णन-यज्ञछागवर्णन धनपालसम्बन्धः ।

अन्यदा भोजभूपः पंचशतीपण्डितयुतः पापर्द्धिगतः तत्र एकं हरिणं एकेन बाणेन हतवान् राजा । ततः पण्डितैः सर्वैः राजा वर्णितः । धनपालस्तदा प्राह—

रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान् ।
निहन्यते यद् बलिनापि [ति] दुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥१॥

राजा रुष्टः पण्डितस्य दृष्टौ दृष्टिं ददौ । ततो राजा तटाके गतस्तत्रापि तटाके वर्णितेऽन्यपण्डितैः, धनपालः प्राह—

एषा तटाकमिषतो वत[वर]दानशाला, मत्स्यादयो रसवती प्रगुणा सदैव ।
पात्राणि यत्र बक-सारस-चक्रवाकाः, पुण्यं कियद्भवति तत्र वयं न विद्मः ॥२॥

तत्रापि द्वितीयदृष्टौ दृष्टिं ददौ । ततो यज्ञे एकश्छागो हन्तुमानीतोऽस्ति । स च ब्बू ब्बू करोति स्म । तदा सर्वैः पण्डितैः स वर्णितः । ततो राजाऽवग् पण्डितं । अयं किं कथयन्नस्ति ? धनपालः प्राह—

नाहं स्वर्गफलोपभोगरसिको नाभ्यर्थितस्त्वं मया,
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं, साधो ! न युक्तं तव ।
स्वर्गे[र्गं] यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो,
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥३॥

राजा विशेषतो रुष्टः धनपालस्य चक्षुषी कर्षयितुं ध्यातवान् । धनपालः राज्ञः मनो जज्ञौ । राजा यावत्पुरद्वारे समागच्छति तावदेका वृद्धा नारी अंधा बालिकाहस्तविलग्ना कम्पमाना संमुखी आगता । तदा राज्ञोक्तं भो पण्डिता ! इयं जरती वर्ण्यताम् । ततः स्वस्वबुद्ध्या पण्डितै-रन्यैर्वर्णितायां तस्यां भोजोक्त धनपालः प्राह—

एषा अन्धा स्त्री तु पृच्छति, बालिका प्रत्युत्तरं दत्ते । राज्ञोक्तं किं पृच्छति स्त्री, बालिका किं वक्ति च, धनपालोऽपाठीत्—

किं नन्दी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं नलः किं कुबेरः,
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं विधुः किं विधाता ।
नायं नायं न चायं न खलु न हि नवा नापि नाऽसौ न चैषः,
क्रीडा कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि च हले भूपतिर्भोजदेवः ॥

अमुं काव्यं श्रुत्वा भोजः प्रसन्नः प्राह, मार्गय । पण्डित धनपालोऽवग् , दृष्टी देहि मामकीने मह्यं । राजाऽवग् तव दृष्टी तव पार्श्वे स्तः । धनपालोऽवग् स्वामिस्त्वया तु हरिणीवधे सरोवरवर्णने च मम दृष्टी कर्षितुं वांछिते स्तः । ततो राजा हृष्टो दृष्टी दत्वा कोटिदानं ददौ, प्राह च न्यायेन त्वं सर्वज्ञपुत्रो जातः श्राद्धभवनात् ।

इति हरिणवध–सरोवरवर्णन–यज्ञछागवर्णन–धनपालसम्बन्धः ॥५२१॥

[522] अथ धनपालविरचिततिलकमंजरीसम्बन्धः ।

एकदा भोजभूपेन धनपालः पृष्टः तवाधुना किं वैयग्र्यं विद्यते ? पण्डित आचष्टे अधुना मया श्रीऋषभदेवचरित्रं वध्यते । तेन मम परिवारो [व्यग्रं] विद्यते ततो यदा क्रमात् पूर्णं चरित्रं जातं ततो राज्ञोक्तं वाचय ममाग्रे । ततो धनपालः प्रथमं प्रति भोजभूपाग्रे वाचयितुमुपविष्टः । तत्र चरित्रस्यार्थं शृण्वन्भोजोऽमृतमिव श्रुतपुरैः पिबन् दध्यौ—अस्य चरित्रस्यार्थरसो मा भूमौ पततु एवं ध्यात्वा पुस्तकस्याधः स्वर्णकचोलकं मंडयामास राजा । चरित्रार्थरसं भूपः पिबन् दिनं निशामपि व्यतीतान् नैव जानाति, प्रीणितः सुधयेव तु संपूर्णं चरित्रं श्रुत्वा राजा जगौ—यदि अयोध्यानगरीस्थाने अवन्तो स्थाप्यते भरतचक्रिस्थाने मां स्थापय । शक्रावतारतीर्थस्थाने महाकालप्रासादं स्थापय, आदिदेवस्थाने ईश्वरं स्थापय तदायं ग्रन्थो वर्यो भवति स्वर्णं सुरभिवत् एवं चेत्त्वं कुरु तदा तुभ्यं कोटिस्वर्णस्य दीयते । श्रुत्वैतद् वचनं वज्राहत इव क्षणं भूत्वा जगौ धनपालः—

मेरुसर्षपयोः हंसकाकयो खरतार्क्ष्ययोः । अस्त्यन्तरमवन्त्यादेरयोध्यादेश्च भूपतेः ॥१॥

एवं वदतस्तव जिह्वा त्रुटिता न ततो रोषेण प्राह पण्डितः—

दोमुहय निरक्खर लोहमईय नाराय तुज्झ किं भणिमो ।
गुञ्जाहि समं कणयं, तोलंतो किं न गओसि पायालं ॥२॥

इत्याद्युक्तौतां प्रति वह्नौ चिक्षेप। ततो दूनेन नृपेणोक्तं भो पण्डित किमीदृक्षमविमृश्य त्वया कृतं, एवंविधं चरित्रमिदानीं कोपि कर्तुं न शक्नोति । मया तु शिवभक्तेनैवं जल्पितं दृष्टिरागत्वात्, यतः—

"दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदःसतामपि ।" त्वं तु जैनधर्मज्ञोऽसि, तेन तव जैनमतं रोचते पुनर्मयाऽऽसरो न ज्ञातोऽधुना कस्य किं रोचते । धनपालोऽवग् मया ध्यातं राजा तु सर्वतत्त्वज्ञो विद्यते । कथमेवं वक्ति अतो मम रोषो जज्ञः । तेन रोषेणैवं कृतं मया रोष-चाण्डालः किं किं न करोति, यतः—

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

तत उत्थाय कृष्णमुखः स्वगृहे समागतः पण्डितः । पुत्र्या तिलकमंजर्या पृष्टं तात ! किं दुःखं, पित्रा प्रोक्तुं स्वचेष्टितं मया तु रभसा प्रथमप्रतिर्वह्नौ क्षिप्ता रुषा, सहसा न विमृष्टं। पुत्री प्राह लिख्यतां ग्रन्थः मम मुखे समेति । मया पूर्वमेकशो वाचितोऽभूत् । ततो हृष्टः पण्डितः पुत्रीमुखात्पुनः प्रतिलिखित्वा तस्य चरित्रस्य तिलकमंजरीति नाम दत्तं । ततः क्रमात् तिलकमंजर्या पंडितपुत्र्या एकसंधिकया ग्रन्थः कथितः। पितुः पुरः एवं ज्ञात्वा भूपोऽपि जगौ साक्षात्सरस्वती सा या एवं वेत्ति ततो राज्ञा द्वितीयनाम सरस्वतीति दत्तम् ।

इति धनपालविरचिततिलकमंजरीसम्बन्धः ॥५२२॥

[523] अथ "धर्मो जयति नाधर्म" इत्यादिसम्बन्धः ।

ततोऽन्यदा रुष्टो धनपालोऽन्यत्र ग्रामे गतः । अन्यदा भोजसभायां धर्म्मनामा पण्डितो विद्वान् विदेशात् वादं कर्तुं समागतः। स च पञ्चवर्गेण वादं कर्तुं प्रतिज्ञां चक्रे । यः सभायां विज्ञो भवति स मया समं वादं करोतु । यदा कोऽपि तेन समं वादं कर्तुं न शक्नोति तदा धनपालः स्मृतः । ततः स्वमुख्यमंत्रिणं धनपालमाकारयितुं प्रेषितः । धनपालः सन्मान्य समानीतो भोजपार्श्वे । भोजेन मानितो बहुमानदानात्, प्रोक्तं च यन्मया अवन्तीस्थाने अयोध्या स्थापयेत्यादि जल्पितं तत् क्षम्यताम् । ततो मिथो द्वाभ्यां क्षमितं । सभायां धनपालधर्मपण्डितौ समागतौ, मिथः प्रथमं कुशलालापादि कृतम् । ततो धनपालः प्राह आवाभ्यां वादः करिष्यते, केन संस्कृतेन प्राकृतेन वा पंचवर्गपरिहारेण पंचवर्गेण वा ? ततो धर्मो दध्यौ अधुना वक्तुं न युक्तं, ततः प्राह कलये आवाभ्यां वादः पंचवर्गेण करिष्यते । ततः स्वस्वस्थाने गतौ, रात्रौ धर्मो दध्यौ–धनपालस्य भारती तुष्टास्ति जैनग्रन्थस्यापि पठने अभ्यासोऽस्ति । तेन यदि वादे हारयिष्यते मया तदा

१ रुषेति ।

मम का गतिः। ततो रात्रावेव नष्टो धर्म्मः। प्रातः राजा सभायां वादं श्रोतुमागतः। धर्मं पण्डितं नष्टं श्रुत्वा धनपालोप्यागतः। यदा राज्ञा धर्ममाकारयितुं जनः प्रेषितः धर्म्मो न लब्धः, नष्टो ज्ञातः तदा धनपालः प्राह—

धर्मो जयति नाधर्म्म इत्यलीकं कृतं वचः।
इदं च सत्यतां नीतं धर्म्मस्य त्वरिता गतिः ॥१॥

ततो जयजयारावो जातः। धनपालागमनादेव धर्मपण्डितो नष्टः।

इति "धर्मो जयति नाधर्म" इत्यादिसम्बन्धः ॥५२३॥

[524] अथ चौरवलयदाने भोजसम्बन्धः।

एकदा भोजः कस्यचिद् द्विजस्य रोरस्य गृहसमीपे रात्रावेकाकी समागात्। तदा एकः स्तेनः तस्मिन् [गृहे] प्रविष्टः तदा ब्राह्मणी प्रबुद्धा पतिं प्रति प्राह—

वासः खण्डमिदं प्रयच्छ, यदि वा स्वाङ्के गृहाणात्मजं।
रिक्तं भूतलमत्र नाथ ! भवतः पार्श्वे पलालोच्चयः॥
दम्पत्योरिति संकथा निशि यदा चौरः प्रविष्टः तदा।
लब्धं [१]कार्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन् निर्गतः ॥१॥

वहिरागतश्चौरः प्राहोच्चैः स्वरं ब्राह्मणं प्रति–निजउदरपूरणेऽपि हि न समर्था येऽवतारिता किं तैः। विप्रोऽवग्—सुसमर्थैरपि किं तैर्ये न परोपकारिणो ऽत्र। ततः तस्मै तस्कराय राजा निजं वीरवलयं ददौ प्राह–इदं बहुमूल्यं कृपया मया तुभ्यं दत्तं यतः—

चौरस्य करुणं ज्ञात्वा भोजः प्रमुदितो निशि।
ददौ स वीरवलयं रयात् कुवलयेश्वरः ॥२॥

इति चौरवलयदाने भोजप्रबन्धः ॥५२४॥

[525] अथ खण्डप्रशस्तिकाव्यानयनसम्बन्धः।

एकः कोऽपि यानवाहकः समुद्रमध्ये यानारूढो चलत् यानं स्खलितं। तत्रैका भित्तिर्दृष्टा, सा च लंकायाः। ततस्तत्रजलेऽपसरिते काव्यानि खण्डप्रशस्तिसम्बन्धीनि ददर्श। तथाहि—

मत्स्यः कूर्म्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च [ते] वै दश ॥१॥ *इत्यादि*

१–वस्त्रम्।

मेरुसर्षपयोः हंसकाकयो खरतार्क्ष्ययोः । अस्त्यन्तरमवन्त्यादेरयोध्यादेश्च भूपतेः ॥१॥

एवं वदतस्तव जिह्वा त्रुटिता न ततो रोषेण प्राह पण्डितः—

दोमुहय निरक्खर लोहमईय नाराय तुज्झ किं भणिमो ।
गुञ्जाहि समं कणयं. तोलंतो किं न गओसि पायालं ॥२॥

[527] अथ कपालत्रयपरीक्षासम्बन्धः ।

एकदा पत्तनाद् डामरमन्त्री भोजभूपपार्श्वे कपालत्रयमानीतवान् । राजाऽवग्-मंत्रिन् । किमर्थं इदमानीतमस्ति ? मन्त्री प्राह, स्वामिनः सन्ति बहवो बुधास्ते परीक्षामेतेषां कुर्वन्तु । यदा कोऽपि न वेत्ति तदा डामरेण एकस्य कपालस्य कर्णे दवरकः क्षिप्तो वक्त्रेण निर्गतः, द्वितीयस्य कर्णे क्षिप्तः कर्णेऽन्यस्मिन् निर्गतः । तृतीयस्य कर्णे क्षिप्तः कण्ठे निर्गतः । ततो डामरोऽवग्, भावार्थोऽस्य कथ्यतां । यदा कोऽपि न वेत्ति तदा डामरः प्राह । १-यस्य कर्णे गुणः क्षिप्तः वक्त्रेण निर्गतः तस्य कपर्दिमूल्यं । श्रुतमात्रस्य दोषादेर्यथा तथा जल्पनाद् । २-योऽस्य गुणः कर्णे क्षिप्तः कर्णे निर्गतः तस्य लक्षमूल्यं, यतो दोषं विस्मारयति श्रुतमश्रुतं करोति । ३-यस्य गुणः कण्ठे क्षिप्तः कण्ठस्याऽधो गतः तस्य मूल्यं न, यतो हृदये दोषादि स्थापयति । एवं त्रिविधाः मनुष्याः कपालसदृशा भवन्ति, अतो भूपतिभिरन्यैरपि लोकैर्वेयकपालवत् स्थेयं । इति कपालत्रयपरीक्षासंबंधः ॥५२७॥

[528] अथ भर्तृहरिवैराग्यसम्बन्धः ।

अवन्त्यां भर्तृहरिराजराज्ये एको विप्रो मुकुंदो निःस्वो देवीं लक्ष्मीहेतवे आरराध । तया तुष्टया तस्याल्पपुण्यं मत्वा बीजपूरं ददे । प्रोक्तं च गृहाणेदं अनेन बहु जीव्यते नीरोगता च भवति । तव भाग्यं नास्ते अतो बीजपूरं दत्तमस्ति । स च विप्रो गृहे नीत्वा भोक्तुमिच्छन् दध्यौ । इदं बीजपूरं बहुजीवितदायितेन य उपकारी जगदाधारः स्यात्तस्य [तस्मै] दीयते । एवं विमृश्य राज्ञे दत्तं । प्रभावोऽप्युक्तः देवीप्रोक्तः । राजा तदादाय तस्मै पारितोषिकं दत्वा भोक्तुमुपविष्टो दध्यौ, मम बहुजीवितेन किं अभीष्टायै राज्ञ्यै दत्तं, भूपेन प्रभावः प्रोक्तः । तया ध्यातं मम बहुजीवितेन किं ? ततस्तया अभीष्टस्य हस्तिपकस्य प्रभावकथनपूर्वं दत्तं । हस्तिपकेन ध्यातं मम बहुजीवितेन किं ? अतो मया अभीष्टायै वेश्यायै दीयते ततस्तस्यै दत्तं, वेश्यया ध्यातं ममानेन भक्षितेन किं प्रजापालाय भूपाय ददामि । ततो वेश्यया भर्तृहरये दत्तं । भर्तृहरिस्तत्फलमुपलक्ष्य चकितः । पत्न्यादि-पृच्छनतः फलागमनसंबंधं ज्ञातवान् । ततोऽसारसंसारं मत्वा प्राह-

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिग् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति, निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्, किन्नाम वाम-नयनान समाचरन्ति ? ॥२॥

एवं ध्यात्वा तृणवद् राज्यं त्यक्त्वा भर्तृहरिर्व्रतं जग्राह—

इति भर्तृहरिवैराग्यसम्बन्धः ॥५२८॥

[529] अथ विक्रमार्कराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ।

विक्रमार्को भ्रमन्नन्यदा भट्टमात्रयुतो रोहणगिरौ गतः । तत्र रोहणगिरौ यो 'हा दैवमिति'

प्रोक्त्वा [प्रोच्य] घातं ददाति रत्नं सपादलक्षं लभते। विक्रमार्कः साहसी यदा हा दैवमिति न वदति घातं ददाति । भट्टमात्रस्तदा छलात्प्राह भवन्माता मृता श्रुता। एवं श्रुत्वा विक्रमार्कः हा दैवमिति वदन् भालमाहत्य कुद्दालमधस्तात्दृढमाहतवान् ,तदाऽकस्माद्वरत्नं प्रादुरासीत् । भट्टमात्रो· रत्नं विक्रमार्कहस्ते मुक्त्वा प्राह तव माता कुशलिन्यस्ति । मया रत्नप्राप्तिनिमित्तं भवान् [एवं] कारितोऽत्रैव ततो रत्नं अधः क्षिप्त्वा विक्रमार्कः प्राह—

"धिग् रोहणं गिरिं दीनदारिद्र्यव्रणरोहणम् ।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय यः ॥१॥"

ततो रत्नं तत्रैव त्यक्त्वा तापीतीरे समागतस्तत्र रात्रौ शिवाशब्दं श्रुत्वा भट्टमात्रोऽवक् एषा शिवा वक्ति नदीप्रवाहे [तीरे] साभरणा स्त्री मृता पतितास्ति [स] तत्र गत्वा तां तथावस्थां दृष्ट्वा निर्लोभात् त्यक्त्वा पश्चात् सुप्तः। पुनः शिवाशब्दं श्रुत्वा भट्टमात्रोऽवग् एषा शिवा वक्ति विक्रमार्कस्य मासे प्राप्ते अवन्त्या राज्यं भविष्यति ततोऽग्रतश्चलितौ वर्त्मनि भर्तृहरिराज्य स्वरूपं ज्ञात्वा भट्टमात्रं प्रति प्राह यदि राज्यं भवति तदा त्वं मे प्रधानः। ततोऽवधूतवेषभृत् चचाल अवंत्यामागतः । तदा तत्र यो यो राज्ये निवेश्यते तं तं सोऽग्निवेतालो मारयतीत्यादि मत्वा कोऽपि राज्ये नोपविशति। एवं श्रुत्वा विक्रमार्को मंत्रिपार्श्वे प्राह अहं वैदेशिकोऽस्मि यदि मेले (समेले) समेति च तदाहं राज्ये उपविशामि। तैरुक्तोऽग्निवेतालसम्बन्धः। ततो मन्त्रिभिर्मानिते विशेषबलिं कारयित्वा राज्ये उपविष्टो रात्रौ शय्यायां निर्भीः स्थितो । वेतालः समागाव हन्तुं । विक्रमार्को जगौ मे कृतबलिं विलोकय पश्चादहं हन्तव्यः। ततः स बलिं दृष्ट्वा हृष्टो जगौ त्वं राजाऽत्र भव चिरं सदैवं बलिः कार्यः। भूपोऽवग् एवं भवतु। ततो वेतालो गतः प्रातः जीवन्तं तं दृष्ट्वा हृष्टा मन्त्रिणः। द्वितीयदिने बलिं कृत्वा प्रपच्छ मम कियदायुः। ततस्तेनोक्तं वर्षशतं। ततो जगौ विक्रमार्कः ९९ वर्षाणि कुरु अथवा १०१ । स प्राहाधिकं न्यूनं न भवति। ततोऽग्रेतने दिने बलिमकृत्वा वेतालं जित्वा स्वसेवकं राजा चक्रे । ततः स्वरूपं प्रकटीकृत्य मन्त्रिणो मोदयामास। भट्टमात्रः प्रधानः कृत । इति विक्रमार्कराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥५२९॥

[530] अथ प्रथमस्वर्णनृप्राप्तिविक्रमार्कसम्बन्धः ।

अवन्त्यां एकेनेभ्येन पुष्यार्के कर्मस्थार्थं कारयता महानावासः कारितः। स च देवताधिष्ठितोऽभूत् एकदा वर्यमुहूर्त्ते इभ्य उषितुं रात्रौ स्थितो यावत् आवासे वक्त्यूर्ध्वं "पतामि पतामि" इभ्यो बिभ्यत् प्राह मा पत । एवं सदाऽवासो वदति योऽन्यो वसति तस्य पुरोऽप्येवं वदति तस्यान्तः स शून्य एव स्थितः। ततो राज्ञा विक्रमार्केण लग्नं। सर्वं दत्वेभ्याय आवासो गृहीतः रात्रौ सुप्तस्तस्मिन्नावासे यावदावासो जगौ पतामि २ विक्रमार्क अतीव साहसी प्राह स्वर्णमयो भूत्वा पत। ततो विक्रमार्कसाहसात् अधः स्वर्णपुरुषः पपात। प्रातर्महोत्सवपूर्वं स्वर्णपुरुषं तत्रैव स्थापयामास। प्रतिदिनं मस्तकं मुक्त्वा छेदं छेदं स्वर्णं गृह्णते रात्रौ तादृगेव ।

एवं प्रथमस्वर्णनृप्राप्ति विक्रमार्कसम्बन्धः ॥५३०॥

[531] अथ विक्रमार्क द्वितीयोरैनर प्राप्ति सम्बन्धः ।

एकदक योगी धूर्त्तः कपटेन विद्या साधनाय विक्रमार्कमेकाकिनं श्मशानेऽनैषीत्। तत्र तेन ज्वलदंगारभृतं कुण्डं कृतहोमं कर्तुं लग्नं। ततो मायावी योगी प्राह उत्तरदिग्भागस्थशिंशपावृक्ष-शाखावलंबितं शवमानय यथा तेनात्र होमः क्रियते। ततो विक्रमार्कः शवग्रहणाय तत्र वृक्षे गतो यावद्वृक्षमारुह्य शवं हस्ते गृह्णाति तावदग्निवेतालो विक्रमार्कस्य विघ्नं भवत् ज्ञात्वा शवमधिष्टाय प्राह प्रथमं मम पृष्टस्योत्तरं देहि। ततो नय, तत्र पञ्चविंशति कथाभिर्वेलातिक्रमं कृत्वाऽचष्ट शवं मां त्वं तत्र नयन्नसि, परं त्वया तस्य योगिनो विश्वासो न कार्यः। ततः स शवं स्कन्धे कृत्वा तत्र गतः योगिनोऽग्रे मुमोच, योगी तु विक्रमार्कपार्श्वात् शवस्य पादसंवाहनं कारयन् विक्रमार्कं द्वात्रिंशल्लक्षणलक्षितं कुण्डे चिक्षिपन् रैनरं सिसाधयिषुः मंत्रजापहोमपरो यावद्वि-क्रमार्कं कुण्डे क्षिपति तावद् विक्रमार्केण स योगी कुण्डे क्षिप्तः सन् स्वर्णनरो जातः ततस्तमपि रैनरं सुमहोत्सवं स्वपुरमध्येऽनैषीन्नृपः। इति विक्रमार्क द्वितीयो रैनरप्राप्तिसम्बन्धः।

[532] अथ औदार्ये [उचितदाने] विक्रमार्कवैतालिकसम्बन्धः ।

एकदैक इन्द्रजालिक एक करे खड्गं द्वितीयकरे स्त्रियं दधानो ब्रह्मायुर्ब्रह्मायुरिति वदन् विक्रमार्कसभायां समेत्य प्राह—

राजन्! सारं द्वयं मन्ये, रमारामे अहं स्फुटं।
भारतीं केऽपि मन्यन्ते, तन्मे न रोचते मनाग् ॥१॥

रमारामे यः पश्यति स गृह्णाति एव त्वं तु परस्त्रीपराङ्मुखः अतः तेनाहमिमां पत्नीं तव पार्श्वे मुक्त्वा स्वर्गे [स्वर्गं] यास्यामि। तत्र अद्य देवदानवयोर्युद्धं भविष्यति. अहमाकारितो-ऽस्मि, ततः स भूपपार्श्वे पत्नीं मुक्त्वा व्योम्नि चचाल। सा चान्तःपुरे स्थापिता भूपेन।

इतः क्षणान्तरे आकाशे रणतूर्याणि वाद्यमानानि राजा शुश्राव। प्राह च, अहो तेन पुरुषेण व्योम्नि गतं इन्द्रसाहाय्यार्थं, क्षणान्तरे वैतालिकस्य पदहस्तमस्तकादयः देहावयवाः सभायां पेतुः। ततः सा स्त्री तत्रागताऽवग्, मम भर्ता मृतः, तस्य देहावयवा अमी, अहं अनेन समं वह्नौ प्रविशामि। ततो वारिताऽपिसा तैरवयवैः समं वह्नौ प्रविष्टा। क्षणान्तरे स एव वैतालिकः समागात्। पत्नीं याचते स्म। राज्ञोक्तं तव पत्नी त्वां मृतं ज्ञात्वा वह्नौ प्रविष्टा। स प्राह, कूटं किं जल्पते भवतामन्तःपुरे स्थापिता मां वञ्चयितुं मैवं वदन्नस्ति। ततोऽन्तःपुरे तां दृष्ट्वा राजा कृष्णमुखो-ऽभूत्। ततो वैतालिकः प्राह, मयेदं इन्द्रजालिकं विद्यया तव दर्शितं। ततो राजा तुष्टः तस्मै वैतालिकाय दानं ददौ।

अष्टौ हाटककोट्यस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः,
पंचाशन्मदगन्धलुब्ध[१]मधुपक्रोधोद्धुराः सिन्धुराः।

(१) मस

[१]लावण्यावयवप्रपंचितदृशां वारांगनानां शतं,
दंडे पांड्यनृपेण ढौकितमिदं वैतालिकस्यार्पितं ॥१॥

इति औदार्ये [उचितदाने] विक्रमार्कवैतालिकसम्बन्धः ॥५३२॥

[533] अथ दुष्टास्त्रीविषये मयूरिकासम्बन्धः ।

कोकिलपुरे कोकिलकौलिकस्य मयूरिका पत्नी स्वेच्छाचारिणी वारितापि गृहे न तस्थौ । एकेन वचसा वाक्यं शतं च प्रतिजल्पति । एकदा मित्राय कोकिलोऽवग् यदि पत्नी संध्यायां गृहे न समेष्यति तदा तव [तस्यै] शिक्षा दास्यते । मया [मित्रेण] हक्कितापि पत्युर्वचो न कुरुते । कोकिलो रुष्टोऽन्यदा रात्रिघटिचतुष्के गते पत्नीमनागतां ज्ञात्वा गृहस्य अरर्रि दृढं दत्त्वा मध्ये स्थितो दध्यौ । अद्य रंडाया गृहे प्रवेशं न दास्ये, ततः सा भ्रामं भ्रामं उत्सूरे गृहं समायाता द्वारं दत्तं दृष्ट्वा पतिं मध्ये स्थितं ज्ञात्वा प्राह । पते ! द्वारमुद्घाटय । स च खुंकारकं करोति, द्वारं नोद्घाटयति वक्ति च, त्वं च मयोक्तं न कुरुषे, अतो नोद्घाटयामि द्वारं, पत्नी प्राह— कीटिकाया उपरि किं कटकं ? इत्यादि जल्पिते यदा कान्तो द्वारं नोद्घाटयति तदा द्वाराद्बहिरासन्नकूपिकापार्श्वे प्रौढं प्रस्तरं मुक्त्वा जगौ—कांत द्वारमुद्घाटय, नो चेदहं कूपिकायां पतिष्यामि । एवं तया प्रोक्तं यदा पत्या द्वारं नोद्घाटितं तदा कूपिकायां पतिष्यामीति जल्पंन्ती प्रस्तरं कूपिकामध्ये चिक्षेप, स्वयं तु पार्श्वे छन्नं स्थिता द्वारस्य, सद्युबकं श्रुत्वा पत्नीं कूपिकायां पतितां ज्ञात्वा सद्यो द्वारमुद्घाट्य कूपिकापार्श्वेऽभ्येत्य प्राहोच्चैःस्वरं पत्नि ! निस्सर लोका मिलिता, मंचिकामध्ये मुक्ता, पत्नि ! मंचिकायामुपविश्य बहिर्निस्सर, इतः सा मयूरिका गृहमध्ये प्रविश्य प्राह तव पिता कूपे पतति अहं तु न ["एवं द्वारं पिहितवती" तदा स च जगौ] यदि शक्तिर्भवति तदा द्वारं उद्घाटय अहं किमपि त्वयि प्रतिकूलं न करोमि, त्वमेवं कुरु । लौकैरुक्तं उद्घाटय उद्घाट्य, सा जगौ अद्य प्रभृति अहमुत्सूरे [सवारे वा] सख्यालयादौ स्थित्वाऽयास्यामि, अतः परं मम न करोति प्रतिकूलं, तदा द्वारमुद्घाटयामि. ततस्तेनाक्षरेषु दत्तेषु तया द्वारं उद्घाटितं । एवं दुष्टास्त्रीविषये मयूरिकासम्बन्धः ॥५३३॥

[534] अथ [२]राटिविषये सोढीसम्बन्धः ।

पद्मपुरी सोढी नारी कलिं सर्वैः सार्द्धं करोति । कलिं विना तस्मिन् दिने धान्यं न जीर्यति । ग्राममध्ये तया सह कोऽपि न जल्पति । ततोऽन्यदा प्रातः प्रातिवेश्मिकगृहे प्राघूर्णिकाः समायाताः ततस्तया ध्यातं अद्य को वहिः राटिं कर्तुं यास्यति । अनया प्राघूर्णिकया समं राटिं करोमि । ततो दास्यग्रे तया प्राघूर्णिकायां शृण्वन्त्यां प्रोक्तं, भो दासि ! शीघ्रं क्षिप्रचटं रंधय । ग्रामे गमिष्यते एक मानकधान्यमध्ये पंचमानकमितं लवणं क्षिप । वयः क्षिप्रचटो भवति त्वरितं प्रष्ठवाहं सज्जीकुरु ! तमारुह्य गमिष्यते, प्राघूर्णिका प्राह भगिनि ! एवं अयुक्तं किं जल्पसि, मानक-

(१) लश्वानामयुतं प्रपञ्च चतुरं । (२) कजीयो लडाई ।

मध्ये पंचमानकलवणक्षेपणं। सोढी प्राह रे रंडे! किं अहं तव पित्रा जनितास्मि यन्मां भगिनीं वदसि। रंडा धान्येन न ध्रायते परगेहस्यतप्तिं [तातिं] कुरुषे। भगिनीं मां वदंती त्रिजातां मां कथयिष्यसि गाली [छलात्] एवं यद्यत्प्राघूर्णिका वदति तत्तत् खण्डयति, ततः प्राघूर्णिका मौनं कृत्वा नंष्ट्वा गता। ततः कोऽपि तया समं न वदति। ततः साऽन्यस्मिन् पुरे गत्वा चतुरहट्टे तृणपूलकं घटं पयोभृतं मुक्त्वा जगौ, यः को विज्ञो वा भवति स मया समं वादं करोतु। नो चेत्तृणपूलकं भक्षयतु। पानीयं पिबतु, ततः कोऽपि वादं न करोति यदा राज्ञा पटहो वादितस्तया समं यो वादं कृत्वा जयं लभते तस्मै ग्राममेकं दीयते। ततः श्रेष्ठिवधूः पटहं पस्पर्श। श्रेष्ठिप्राह मम वधूर्जल्पितुं न जानाति। ततो वधूः प्राह। तात, तव प्रासादादहं जेष्यामि। ततो राज्ञोग्रे सर्वे आयाताः श्रेष्ठिवधूः प्राह, भो सोढि, त्वं कया रीत्या वादं करिष्यसि, एक दैवसिक्या, षाण्मासिकया, सांवत्सरिकया, यावज्जीविकया वा? सोढि प्राहाहं विकल्पान् न जाने ततस्तयोक्तं कथं तर्हि त्वं वादं करिष्यसि? यदि विकल्पान न वेत्सि, विकल्पान् विना वादो न भवति। तदा लोकैरादावेव सोढी हसिता। ततः सोढी प्राह—राटिका[१] दैवसिकी कथं कथ्यते। सा श्रेष्टिवधूः प्राह—भाटकेन शकटं गृह्यते तस्मिन् नारीद्वयमुपविशति भाटकं दत्वा, तदा एका वदति त्वया सकलं शकटं रुद्धं। एक वदति यद्वा तद्वा जल्पसि? अपरा वदति त्वमपि एका—त्वं परतातिं करोषि अन्या-वदति त्वमपि इत्यादि कलिं कुरुते, द्वे अपि सन्ध्यां यावत् सायं शकटादुत्तरितयोः राटिर्निवर्त्तते एषा प्रथमा दैवसिकी राटिः ॥१॥ साध्यं क्षेत्रं द्वाभ्यां क्रियते यदा तदा यावद् धान्यं गृहे नायाति तावद् राटिर्भवति षाण्मासात्तु धान्यं गृह्यते ततो द्वावपि राटिं न कुरुतः ॥२॥ यदा पाटकः पट्टको गृह्यते द्वाभ्यां तदा वर्षं यावत् एकामाषाढीमारभ्य द्वितीयामाषाढीं यावत् राटिर्भवति ततो निवर्त्तते राटिः ॥३॥ एकस्य पुरुषस्य द्वे पत्न्यौ यदाजायेते तदा यावज्जीवं ते द्वे कलिं कुरुतः स्म, अतो यावज्जीविकाराटिः ॥४॥ श्रेष्ठिवधूचातुर्यं दृष्ट्वा मानं मुक्त्वा सोढी श्रेष्ठिवधूपदयोः पतित्वा प्राह मयात्र हारितं त्वया जितं ततः श्रेष्ठिवधूः भूपपार्श्वादेकं ग्रामं प्राप्य सूत्सवं (सोत्सवं) स्वगृहे समायाता।

इति राटिविषये सोढीसम्बन्धः ॥५३४॥

[535] अथ सिद्धराजप्रशंसितभोजन श्रीहेमसूरिसम्बन्धः।

एकदा श्रीसिद्धराजजयसिंहो यात्रायां चचाल, सार्द्धं श्रीहेमसूरयोऽप्याकारिताः। वर्त्मनि गुरून्प्रति राजा प्राह—भगवन्, रथे उपविश्यतां, दुष्करं पादसंचरणं, गुरुः प्राह—साधूनां रथोपवेशनं पापनिवन्धनं।

पद्भ्यामध्वनि संचरेयमनिशं भुञ्जीत भैक्ष्यं सकृत्
जीर्णं [२]वासो वसाय[३] भूमिवलये रात्रौ शयीय क्षणं।
निःसंगत्वमधिश्रिये वसुमती-मुन्नासयेयानिशं,
ज्योतिस्तत् परमं दधीय हृदये कुर्वीय किं भूभुजा ॥१॥ उक्तं च—

१ कजीओ लडाइ, २ सिकनिवसीय, ३ धरणीतल गतो।

गुरुर्जंगदिवान् राजन् ! यतीनां नैव युज्यते ।
परपीडाकरत्वेन वाहनाद्यधिरोहणम् ॥२॥

एकदा सूरिं वारां [गोचरचर्यां] कुर्वाणं राजा ददर्श । तदाचाम्लानि कुर्वाणाः साधवो दृष्टाः [राज्ञा यतः] बहिःस्थितेन श्रीसिद्धक्ष्माभृता सूरिरैक्ष्यत कांजिकेन समं भैक्ष्यं भुंजानं सपरिच्छदं । ततो राजा जगौ—

तप्यतेऽमी [तपंत्यमी] तपः कीदृग् महात्मानं यदन्वहं ।
अश्नंत्यन्नं जलक्लिन्नं मार्गे चांह्रिप्रचारिणः ॥३॥
तदन्यजन्मसामान्यधियाऽमी माननोचिताः ।
नापमान्या मया किन्तु, मान्या एव महेशवत् ॥४॥

इति सिद्धराजप्रशंसितभोजन श्रीहेमसूरिसम्बन्धः ॥५३५॥

[536] अथ हल्लदानस्थापकद्विजसम्बन्धः ।

एकदा कृष्णविप्रः कृषिं मण्डयामास सदा हलं खेटयतोऽन्यदा हलं भग्नं तदा ध्यातं किं करिष्यामि हलं भग्नं दिनं पतिष्यति, ततो नन्दनस्याग्रे विप्रः प्राह, देवचन्द्रकौटुम्बिकपार्श्वाद् हलं आनयिष्यामि । पुत्रोऽवग् स मुधा हलं नार्पयिष्यति । पिता प्राह–मम विज्ञत्वं तदा यदा तस्य पार्श्वाद् मुधा१वचनेन हलमानयिष्यामि ततः स विप्रस्तस्योपान्ते गतः उपदेशं ददाविति । हलदानं स्वर्गाय भवति यतः—

हल्लाया दीयते दानं खादिर्यास्तु विशेषतः ।
हल्लदानप्रदानेन स्वर्गे हल्लति मल्लति ॥१॥

श्रुत्वैतत् तेन हलं दत्तं । स च विप्रो हलं क्षेत्रे गत्वा [सूनवे] सूनोर्ददौ प्राह च मुधेदं हलमानीतं मया । इति हल्लदानस्थापकद्विज सम्बन्धः ॥५३६॥

[537] अथ स्वहस्तदत्तफलविषये वस्तुपाल सम्बन्धः ।

एकदा वस्तुपालमंत्रिणः पुरो गुरु प्राह–यत् स्वहस्तेन दीयते तद् प्राप्यते परहस्तदानस्य फलं न भवति । उक्तं च—

यद् वस्तु दीयते भावात्, तत् सहस्रगुणं भवेत् ।
यद् दत्तं सुकृतं पुण्यं, पापे पापं च तद्गुणं ॥१॥

---

१ प्रकारण ।

किंचान्यद्दीयते यत्तद्, धनिकस्यापचीयते ।
सुकृतं दीयमानं तु धनिकस्योपचीयते ॥२॥

श्राव्यते सुकृतं यावत्प्रान्तकालेऽपि तावतः ।
निजश्रद्धानुमानेन सदेवा न श्रुतेः फलं ॥३॥

ततः श्रावयिता पश्चाद्विधत्ते मानितं यदि ।
तदा सोप्यनृणः पुण्यभाग् भवेदन्यथा न तु ॥४॥

अश्राविनोऽपि श्रद्दत्ते सुकृतं यः क्वचिद् गतौ ।
जानन् ज्ञानादिभावेन, सोऽपि तत्फलमाप्नुयात् ॥५॥

अन्यदा सुकृतं तन्वन्, स्वजनः स्वजनाख्यया ।
व्यवहारप्रीतिभक्तिः एवं ज्ञापयति ध्रुवं ॥६॥

स्वहस्तेन यद्दत्तं लभ्यते तन्न संशयः ।
परहस्तेन यद्दत्तं लभ्यते वा न लभ्यते ॥७॥

अतएव पुण्यवद्भिः स्वहस्तेन धनं व्यपनीयं, श्रुत्वैतन्मंत्री सप्तक्षेत्र्यां धनं व्ययितुं लग्नः, गुरुभिः प्रोक्तं तथा व्यापारः कार्यो यथा प्रजा न सीदति, साधुवादः सर्वत्र जायते, तत् स्वस्यैव लभते । अतः पुण्यस्मारणविषये एकं काव्यं शृणु—

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिदशसुखवंद्योऽसि जगतां,
त्वयाऽग्ने ! दह्यन्ते चपलपवनप्रेरिततया ।
अमी किं विश्वेषामुपकृतिपरा साधुतरवो ।
यदेभ्यो भस्म स्यात्तदपि मरुतस्ते पुनरधां (?) ॥८॥

इदं काव्यं श्रीउदयप्रभसूरिभणितं वस्तुपालमंत्री स्मरन् पापं न करोति ।

इति स्वहस्तदत्तफलविपये वस्तुपालसम्बन्धः ॥५३७॥

[५३८] अथ पुण्यलाभालाभसूचकवणिक्त्रयसम्बन्धः ।

एकस्मात् पुरात् त्रयो वणिजो निर्गता धनार्थं । एको मार्गे गच्छन् प्रथमे गतः पद्मपुरे । तत्र व्यवसायं कुर्वन् धनं बहु निर्गमयामास । उद्गरितं मार्गे समागच्छन् धाट्या मुषितमपरं निर्गमयामास । द्वितीयो द्विगुणं लाभं प्राप्यागतः । तृतीयो यावज्ज्ञात्वा गतस्तावलात्वाऽगतः

उक्तं च—जहाय तिन्नि वणीआ, मूलं घित्तूण निग्गया ।
एगो तत्थ लभे लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥१॥

[557] अथ तपागच्छभवनसम्बन्धः ।

श्रीमुनिरत्नसूरिसमीपेऽन्यदा श्रीजगच्चन्द्रसूरयः शिष्याः प्रोचुः—भगवन्! सिद्धान्तोक्तक्रिया क्रियमाणा न दृश्यते । गुरुभिः प्रोक्तं प्रमादादस्माभिः कर्त्तुं न शक्यते । जगच्चन्द्राचार्याः जगुः—अहं यदि सिद्धान्तोक्तां क्रियां करोमि तदा गुरुणां रोचते न वा? । गुरवो जगुः–अस्माकमनुमतिरेवास्ति । जगच्चन्द्रगुरुः प्राह—तर्हि मां शिक्षयध्वं क्रियाम् । ततः श्रीगुरवो प्रोचुः—वयं सम्यक् सिद्धान्तोक्तां क्रियां न जानीमः । सिद्धान्तोऽर्थो ज्ञायते तर्हि शिक्षयामि । गुरुणोक्तं—चि[वि]त्रावालोपाध्यायो देवभद्रः क्रियाकुशलोऽस्ति तत्पार्श्वे शिक्षय । ततस्तत्र गताः जगच्चन्द्रसूरयः तेषां पार्श्वे चारित्रोपसंपदं ललुः । ततः श्रीजगच्चन्द्रसूरिभिस्तेषां सूरिपदं ददे । एक गच्छोऽभवत् द्वयोः । श्रीजगच्चन्द्रसूरयो यावज्जीवमाचाम्लाभिग्रहं ललुः ।

ततः संवत् १२८५ वर्षे तपा नाम जातम् । जगच्चन्द्रसूरिभिर्देवेन्द्रसूरीणां, देवभद्रसूरि-शिष्य विजयचन्द्रसूरीणां सूरिपदं ददे क्रमात् । तत आराधनां कृत्वा स्वर्गं गताः ।

इति तपागच्छभवनसम्बन्धः ॥५५७॥

[558] अथ वृद्धशालालघुशालाभवनसम्बन्धः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरयस्तत्पट्टालंकरणाजाताः लघवो विजयचन्द्रसूरयः, श्रीदेवेन्द्रसूरिभिर्दिनकृत्यवृत्तिः, सूत्रवृत्तिः, नव्यकर्मग्रन्थपंचकवृत्ति [तिः], सिद्धपंचाशिकासूत्रवृत्ती[तिः], षडावश्यकवृत्तिः, धर्म्मरत्नवृत्तिः, सुदर्शनाचरित्रं, भाष्यत्रयं, सिरिउसहस्तवादीन्[दयः] चतुर्वेदनिर्णयकर्तार[ग्रन्थाः]श्चक्रिरे । देवेन्द्रसूरयो मालवके विहारं चक्रुः श्रीविजयचन्द्रसूरयस्तंभतीर्थे गताः । क्रमाद्गुरूपान्ते [गुरुभिः] कथितं दीक्षाप्रतिष्ठादि कुर्वते । क्रमात् श्रीसंघ आत्मीयः कृतः । गुरवो मालवकादागताः, यावत् गुरवो धर्मशालायामागताः ससूरिर्यदाभ्युत्थानादि अपि न चक्रे तदा गुरुभिः कर्मबन्धं दृष्ट्वा श्रीसंघः कोऽस्माकं विषयेऽस्ति । ततस्त्रयोदश साधवो गुरुसत्काः, एका साध्वी, अष्ट कुटुम्बानि श्राद्धानामासन् । ततः उकेशवंशश्रृङ्गारसा० साजणपुत्री दीक्षिता । गुरवो लघूपाश्रये स्थिताः । साध्वीद्वयं जातम् । क्रमात् तेषां सूरीणां कुमारपालविहारे व्याख्या[नं] कुर्वतां १८ [अष्टादश] शतमनुष्या धर्मं श्रोतुमुपविशन्ति । तदा लोका धर्मशालायां [लां] गच्छन्तो जगुः—"वृद्धशालायां गम्यते, लघुशालायां गम्यते । ततो वृद्धशाला-लघुशालानामजाते । देवेन्द्रसूरयो वृद्धा, विजयचन्द्रसूरयो लघवः । पुनः पौषधशालायाः चारुआवाटकसत्काचृद्धनाम जातम्, ततो गच्छस्यापि ।

इति वृद्धशाला-लघुशालाभवनसम्बन्धः ॥५५८॥

[559] अथ देवेन्द्रसूरि-विद्यानन्दसूरिसम्बन्ध ।

श्रीदेवेन्द्रसूरयः प्रह्लादनपुरे प्रह्लादनविहारे श्रीविद्यानन्दसूरीणां सूरिपदं ददुः । तदा देवगृहे कुङ्कुमवृष्टिरभूत् । श्रीदेवेन्द्रसूरयो मालवक[के] स्थिताः । श्रीविद्यानन्दसूरयो विद्यापुरः[रे] स्थिताः । त्रयोदशदिनान्तराळे कार्मणवशाद् दिवं ययुः । गच्छस्ततः सूरिरहितो निराधारो जातः ।

इति देवेन्द्रसूरिसम्बन्धः ॥५५९॥

[560] अथ धर्मघोषसूरिसम्बन्धः ।

ततो लघुतपागच्छे धर्मकीर्तिरुपाध्यायो विद्यानन्दसूरिभ्राता बभूव । ततः संघस्यानुमतिं ज्ञात्वा धर्मकीर्तेरुपाध्यायस्य पात्रकम्बलसूरिमन्त्रपानवस्त्रादिदानात् प्रीणयित्वा सूरिपदं दापितम्। ततो धर्मकीर्तिरुपाध्यायस्य धर्मघोषसूरिर्नाम दत्तम्। धर्मघोषसूरेः पेथडसाधुर्महान् श्राद्धोऽजनि।

धर्मघोषसूरयो देवकपत्तने समुद्रोपकण्ठे प्राप्ता बहिर्भूमौ यदा, तदा क्षुल्लेनोक्तम्—समुद्रो 'रत्नाकर' उच्यते, रत्नानि न दृश्यन्ते । ततो गुरुणा ध्यानबलात् समुद्रपार्श्वात् क्षुल्लकस्य रत्नं दर्शितम् । ततो वेलाबलात् समुद्रे गतम् ।

देवकपत्तने गोमुखं यक्षं सोमनाथप्रासादे स्थितं हिंसाकुर्वाणं कारयन्तं प्रबोध्य शत्रुञ्जयतीर्थे गुरवः स्थापयामासुः ।

एकदा विद्यापुरे दुष्टश्राविकाविहारितानि वटकानि गुरुभिर्दृष्टानि, प्रोक्तं साधूनां पुरः, एतानि स्थाप्यतां कल्ये पाषाणा भवन्ति । ततस्तथाकृते तथा दृष्टानि तानि । धर्मघोषसूरीणां व्याख्यानं कुर्वतां तया दुष्टया श्राविकया कण्ठे केशगुच्छनकं विकुर्वितम् । गुरुभिर्विद्याबलान्मुखाद् बहिः कर्षितम्। ततो गुरुभिः मन्त्रितः पट्टकस्तस्याः श्राविकाया उपवेशाय दापितः । स च गुह्यदेशे विलग्नः । वंदनकदानावसरे अपराऽऽस्तिकाभिरुक्तम्—"उत्तिष्ठ, वन्दनकानि ददस्व ।" सा प्राह—"पश्चाद् दास्यन्ते ।" सर्वासु श्राद्धीषु गतासु गुरूणां पुरो जगौ—"अद्यप्रभृति मया विघ्नं न कार्यम्, मुच्यतां मां, प्रसादं कुरु । ततो गुरुभिरभिग्रहं ग्राहिता, ततो मुक्ता ।

एकदोज्जयिन्यां गुरवोऽभ्येत्य तस्थुः। साधवो बहिर्भूमौ[मिं] गताः. योगिना दुष्टेन प्रोक्ताः। अत्रायातैः स्थिरैः स्थेयम्। साधुभिः स्थिरं स्थिता स्मेति प्रोचे-किं करिष्यसि ? तेन साधूनां दन्ता दर्शिता प्रौढाः। साधुभिर्गुरूणां योगिवचः प्रोक्तम् । ततस्तेन योगिना शालायां सर्पा विकुर्विता गुरुभिश्च नकुलाः प्रौढाः । ततो गुरुणा तथा जप्तं यथा रार्टि कुर्वाणो विहितः, पर्यस्तिको व्याख्यानावसरे आनीतः । ततो गुरुपादयोः पतितोऽनुकूलः कृतः, श्राद्धैर्मोचितः । एकदा गुरुभिरन्यो योगी दुष्टः सिंहादिरूपैः साधून् भापयन् निषिद्धः ।

एकस्मिन् पुरे गुरुभिर्द्वारमभिमन्त्र्य सुप्यते । अन्यदा विस्मृते द्वारे शाकिनीभिर्गुरुसत्का पट्टिकोत्पाटिता । चतुष्पदे गुरुभिर्ज्ञाता तत्रैव स्तंभिता वाचा दाने मुक्ता । कस्यचित् सर्पदंशे प्रातः काष्ठभारिकामध्ये विषापहारवल्ली दर्शिता, तया विषमुत्तारितं इत्याद्या बहवोऽवदाता जाताः।

तत्कृता ग्रन्था: सङ्घाचारवृत्तिः सुअधम्मकित्तीअंतं स्तोत्रं, कायस्थिति-भवस्थितिस्तवौ, २४ जिनभवनस्तवाः, २४ शत्राशर्मस्तोत्रं, "देवेन्द्रैरिति" श्लेषस्तवः, यूयं युवां त्वा[त्व]मिति श्लेषस्तुतयः ४, केनचित् मन्त्रिणोक्तमष्टयमकमयं काव्यं प्रोच्योक्तम्—"ईदृग् काव्यमधुना न केनापि क्रियते ।" ततो गुरुभिः प्रोक्तम्—"अनस्तिर्न वाच्यः ।" तेनोक्तं तर्हि दर्शयत । गुरुभिः प्रोक्तं कल्ये आगम्यम् । ततो गुरुभिः "जय वृषभनाभि स्तूयसे नि[त्य] नाभिरिति २८ काव्यानि कृतानि, रात्रौ भित्तौ लिखितानि, प्रातस्तस्मै दर्शितानि । स चमत्कृतो गुरून् नत्वा श्राद्धो जातः। तैः सूरिभिः सोमप्रभसूरीणां सूरिपदं दत्तम् । मरणावसरे धर्मघोषसूरिभिः सिद्धान्तपुस्तिका

मन्त्रपुस्तिका दत्ता सोमप्रभसूरिभ्यः । सोमप्रभसूरिभिश्चारित्रपालनाय सिद्धान्तपुस्तिका गृहीता नान्या । ततः सा मन्त्र-तन्त्र-कार्मणाद्यनेककुटिलशास्त्रसम्बन्धिपुस्तिका जले क्षिप्ता पापहेतुका ।

इति धर्मघोषसूरिसम्बन्धः ॥५६०॥

[561] अथ सोमप्रभसूरिशतार्थकथकसम्बन्धः ।

सोमप्रभसूरयः एकदा भीमपल्यां नगर्यां ११ शतमहेभ्यशोभितायां चातुर्मासीं स्थिताः । अधिकमासि द्विकार्तिके प्रथमकार्तिके प्रान्ते चतुर्मासीप्रतिक्रमणं कृत्वा यदा चेलुः तदा एकादशाचार्यास्तत्रस्थाः प्रोचुः—यूयं कथमेवं प्रतिक्रमणं कृत्वा चलथ ?। गुरुभिः प्रोक्तं विघ्नं दृष्टमस्ति । ततो लोकैरन्यैः सूरिभिश्चाऽवहीलितं सूरिवचः । ततः परपाक्षिकै रुद्धाऽऽचार्याश्च न चेलुः । केचित् गुरुणा समं चेलुः । ततः परचक्रं समागतमकस्मात् । भग्ना भीमपल्ली । धनं गमितम् । सूरिभिरप्यन्यैः पुस्तकादि [रक्षितम्]। श्रीगुरूणां महत्त्वं वर्धितम् । तत्कृता ग्रन्थाः यतिजीतकल्पः, 'यत्राखिल' स्तुतयः "जनेन" स्तुतयः, श्री धर्मस्तुति[श्च] ।

इति सोमप्रभसूरिशतार्थकथकसम्बन्धः ॥५६१॥

[562] अथ देवसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

श्रीसोमतिलकसूरिशिष्याः श्रीदेवसुन्दरसूरयोऽभूवन् । तेषां सूरिपदं दत्तं पत्तने । सो० प्रथमेन कारितम् १४२० वर्षे च युगप्रधानोपमा विहरन्ति ।

एकदा गुरवो बहिर्भूमौ गच्छन्तो गूंगडी सरसि प्राप्ताः । इतः कणयरीपादयोगिशिष्य उदायिपायोगिना नमस्कृताः तदा सं० [घपति] नरीआकेन पृष्टम्—"त्वं कुत आगाः ?" । योगी प्राह—कणयरीपादयोगिना मम गुरुणा ज्ञानिना गिरनारस्थेनोक्तं अधुना पत्तने तत्र गूंगडी सरसि यः सूरिर्मिलति स मुक्तिगामी त्वया वन्दनीयः । अतो मया भक्त्या वन्दिताः । ते [तव] च गुरवो यदा स्वर्गं गतास्तदा खरतर सं०[घपति] गोसलाग्रेऽभ्येत्योक्तं तैः—"वयं तुर्ये स्वर्गे गताः स्म" यतः—

छेवट्ठेण गम्मइ चउरो, जा कप्प कीलीआई सु ।
चउसु दु दु कप्पवुड्ढी, पढमेणं जाव सिद्धी वि ॥१॥

तेषां शिष्याः श्रीसोमसुन्दरसूरयोऽभूवन् । इति श्रीदेवसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

[563] अथ श्रीसोमसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

श्रीसोमसुन्दरसूरीणां गच्छे १००० साधवः तच्छिष्याः श्रीमुनिसुन्दरसूरि-श्रीजयचन्द्रसूरि-श्रीभुवनसुन्दरसूरि-श्रीजितसुन्दरसूरयोऽभूवन् । तेषामादेशात् गुणराजसङ्घेशेन यात्रा कृता । तस्मिन् सङ्घे १० देवालयाः, ३५०० सेजवालकाः, ५०० पित्तलमयबाहनिका, ५०० घोटकाः, ३५००० शकटाः, आचार्याणां शतानि, मनुष्याणां लक्षद्वयं [त्रयं] ।

तारंगगिरौ अजितनाथप्रतिष्ठा मं०[न्त्रि] गोविन्देन कारि[रापि]ता। तत्र मनुष्याणां बहवो लक्षप्रमाणा मिलिताः कल्याणको(?)द्धारो गिरि[नार]गिरौ सं०[घपति] समरसिंहमालवदेवाभ्यां कारितः। राणपुरे चतुर्मुखप्रासादः सं०धरणेन कारितः।

इति श्रीसोमसुन्दरसूरिसम्बन्धः ॥५६३॥

[564] अथ श्रीमुनिसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिरष्टादशवारं लक्षप्रमाणसूरिमन्त्रो जपितो। यत्र तत्राऽमारिप्रवर्त्तनं राज्ञः पार्श्वात् कारितम्। शान्तिकरस्तवं कृत्वा अमारिर्निर्वारिता। १०८ हस्तप्रमाणा गुरुविज्ञप्तिका कृता। तत्कृतानेके ग्रन्थाः सहस्राभिधानविरुदधारकाः। इत्याद्या बहवोऽवदातास्तेषां बभूवुः।

श्रीजयचन्द्रसूरिभिस्तु देवगिरिगतैः कृष्णसरस्वतीति बिरुदं प्राप्तम्। तच्छिष्याः श्रीरत्नशेखरसूरयोऽभूवन्। तेषां वारके गिरिनारगिरौ पूर्णसिंहकोष्ठागारिक संघपति लषा[धा]काभ्यां प्रासादौ कारितौ। तत्र बिम्बप्रतिष्ठा च कारिता। कुंभलमेरौ समवसरणाकारप्रासादः कारितः। तत्र चतुर्मुखेषु चत्वारि बिम्बानि प्रतिष्ठापयन्। तच्छिष्याः श्रीलक्ष्मीसागरसूरयः सोमदेवसूरयो विजयन्ते। इतिश्रीमुनिसुन्दरसूरिसम्बन्धः ॥५६४॥

[565] अथ साधर्मिकभक्तौ कुमारपालभूपसम्बन्धः ।

डीसामहास्थाने श्रीहेम[चन्द्र] सूरयो मरुस्थल्यां विहारं कुर्वाणाः प्राप्ताः। पुरः प्रवेशोत्सवोऽजनि। गृहे गृहे सङ्घवात्सल्यसङ्घार्चाः क्रियन्ते श्राद्धैः। इतस्तत्रैकस्य दुःस्थश्राद्धस्य पत्नी प्राह-गृहे गृहे गुरवः पादौ ददन्ते, आत्मनोपि गृहे आकार्यन्ते, एकं कोरकवस्त्रं विद्यते यत्तद् बिहार्यते श्रीमान् सङ्घोप्यात्मनो गृहे आयाति। श्रेष्ठी प्राह—गुरूणां श्राद्धः कुमारपालभूपोऽस्ति, यदि ज[डं] वस्त्रं विहारितं पश्यति तदात्मनः का गतिः ?। गुरवः आत्मनो गृहे दुर्बले कथमायास्यन्ति ?। पत्नी प्राहाऽऽयास्यन्त्येव। ततस्तेन गुरवः ससंघाः स्वगृहे आकारिताः। तत् खासरकं जडवस्त्रं गुरुभ्यो दत्तम्। गुरुभिः तद्भावं बाढं ज्ञात्वा विहरितम्। ततो गुरुभिः सकल्पः सीबायितः [तम्]। स [तद्] च पत्तनपुरप्रवेशे परिदधे गुरुभिः। सन्मुखागतैः श्री कुमारपालभूपवारभटादिभिर्ध्यातं न ज्ञायते कस्माद्धेतोरिदमीदृग् वस्त्रं परिदधे। पुरमध्ये धर्मशालायामागताः। उपदेशो दत्तो गुरुभिः। सङ्घे समुत्थिते कुमारपालभूपेन पृष्टं—भगवन्! किमीदृक्षं वस्त्रं परिदधे, अपराणि किं न विद्यन्ते ?। गुरवो जगुः—महानुभाग! इदं वस्त्रं एकस्यास्तिकस्यालये गृहवित्तमभूत्।

तेन भक्त्या विहारितम्। राजाऽवग्-किमीदृशाः दुःस्थाः सन्ति ?। अस्य वस्त्रस्य दाता कुत्रास्ति ?। गुरुभिः तस्य नाम-स्थानादि प्रोक्तं, तस्य गुणाश्च गृहीताः। ततस्तस्याऽऽकारयितुं सेवकाः प्रेषिताः। स च श्राद्धो भीतोऽभूत्। भार्याऽवग्-भीर्नानेया, गच्छ तत्र। तत्र गुरुपार्श्वे गतः राज्ञा सन्मानितः, परिधापितः, दशसहस्रटङ्कानां दत्तम्। ततोऽन्येषां साधर्मिकानां सीदतां

७२ लक्षप्रमाणान् टङ्ककान् दत्ता । [वहची श्रीर्दत्ता इत्यपि]

इति साधर्मिकभक्तौ कुमारपालभूपसम्बन्धः ॥५६५॥

[566] अथ परोपकारे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ।

एकदा श्रीविक्रमार्कस्योपान्ते एको द्विजोऽभ्येत्यावग्-त्वं सत्यवान् परोपकार्यसि । मया भैरवगिरौ भैरवसिद्धपुरुषोपान्ते सेवा षण्मासी कृता कायप्रवेशविद्यार्थं, स च न दत्ते । त्वं तां दापय । ततो राजा तत्र गतः । तस्य सेवा तथा चक्रे यथा सद्यः स प्रसन्नः प्राह—मार्गय चित्तेप्सितं । राजावग्—अस्मै विप्राय देहि । सिद्धपुमान् प्राह—अनेन मम षण्मासी सेवा कृता परं तादृग् पात्राऽभावाद् विद्या न दत्ता, त्वं सुपात्रं विद्यते । ततो बलात्तस्मै विद्या दायिता । ततस्तेन राज्ञेऽपि दत्ता, पश्चाद् वलितौ पुरोपान्ते समागतौ, पट्टहस्तिनं मृतं शुश्रुवतुः ततः मन्त्र्यादयो दुस्थिता जाताः । तदा परकायप्रवेशविद्या परीक्षणाय स्वांगरक्षायै तत्र पुराद् बहिर्द्विजं मुक्त्वा पट्टहस्तिनोऽगे प्रविष्य स जीवो हस्ती जातः । हृष्टा मन्त्र्यादयो । तदा स द्विजो विक्रमार्कशरीरे प्रविश्य राज्यग्रहणाय पुरमध्ये समागतः । ततोऽखिलो लोको राजानमागतं गजं सजीवं दृष्ट्वा हृष्टाः । सर्वे मन्त्र्यादयस्तं राजानं सेवन्ते । परं स राजा आलापयितुं न जानते । तदा सर्वे जगुः राजा ग्रथिलोऽभूत् । ततः पट्टराज्ञी राजानं न मन्यते असदृश जल्पनात् ।

इतो राजा हस्तो पुराद्बहिर्गतो विप्राङ्गं शिवाभक्षितं ज्ञात्वा वने गतः । वने शुकं म्रियन्तं दृष्ट्वा तस्यांगे प्रविष्टः । स च शुको व्याधहस्ते उपविश्य जगौ—मां विक्रमार्कपट्टराज्ञै देहि, धनं प्राप्स्यसि । ततस्तेन विक्रमार्कपट्टराज्ञै दत्तः । राज्ञा बहुधनं दत्तं । राज्ञी तं शुकं रमयन्ती जीवितादधिकं मेने । कथादिभिः कालं गमयतः स्म ।

एकदा शुकोऽवग्—यदि कदाचिन्मम प्राणा यान्ति तदा त्वया किं क्रियते ? राज्ञी प्राह—तव मृतौ मम मृतिः । ततोऽन्यदा शुको भित्तिस्थस्य गृहोलिकस्य म्रियप्राणस्य गते जीवे प्रविष्टः । शुकं मृतं ज्ञात्वा राज्ञी काष्टभक्षणं याचते । विप्रराजाह-त्वं कथं जीविष्यसि ? राज्ञी प्राह यदि शुको जीवति तदा मम जीवितं । ततो विप्रराजा स्वशरीरं मुक्त्वा शुकशरीरे प्रविष्टः । ततो-गृहोलिकांगं मुक्त्वा राजा स्वशरीरे प्रविष्टो पूर्ववत् । राज्ञादीनालापयति । सत्यं राजानं ज्ञात्वा हृष्टाः सर्वे लोकाः । ततः स शुको धृतः हक्कितः । विक्रमार्केण सर्वमात्मचरित्रं जातं प्रोक्तं । ततः शुकः स्वदेशाद् दूरीकृतो मृतः । राजा तु स्वराज्यमंगीकृत्य प्रजाः पालयामास ।

इति परोपकारे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ॥५६६॥

[567] अथ कुमारपालभूपाऽमारि-प्रासादकरण-दानसम्बन्धः ।

कुमारपालभूपालो द्वासप्तति भूपान् स्वां आज्ञां ग्राहयामास ।

कर्णाटे[१] गुर्जरे[२] लाटे,[३] सौराष्ट्रे[४] कच्छ[५] सैन्धवे[६] ।
उच्चायां[७] चैव भंभेर्यां,[८] मालवे[९] मारवे[१०] तथा ॥१॥

कौंकणे[११] च तथा राष्ट्रे,[१२] कारे[१३] जालंधरे[१४] पुनः ।
सपादलक्षे[१५] मेवाडे,[१६] दीपे[१७] कासीतटे[१८] पुनः ॥२॥

एतेषु देशेषु अमारिं प्रवर्तयामास भूपः । १४ देशेष्वपरेषु धनदानेन मैत्रीकरणेन च । १४४४ [१४४०] नवीना जिनप्रासादा दंडकलशमंडिताः । १६०० जीर्णोद्धारा भूपेन कारिताः । सप्त तीर्थयात्रा कृता च । २१ ज्ञानकोशा लेखिताः । ७२ लक्ष रुदतीद्रव्यपत्रं पाटितम् । ९८ लक्षद्रव्यं औचित्ये [औदार्ये] दत्तम् । भग्नसाधर्मिकस्य १००० दीनारदानम् । एकस्मिन् वर्षे कोटिदीनारदानम् । एवं १४ वर्षेषु १४ कोटिदानम् ।

इति कुमारपालभूपाऽमारि-प्रासादकरण-दानसम्बन्धः ॥५६७॥

[568] अथ कुमारपालभूपालपरिग्रहग्रहणसम्बन्धः ।

एकदा कुमारपालभूपो धर्मं श्रीहेम[चन्द्र]सूरिपार्श्वेऽशृणोत्—"धर्मं जग्राहेति सम्यक्त्वं प्रथमं जग्राह । त्रिकालं श्रीजिनार्चा, अष्टमीचतुर्दश्योः पौषधोपवासः, पारणकदिने दृष्टिगोचरागतानामास्तिकानां यथार्हं दानेन सन्तोषः, सार्द्धं गृहीतपौषधानां सार्द्धं पारणककरणम्, साधूनां संविभागकरणम्, प्रत्यहं त्रिभुवनदेवविहारे स्नात्रोत्सवः, श्रीहेम[चन्द्र] सूरीणां पादयोर्वंदनकदानम्, ततोऽनुक्रमेण साधुवन्दनम्, पूर्वप्रतिपन्नपौषधानां यथार्हंवन्दनम् । प्रथमव्रते अमारिप्रवर्त्तनम् । मारिः केनापि स्वयं च न वक्तव्या, मारिरित्यक्षरे विस्मृत्या जल्पने उपवासः । द्वितीयव्रते विस्मृत्याऽसत्यभाषणे आचाम्लतपः । तृतीयव्रते मृतधनोज्झनम् । चतुर्थव्रतेऽतः परं पाणिग्रहणाऽकरणम् । चतुर्दश्यां शीलम्, परस्त्रीसहोदरः । पञ्चमव्रते षट्कोटयः कनकस्य, तारस्याष्टौ कोटयः, रत्नानां दशशतानि, तुलानाम्, ३२ घृतमणसहस्रम्, ३२ सहस्रमणतैलम्, ३ लक्षमूटकशालिः, युगन्धर्यादिधान्यानां प्रत्येकं ११ लक्षाश्च, ११ सहस्रगजाः, २००० उष्ट्राः, १८ लक्षसुभटाः, ५०० यानपात्र[त्राणि], ५०० शकटवाहिन्यः, २०००० गावः, ५०० गृहाणि, ५०० हट्टाः, ५०० सभाः इत्यादि ।

षष्ठे व्रते वर्षाकाले पत्तनात् दशयोजनात् पुरतो गमननिषेधः । सप्तमे व्रते मद्याऽऽमिषमध्वादिनिषेधः, देवादत्तफलभक्षणनियमः । अष्टमे व्रते सप्तव्यसननिषेधः । नवमे व्रते सामायिकग्रहणं मौनेन, गुरोर्वंजनम् । दशमे व्रते चतुर्मासे कटकाऽकरणम् । एकादशमे [व्रते] रात्रौ कायोत्सर्गकरणे मर्कोटकादिभिरचलनम् । द्वादशव्रते गुरुभ्यो दानं दत्त्वा साधर्मिकैः सह जेमनम्, पौषधशालाचिन्ताकारकस्य पञ्चशततुरङ्गमदानम् ।

इति कुमारपालभूपालपरिग्रहग्रहणसम्बन्धः ॥५६८॥

[569] अथ रावणऋद्धिसम्बन्धः ।

समुद्र खाई, दश मस्तका, वीस भुजा, ३० सहस्रवर्षायु, ३१ धनुपदेह, त्रैलोक्य कंटक, ६ कोडि राक्षस कुल, ६ कोडि ९९ लाख ९ सहस्र ९ शत नवोत्तर राक्षसबल, कुम्भकर्ण-

विभीषणप्रमुख १ लाख भाई, मन्दोदरी प्रमुख सवा लाख भार्या, इन्द्रजित् प्रमुख सवा लाख बेटा, सूर्पणखादि २९८ भगिनी, ३ कोडि बेटी, ३ कोडि देव ओलग करइं, ८८ सहस्र ऋषिपर्व भरइं [गर्व धरइं] शिवशांति करइं, बृहस्पति आगमु[म] उद्धरइं, नारायण दीवटीउ, गंगा-यमुना चामरहारि, नवदुर्गा आरती उतारइं, विश्वकर्मा सूत्रधार, विश्वामित्र आभरण घडावइं, छ ऋतु फूलपगर भरइं, मंगल खेत्र खेडानइ, मन्दोदरी प्रमुख ८ अग्रमहिषी, अनन्तवासुकि अमृत भरइ, तक्षक भंडारउ करइं, कुलिक उपकुलिकपग चांपइं, चण्डिका तळारउं करइं, क्षेत्रपाल मसाहणउं (?) धरइ, सरस्वती श्रुति धरइ, गन्धर्व गीत गाइं, महेश्वरो पडहा वजावई, ब्राह्मी वीणा वाई, कृतान्त कोट(रे) छइ, मंगल श्रीखण्ड घसइ, बुध सोनुं कसइ, धन्वन्तरि वैद्यकर्म करइ, केतु भामणां भमाडइ, लच्छि वस्त्र आणइ, सांतइ, धनद भण्डारउं करइ, मृत्यु पातालि घालिउं इत्यादि१-२ । इति रावण-ऋद्धिसम्बन्धः ॥५६९॥

[570] अथ इन्द्रऋद्धिसम्बन्धः ।

सौधर्मसभा, रत्नमयभूमिः, शक्रसिंहासन, दक्षिणलोकपालस्वामी, ऐरावणगजः, निर्मल वस्त्रं, मस्तके छत्रत्रयं, कनकदण्डचामर, दिव्य आभरण, ३२ लाख विमानस्वामी, वज्रप्रहरण, ८४ सहस्रसामानिकदेव, ३३ त्रायस्त्रिंशक [त्] देवा, ४ लोकपाला, ८ अग्रमहिषी सोलसहस्र देवीसेविता, १२००० अभ्यन्तरसभातणा देव, १४००० मध्यसभातणादेव, १६००० बाह्यसभा-तणादेव, सातकटक, नाट्य,१ गन्धर्व,२ हय,३ गज,४ रथ,५ वृषभ,६ पदाति७, ३ लक्ष ३६ सहस्र अंगरक्षकदेव इत्यादि । इति इन्द्रऋद्धि सम्बन्धः ॥५७०॥

[571] अथ चक्रवर्तिऋद्धिसम्बन्धः ।

९६ कोडि ग्राम, ७२ लक्ष पाटण (पत्तन), ३६ लक्ष वेलाउल, १६००० रायतन, १८००० सामन्त, १४००० मडंबाधा(?), ३२००० मुकुटबद्धभूपाः, ७०० राणा, १२००० महामण्डलेश्वर,

---

१—इतरदर्शनमतेन इदं वर्णनं संभाव्यते ।

२—भोजप्रबन्धे इत्थमुपलभ्यते—

आवासं परिमार्ष्टि वायु ऋतवः पुष्पोत्करं तन्वते
कीनाशो महिषेण वारि वहते, ब्रह्मा पुरोधाः पुरः
खट्वायां च नियन्त्रिता ग्रहततिर्निर्णेजकः पावक-
श्चामुण्डा तलरक्षिका गणपतिः शुक्रीवती चारकः ॥१॥

दीपाः सर्पशिरोवसूनि सविता, सूपः सुतः शक्रजित्-
लङ्का पूः परिखाम्बुधिः परिकरोऽसृक्पात्रिकूटो गिरिः ।
देवा दास्यकृतोऽरिविजयी भ्राता छटादोऽम्बुदः ।
पिष्टा यस्य विधिश्च सोपि गतवान् दुष्टां दशान्त्यां दशाम् ॥२॥

५०० महाधरा, ४०० चउरासीया, ३६ राजकुली, (९) नवनिधान, १४ रत्न-सुवर्ण-रूप्यादिक आगरा (आकर) इत्यादि । इति चक्रवर्तिऋद्धिसम्बन्धः ॥५७१॥

[572] अथ भोजोक्तसमस्या धनपालपूरित सम्बन्धः ।

एकदा स्त्रीपदयोर्नूपुरं शब्दयन्तं, तस्याश्च हृदि हारं दृष्ट्वा राजा भोजः धनपालपण्डित-पार्श्वे समस्यां पप्रच्छ—"उ झंखइ पयवास ।"

ततो धनपालास्तां पूरयामासेति—

एकइ मंदिरि ऊपनां, एकइ सुन्दरि वास ।
हार पयोधरसिउं रमइ, उ झंखइ पयवास ॥

यतः हार-नूपुरे स्वर्णकृता स्वाऽऽपणे घटिते । हारस्तु तया हृदि न्यस्तः, नूपुरं तु रजोवगुण्ठितपादे । अतो नूपुरं स्वस्य नीचं स्थानं वीक्ष्य रुदतीति झंखति ।

इति भोजोक्तसमस्या धनपालपूरितसम्बन्धः ॥५७२॥

[573] अथ "चैत्रयडि[1]" पुरुषसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे एकस्य कौटुम्बिकस्य पुत्रस्य यथा तथा वदतो, यथा तथा कुर्वतो यथा तथा हिण्डतो, यथा तथा वीक्ष्य [क्ष] माणस्य "चैत्रयडि" नाम लोकैर्दत्तम् । स च दूनः सन् यदा सन्मुखं वक्ति तदा लोका जगुः—त्वं यत्र गच्छसि तत्र "चैत्रयडि" भविष्यसि । सोऽवग्—तत्राहं यास्यामि यत्र मां 'चैत्रयदि' कोपि न वदति । अत्र तु मामेवं ख्यातिरभूत् । ततो निर्गतः स निदाघे तृपाक्रान्तः कस्यचिद् ग्रामोपान्ते कूपे । जलमागृह्णानां स्त्रीणामन्तराले प्रविश्य इतस्ततो विलोकयन् चुलुकेन जलं पिवन् स्त्रीभिः प्रोचे अयं चैत्रयडिः कुत्रागतः ? । सोऽवग्—मां मातरेवं कथं जल्पथ ? । ताः प्रोचुः तव लक्षणैः । ततः स दध्यौ योजनानां शतमागां अत्रापि मम ज्ञायते । ततः स स्वपुरेऽभ्येत्य "चैत्रयडि" वदत्सु लोकेपु न चुक्रोध ।

इति चैत्रयडिपुरुषसम्बन्धः ॥५७३॥

[574] अथ दानभूषणपञ्चकादिभीमसम्बन्धः ।

एकदा युधिष्ठिरो भीमस्याग्रे प्राह—तथा क्रियते यथा श्रीः स्थिरा भवति । ततो भीमो महतीं शिलामुत्पाट्याधः स्थापयामास । युधिष्ठिरोऽवग् भ्रातः ! अधःक्षिप्ताध एव याति । तत आवासस्योपरि स्थापयामास । तत्रापि भूपोऽवग्—अग्न्यादि भयमत्र । भीमोऽवग्—भ्रातः, कुत्र न्यासीकरोमि ? । युधिष्ठिरोऽवग्—दानं ददस्व । ततः सत्रागारं मण्डयित्वा यथा तथा जल्पन्, सकाले कदाचित् विकाले श्रियमर्थिभ्यो दत्ते । राजावग्—भीम ! एवं श्रीः स्थिरा न भवति परं क्रूरजल्पनादिभिर्दानदूषणमेव भवति । भीमोऽवग् कथमेवं प्रोच्यते । राजा प्राह—

---

१ मूर्खजनस्य संज्ञाविशेषः प्रतीयते ।

तां ताभ्यां वार्ता कुर्वाणां श्रुत्वा सार्थवाहश्चकितो भूपपार्श्वे गत्वा प्राह, अद्य यौ रक्षितौ मुक्तौ तौ कुशीलिनौ, ततो राज्ञा कष्टेन शूलायां क्षेपितुमादिष्टै यदा चलितौ तौ हन्तुं तदा तौ प्रोचतुः—किहां कन्हउ ० गाथां श्रुत्वा द्वास्थः

किहां कान्हउ किहां मलयेन्द्रि किहां सायर किहां नीर ।
मिलीया सागर नीर मम, नो मलीया मलयेन्द्रि ॥२॥

एनां गाथां श्रुत्वा पुत्रौ पितरं ज्ञातवन्तौ, पितापुत्रौ ज्ञातवान्, ततो राज्ञो ज्ञापितं सर्वं तैः स्वसंबंधः। ततो मलयेन्द्री कृष्णस्यार्पिता, सर्वं कुटुबं मिलितं। ततोऽन्यदा सूरी शत्रावभ्येत्यावग्, अधुना त्वां वरीतुं वांच्छामि त्वं स्वपुरे गच्छ, ततः कृष्णः स्वपुरं प्रति चचाल, स्तोकबलेन देव्याः सांनिध्यात् गोत्रवैरिणो निर्घाट्य स्वं राज्यं जग्राह ।

ततो गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा जैनं धर्मं प्रतिपद्य स्वर्गं गतः ।

इति कर्मणि कृष्णसागरनीरसंबंधः ॥५४३॥

[544] अथ स्वपक्षहंतरि कच्छपसम्बन्धः ।

एकस्मिन् कूपे कच्छपा बहवस्तिष्ठन्ति स्म । माछिका [मात्सिकाः] आगच्छंति तान् ग्रहीतुं यदा [तेषु] स एकः कच्छपो निःशंकमन्यं कच्छपं दत्ते, स च याति, तदा वृद्धकच्छपेनोक्तं नाप्यते कच्छपः, यदा स्तोका कच्छपा भविष्यंति तदा त्वामपि ग्रहीष्यन्ति, स च न मन्यते वृद्धोक्तं; क्रमात् स्तोकेषु कच्छपेषु जातेषु, स एव कच्छपो [मात्सिकैः] माछिकैर्गृहीतः आक्रन्दं करोति स्म, तदा वृद्धेनोक्तं—

किं क्रन्दसि कुलांगार, स्वपक्षपरिघातक ।
स्वपक्षे हि परिक्षीणे, कोऽत्र त्राणं करिष्यति ॥१॥

ततो वृद्धः कच्छपो नंष्ट्वाऽन्यत्र गतः ।

इति स्वपक्षहंतरि कच्छपसंबंधः ॥५४४॥

[545] अथ स्वार्थसाधने सिंहोन्दिरसंबंधः ।

एकस्यां गुहायां उंदिरो महास्तिष्ठति । अन्यदा तत्र विवालगुहायां सिंहः समागात् । वयं स्थानकं दृष्ट्वा तत्र तिष्ठति, उंदिरः सिंहस्योपरि हिंडन् कर्करान् पातयति । सिंहस्तं हन्तुं न शक्नोति ततो दध्यौ, मया हन्तुं न शक्यते, ततो बिडालं विना उन्दिराः हन्तुं न शक्यंते। ततः सिंहो विडालपार्श्वे गत्वाऽवग्, ममैको वैरी उंदिरो विद्यते; तं त्वं यदि हंसि तदा तुभ्यं भक्ष्यं ददामि, ततः सदा सिंहो बिडालाय मांसं दत्ते, यदा हंतुं उंदिरं याति, तदा पत्नी प्राह, त्वयोत्तरः सदा कार्यः। यदा उंदिरो हतस्ततस्तव किमपि नार्पयिष्यति एवं बहवो दिना गताः। एकदा भार्यया वार्यमाणोपि गत उंदिरं हन्तुं विडाले नोंदिरो हतः। ततो बिडालो भक्ष्यं मार्गयितुं

यदागतः तदा सिंहः प्राह अद्य त्वं आगतो मां मांसं मार्गयितुं, यदि कल्ये समेष्यति तदा हत एव । त्वं गच्छ स्वस्थाने । ततो बिडालः स्वपत्नीपार्श्वे गतो यदा तदा पत्नी प्राह—

निजार्थं निखिलो लोकः सेवतेऽन्यं निरंतरं ।
अतो जीवितमिच्छेश्चेत् तदा तत्र व्रजाद्य मा ॥२॥

उक्तं च—

अपसर्प्पति कार्यार्थी, कृतार्थी नावसर्प्पति ।
दधिकर्णकदुर्बुद्धिः रक्षणीयस्त्वया हतः ॥२॥

इति स्वार्थसाधने सिंहोंदिरसंबंधः ॥५४५॥

[546] अथ पापविषये काष्टश्रेष्ठि–वज्रा–गज–संबन्धः ।

भोगपुरे काष्टश्रेष्ठिनः पत्नी वज्रा । देवशर्म्मा पुत्रोऽभूत् । गजोद्विजो मित्रं, शुकसारिके वर्णे विद्येते, काष्टश्रेष्ठी गजं मित्रं गृहे मुक्त्वा विदेशे लक्ष्मीहेतवे चचाल । गजवज्रयोः परस्परं प्रेम जातं, वज्रां गजपार्श्वे यांतीं दृष्ट्वा सारिका वक्ति शुकं, शुक ! विलोकय, श्रेष्ठिपत्नी वज्रा परपुरुषेण सहाभोगदानात् पापिनी पापं कुर्व्वाणास्ति, ततः सारिका गजेन हता । ततः शुको मौनं चक्रे । एकदा तस्य गृहे साधुयुगं विहर्तुमागात्, एकेन वृद्धेन साधुनोक्तं लघोरग्रे अस्य कुर्कुटस्य मंजरी योऽत्ति स राजा भवति । एतत् श्रुत्वा गजः प्राह–वज्रां प्रति अस्य कुर्कुटस्य मंजरी मह्यं देहि, ततः कुर्कुटं हत्वा मंजरी रंधिता, गजः स्नानाय गतः । इतः पुत्रो लेखशालातः आगात् भोजनं याचते स्म । मात्रा मंजरी दत्ता विस्मृत्य, लेखशालायां गतः । इतो गज आगतो जेमितुमुपविष्टः, मंजरीमदृष्ट्वा पुत्रभक्षितां ज्ञात्वा प्राह्–मंजरीं तां देहि, सावग् पुत्रं हत्वा दास्यामि, एतत् श्रुत्वा धात्री लेखशालायास्तं बालं लात्वा दूरदेशे गता, तत्र राज्यं जातं तस्य शिशोः, इतः श्रेष्ठी विदेशात् लक्ष्मीमुपार्ज्य गृहागतः पत्नीपुत्रौ अदृष्ट्वा शुकं पप्रच्छ । क गता मे पत्नी ? ततः शुकेन गजवज्रयोश्चेष्टितं प्रोच्योक्तं दूरे वज्रागजौ गतौ, वैराग्यं जातं दीक्षा गृहीता काष्टेन वज्रागजौ दैवयोगात् पुत्र राज्यपुरे गतौ वासं चक्रतुश्च । इतः स काष्टर्षिर्भ्रमन् वज्रागृहे विहर्तुं गतः । वज्रा स्वपतिं उपलक्ष्य दध्यौ एष मां यदि उपलक्षयिष्यति तदा मां गजयुतां हनिष्यति ततो भिक्षामध्ये स्वस्वर्णमुद्रां क्षिप्त्वा छन्नं पुत्कारं चक्रे एषः साधुश्चौरो मम गृहांतश्छन्नं हेम लात्वा गच्छन अस्ति, स्तैन्यदोषो ददे तया, भूपपार्श्वे गता प्राहाऽयं चोरः । ततो राज्ञा यावद् हन्तुमादिष्टः तावद् धात्र्या पितुः स्वरूपं प्रोक्तं तत्रायं पिता, ततो राज्ञा माताऽपि पापिनी पितृहन्त्री ज्ञात्वा कर्षिता । राजा श्राद्धो जातः ।

इति पापविषये काष्टश्रेष्ठि–वज्रा–गज–सम्बन्धः ॥५४६॥

[5[illegible]] अथ चतुर्जामातृसम्बन्धः ।

एकस्य विप्रस्य चतस्रः पुत्र्योऽभूवन् । ताश्च परिणायिताः पृथग् ग्रामे । एकदा चत्वारोऽपि जामातरः आकारिताः । भक्तिः पक्वान्नादिदा[illegible]त् सदा तेषां क्रियते । एकोऽपि तेषु जामाता

न चलितुमिच्छति, ततो दिनेदिने बहु धनं भक्षितं ज्ञात्वा तान् चालयितुं भग्नभाजनानि जेमितुं मण्डितानि। तत उत्थाय चित्रशालायामुपविष्टाः। गोविंदोऽवग् चल्यते अपमानं कृतं श्वशुरेण। ततः समुत्कलयित्वा पत्नीं नीत्वा चचाल, "भग्नभाजनो गोविंदः।" यदा न त्रयश्चलन्ति तदा श्वशुरेण तैलं पर्यवेपितं, ततः माधवनामा सोऽपि अपमानं ज्ञात्वा चलितः "तिलतैलेन माधवः।" ततो द्वावपि न चलतः ततस्तृणशय्या प्रस्तारिता, ततस्तमपमानं ज्ञात्वा विक्रमश्चचाल "विक्रमस्तृणशय्यायां।" ततो गागिलो यदा न चलति ततो गले धृत्वा कर्षितः, "अर्धचन्द्रेण गागिलः।"

भग्नभाजनो गोविंदः, तिलतैलेन माधवः।
विक्रमस्तृणशय्यायामर्ध-चन्द्रेण गागिलः ॥१॥

एवं चत्वारोऽपि जामातरो गताः। एवं जीवा संसारे कर्मपराभवं दृष्ट्वा वैराग्यभाजः केचिद् भवन्ति।

इति चतुर्जामातृसंबंध ॥५४७॥

[548] अथ भाग्ये सुजाण-बूबस-संबंधः।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिनः सुजाणबूबसौ पुत्रौ। सुजाणो विज्ञः बूबसो मूर्खः किमपि लेखक न वेत्ति, श्रेष्ठिनो गृहे कोटिद्वयं धनस्य। एकदा श्रेष्ठी मृतः। सर्वधनसंख्यायाऽव्यवसायादि सुजाणः करोति।

एकदा पत्नी प्राह बूबसो प्रति दिनं बह्वी श्रियं व्ययति, भवानुपार्जयति, ते पृथक् क्रियते, ततः पत्नीप्रेरितेन सुजाणेन अपृथगीभवन्नपि बलात् बूबसो पृथग् कृतः। टंकानां सहस्राष्टकं दत्तं, तेन सुजाणो हृष्टः पत्नी युतो जातो बहुश्रीस्थितेः, ततो व्यवसायं कुर्वतः क्रमात सुजाणस्य लक्ष्मीस्त्रुटिता बूबसेन शालकपार्श्वान् हट्टं मंडापितं दिने दिने तथा लाभो जातः यथा स्तोकैरब्दैः कोटिद्वयं जातं, सुजाणो निःस्वीभूतो लज्जमानो रत्नद्वीपे ययौ, तत्रापि रोहणाद्रौ व्यवसायं कुर्वतो पिनश्रीर्जाता। ततः यथा स्तोककर्मकरो भूत्वा चन्द्रश्रेष्ठिगृहे स्थितः।

इतो बूबसो भ्रातरंगतं ज्ञात्वा दुःखी विदेशादागतान् लोकान् पृच्छं पृच्छं सुजाणगमनं जज्ञौ, ततस्तत्र गतो भ्रातुर्मिलितः वस्त्रादिदत्तं लक्ष्मीर्बह्वी दत्ता सापि त्रुटिता, बूबसेनोक्तं गम्यते रोहणाद्रौ। ततस्तत्रगतो भूमिर्गृहीता सुजाणेन भूमिः खनिता परं किमपि न प्राप्तं। बूबसेन तु प्रथमे कुद्दालिकाघाते सपादलक्षं रत्नं प्राप्तं, तदपि भ्रात्रे दत्तं, ततो व्यवसायं कुर्वन् सुजाणस्तदपि रत्नं बुभुजे दुःस्थोऽभवत्पुनः, ततो बूबसेनोक्तं कृषिः करिष्यते, सज्जे हलादिके कृते सुजाणः प्राहाद्य भद्रा विद्यते तेन वर्ये दिने हलं खेटयिष्यते। बूबसः प्राह–'भाग्यवतां का भद्रा' एवं प्रोक्त्वा हलं खेटयतः [क्षेत्रे] अकस्मात् निधानं क्षेत्रे बहु धनं निर्गतं राज्ञेज्ञापितं राज्ञापि तस्मै दत्तं, सुजाणो वर्या वेलां विलोक्य हलं खेटयितुं लग्नः परमभाग्यात् कुवातादिनाधान्यं किमपि न निष्पन्नम्। ततो दुस्थोऽभवत् भृशं, ततो बूबसः स्वंभ्रातरं स्वपुरे [नीत्वा] भक्तिं करोति धान्यादिवस्त्रदानात्, [ततस्तेन] गुरवः प्राग्भवं पृष्टाः प्रोचुः बूबस सुजाणयोः पुरः।

सुजाणः प्राग्भवे कृपणोऽभवत् परं ज्ञानपंचमी आराधयामास तेनात्र भवचिज्ञोऽभूत्, दानाभावात् दरिद्री । बूबसस्तुप्राग्भवे दानं ददौ ज्ञानं नाराराध तेन लक्ष्मीर्बह्वी जाता मूर्खत्वं च इति श्रुत्वा द्वावपि भ्रातरौ धर्मं चक्रतुः ।

इति भाग्ये सुजाण–बूबस–सम्बन्धः ॥५४८॥

[549] अथ दुःस्थतायां राम–ऋषि–सम्बन्धः ।

यदा श्रीरामो वनं प्रति चचाल तदा ऋषेराश्रमपार्श्वे यावदागतः तावद् ऋषिः श्रीरामदृष्टेः पश्चादन्यत्र गत्वा स्थितः ।

ततो राम ऋषिमनो ज्ञात्वा, वनवासे स्थित्वा, रावणं जित्वा, यदा ऋषेराश्रमे समागात् तावत् ऋषयः सम्मुखा आगताः आगतस्वागतं चक्रुः । तदा श्रीरामः प्राह—

स एवाहं स एव त्वं, स एवायं तवाश्रयः ।
आदरं शिथिलीकृत्य पुनरेव किमादरः ॥१॥

ऋषिः प्राह—

धनमर्जय काकुस्थ ! धनमूलमिदं जगत् ।
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥२॥
जाइ रूवं विज्जा तिन्नीवि निवडंतु कन्दरे विवरे ।
अत्थच्चीयपरिवुढो जेण गुणा पायडा हुंति ॥३॥

इति दुःस्थतायां रामऋषिसम्बन्धः ॥५४९॥

[550] अथ सीताशुद्धिभवनसम्बन्धः ।

श्रीरामो यदा सीतां स्वगृहेऽनेषीत् तदा एके जना वदन्ति सीता इयंतं कालं रावणगृहे स्थिता शीलं कथं पालितं ? [अभावि] भाविरंडान्यस्त्रियोः को विशेषः ? । एवं श्रुत्वा श्रीरामो यदा कृष्णमुखोऽभूत् तदा सीतयोक्तं अहं अग्न्यादौ प्रविश्यात्मानं शुद्धं करिष्यामि । ततः खादिरांगारैर्ज्वलद्भिः शतहस्तप्रमाणा खानिर्भृता । सीतानुप्राह—

यदि रामं मुक्त्वा मया कोऽप्यन्यो मनसि कुबुद्ध्या भर्तृबुद्ध्या च धृतो भवति तदाहं भस्मीभवामि, एवं प्रोच्य ततः मनुष्येषु लक्षेषु मिलितेषु स्वहस्ते तप्तं गोलकं लात्वा खानिमध्ये पद्भ्यां चलित्वा खानेरपरतटं गता परं मनाग् न दग्धा, ततः सीता शुद्धा सती श्रीरामं कृष्णमुखं [दृष्ट्वा] मया मुधा समयेऽसमयं कारित इति । श्रीरामः कृष्णमुखः दध्यौ मया मुधाऽसमये सपथं कारितेति सीता श्रीरामं प्रति प्राह—

मा गा विषादभवनं भुवनैकवीर, निःकारणं विगुणिता किमियं मयेति ।
दैवेन केनचिदहं दहने निरस्ता, निस्तारिता नु भवता हृदयस्थितेन ॥१॥

ततो लोकः—

सीतया दुरपवादभीतया, पावके स्वतनुराहुतिः कृता ।
पावकोऽपि जलतामियाय यत्, तत्र शीलमहिमानिबन्धनम् ॥२॥

इति सीताशुद्धिभवनसम्बन्धः ॥५५०॥

[551] अथ तीर्थप्रभावे सहिजगपुरश्रीशांतिनाथसम्बन्धः ।

सहिजगपुरे श्रीधरश्रेष्ठिनो रात्रौ श्रीशांतिजिनः स्वप्नेऽभ्येत्यावग्-उत्तिष्ठ चउरडीग्रामे गच्छ, तत्र नद्यास्तटयोरुभयोः पार्श्वं१ समस्तकं [घटः पतितोऽस्ति] घटं च पतितमस्ति, तदत्रानीय योजयित्वा प्रासादे स्थापय । भवतो ग्रामस्यास्य वर्यं भविष्यति । ततः सप्ताष्टजना एकं शकटं लात्वा तत्र गत्वा प्रभोः सशीर्षं घटं च रथे स्थापयित्वा गच्छन्तो नदीतटे सायं स्थिताः ।

तत्रापि स्वप्नेऽभ्येत्य प्रभुः प्राह तस्य, अधुना ग्रामे गच्छत पश्चाद्दुःशकं भविष्यति । ततस्ते चलिता यावन्नदीमुत्तीर्णास्तावत्तथा वृष्टो मेघः यथा उभयोः कण्ठयोर्नदीपूर्णा, मेघे वर्षति सा प्रतिमा पुरे प्राप्ता उत्सवः कृतः । ततः प्रभृति तन्नगरं सुखं [सुखि] जातं । अधुना तत्तीर्थं सुप्रभावं विद्यते, तस्मिंस्तीर्थे यो यवन उत्तरति तस्य तुरङ्गमादि म्रियते, ततोऽधुना कोऽपि तस्य तीर्थस्य प्रतिकूलं न चिन्तयति । लोकस्य मनोरथान् पूरयति प्रभुः ।

इति तीर्थप्रभावे सहिजगपुरशांतिनाथसम्बन्धः ॥५५१॥

[552] अथ नवसारीपुर-श्मामलपार्श्वनाथ-सम्बन्धः ।

नवसारीपुरे प्रभुः पार्श्वः स्वप्नेऽभ्येत्य श्राद्धानां पुरः प्राह—मामितो भूतलात् कर्षयन्तु भवतः वर्यं भविष्यति । ततस्तस्माद्भुवस्तलात्प्रभुः कर्षितो यदा तदा प्रभोः शरीरे चन्दन-पुष्पाणि अशुष्कितानि दृष्ट्वा लोकश्चमत्कृतः स्तुतिः चक्रे । ततः पार्श्वः प्रासादे स्थापितः । ततोऽद्यापि चंदनपुष्पाणि न शुष्कंति । प्रभोः शरीरादमृतं [झ] गिरंति, लोकानां चिन्तितं पूरयति श्रीश्यामलपार्श्वः ।

इति नवसारीपुरश्यामलपार्श्वनाथसम्बन्धः ॥५५२॥

१. प्रतिमा इति वाच्यार्थः ।

[553] अथ [1]देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ।

देलउलकग्रामे श्री आदिनाथः सप्रभावः आराधकस्य मनोरथान् पूरयति । अन्यदा वोवा-ग्रामवुक्करः प्रतिमामुत्पाट्य रात्रौ निर्गतः । वर्त्मनि अन्धो जातः । ततो बिभ्यन् रात्रावेव पश्चात् स्वस्थाने मुमोच । ततः पश्यन्नभूत् । एकदा कटीपुराद्यवनस्तत्राभ्येत्य तां प्रतिमां नीत्वा स्वपुरे गतः । प्रथमे दिने आसना[न्ना]श्वो मृतः । द्वितीयदिने पुत्रः शूलरोगेण पीडितोऽत्यन्तं यदा मृतप्रायो जातस्तदा तां प्रतिमां श्राद्धानां दत्त्वा भोगनिमित्तं सहस्रद्रम्मा दत्ता पश्चात् स्वस्थाने प्रेषिता, तां प्रतिमां सप्रभावां ज्ञात्वा कोऽपि प्रतिकूलं न करोति । यस्य यदा यत् कार्यं न सिद्ध्यति, यात्रादौ मानिते तस्य तत्कार्यं सिद्ध्यति ।

इति देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ॥५५३॥

[554] अथ अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्धः ।

श्री अभयदेवसूरयो विहरन्तः थंभणकस्थाने प्राप्ताः महाव्याधिकुष्टरोगपीडिता हस्तमपि चालयितुं न शक्नुवन्ति । ततः सन्ध्यायां पाक्षिकप्रतिक्रमणं कृत्वा श्राद्धानामग्रे गुरवः प्रोचुः— शरीरे कुष्टोद्भवा पीडा विद्यते, तावता कल्येऽनशनं ग्रहीष्यते, देहपीडया क्षणं स्थातुं न शक्यते । एवं प्रोक्त्वा रात्रौ पौरुषीं भणित्वा सुप्ताः । अत्रान्तरे मध्यरात्रौ शासनदेवी समेत्य प्राह—प्रभो स्वपिषि जागर्षि वा ? गुरुणोक्तं-जागर्मि । देवी प्राह—उत्तिष्ठ, नवैताः सूत्रकोकडिका [[2]कुकुट्टिका] उन्मोहय, उत्खेलय । गुरुराह-कथमेवंविधशरीरेणोत्खेलयामि । देवी प्राह हस्ते गृहाण त्वं, चिरकालं जीविष्यसि [भक्तान् बोधयिष्यसि] नवांगवृत्तिं विधास्यसि । कथमेवंविधो देहोऽहं विधास्यामि ? देवतावग्-स्तम्भनकग्रामे सेटिकातटिनीतटे क्षेत्रं विद्यते तत्रासन्नपलाशतरोरधः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमा सुप्रभावास्ति नागार्जुनयोगिस्थापिता । तां वंदस्व, ततः स्वस्थशरीरो भविष्यसि । एवं प्रोच्य देवी तिरोऽभूत् । प्रातः श्रीसंघेन समं तत्र गताः सूरयः स्तुतिः कृता ।

जय तिहुअण वरकप्परुक्ख, जय जिण धन्नंतरि ।
जय तिहुअण कल्लाणकोस दुरिअक्करि केसरि ॥१॥
तिहुअण जण अविलंघि आण भुवणत्तय सामिअ ।
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणपुरट्ठिअ[3] ॥२॥

इत्यादि स्तवं कुर्वतिपार्श्वे प्रतिमा प्रकटीजाता [भूता] । सम्पूर्णे स्तवे कृते [4]निरोगं वपुर्जातं । तत्र श्राद्धैः प्रासादः कारितः । तत्र प्रभुरुपवेशितः सूत्रमवं लोका महोत्सवं कुर्वन्ति । ततः श्रीअभयदेवसूरिणा नवांगवृत्तिः कृता । शासनदेव्या प्रभोः पूर्वभवा अवदाताः गुरोः प्रोक्ता इति । ततः स्तवनं कृतम् ।

१–देल्वाडा । २–कुञ्चिका । ३–E–संज्ञकप्रतौ इयं स्तुतिः नोपलभ्यते । ४–नीरोगं ।

स्तम्भनस्थामहं स्तौमि तां पार्श्वप्रतिमां तथा ।
पूर्वाचार्यैं यथाख्यायि नानास्थाननिवासिना[भिः] ॥१॥
एकादशाब्दलक्षाणि वरुणस्त्वामपूजयत् ।
नवाहरधिकान् (?) सप्तमासान् रामस्तामर्चयत् ॥२॥
अशीत्यब्दसहस्राणि तक्षकेनापि पूजितः ।
सौधर्मसुरराज्येन चर्चयित्वा चिरं ततः ॥३॥
अदायि वासुदेवाय द्वारवत्यां जिनोत्तमः ।
ततः सागरतः कांत्यां विंशत्यब्दशतानि च ॥४॥
पद्मावत्या ततोऽपूजि पालिताया निदेशतः ।
आनीतः सेटिकानद्यां नागार्जुनेन योगिना ॥५॥
स्वामिँस्ते पुरतस्तेन १रसस्तंभो विनिर्ममे ।
स्तम्भनाख्यं ततस्तीर्थं संजातं जगती[ति] श्रुतं ॥६॥
नवांगवृत्तिकारेणाऽऽचार्ये — णाभयसूरिणा ।
नवांगदायको नाथ त्वं पुनः प्रकटीकृतः ॥७॥
दुष्टैर्म्लेच्छैर्लाढदेशे गुर्जराख्ये परिप्लुते ।
मङ्गलर्त्वग्निचन्द्राब्दे १३६८ स्तम्भतीर्थसवातरः ॥८॥
प्रातः समुत्थाय जिनाधिनाथं यः स्तोत्रमेतत्पठति प्रवीणः ।
रोगोरगारिग्रहसिंहशंकां मुक्त्वा यशःश्रीतिलकायते सः ॥९॥

इति श्रीपार्श्वस्तवः । श्री अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्धः ॥५५४॥

[555] अथ पेथडसाधुसम्बन्धः ।

कर्करासन्नग्रामे पेथडसाधुवणिग् उकेशज्ञातीयो वसन्नभूत्, तस्य पद्मिनी पत्नी । झांझणः पुत्रोऽभूत् । स बालः दुस्थावस्थायां सत्यां दुःखी जातः । इतस्तत्र तपागच्छाचार्याः श्रीधर्मघोषसूरय आगताः, तेषां पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा परिग्रहपरिमाणं गृह्णन् सहस्रटंकमानादुपरि मम नियमोऽभवत् इत्युक्ते गुरुरवक् ज्ञानेन चेष्टया च त्वद्भाग्यं महद् वर्त्तते, एतावता किं भविष्यति ? गुरुणा क्रमात् वर्धिते ज्ञानातिशयात्, पेथडः प्राह—भगवन् अधुना मम किमपि विशेषद्रव्यं नास्ति, परं कदाचिदग्रे प्राप्नोमि तदा मया पंचलक्षटंकमानादुपरि गृहे न स्थाप्यं, धर्मे व्ययनीयं

१–पारो, इति भाषायाम् ।

धनं, ततः क्रमाद् गुरुणा प्रत्याख्यानं कारितं। ततः क्रमाद्दुःस्थत्वे पुत्रं शुंडकारूढं[1] कृत्वा मालवकं प्रति पेथडश्चलन् मालवकसन्धौ गतः। तत्र सर्पमग्रे उत्तरंतं दृष्ट्वा यावत् स्थितस्तावदेको मारवः[2] समागात्, तेनोक्तं कथं स्थितं, स च सर्पं दर्शयामास। मारवः सर्पशिरःस्थदुर्गां दृष्ट्वावग्- यदि वहन्नग्रे अयास्यः तदा मालवकराज्यमभविष्यत्, तथापि शकुनं मानयित्वा गच्छ मालवके, महाधनी भविष्यसि। ततः स मालवके गतः। गोगादेवभूपस्य मंत्रिणः सेवकोऽभूत्।

एकदा राज्ञा गृहीतेषु बहुष्वश्वेषु मंत्री धनं, याचितोऽवग् "मम पार्श्वे [कोशे] नास्ति"। ततो राज्ञोक्तं "लेखकं[3] देहि" स च [दिङ्मूढो जातः] सचालवित्वात्पूर्वं (!) कागदान्नारक्षिप्यत् ततो रक्षितो राज्ञा [चारके क्षिप्तः]। मन्त्रिपत्न्या पेथडाग्रे मन्त्रिधरणसम्बन्धः प्रोक्तः। पेथडो राज्ञः पार्श्वे गत्वाऽवक्-"स्वामिन् मन्त्री जेमनाय मोच्यतां"। राजाऽवग्-"लेखकं विना न मोक्ष्ये"। स पेथडः प्राह मन्त्री मुच्यतां, लेखकमहं दास्ये, अहं त्वस्य सेवकोऽस्मि। ततो मुक्तो मन्त्री मुक्त्वा भूपपार्श्वे समागात्। सर्वं लेखकं वर्षसंबंधिनं पेथडो ददौ। ततो मन्त्री मुक्तः। क्रमाद्राजा पेथडं वर्यं विज्ञं मत्वा मन्त्रिणं चक्रे। ततस्तोकैर्दिनै पंचलक्ष [संपत्तिः] मिलिता [ततोऽधिकलाभे] पेथडश्चतुर्विंशतितीर्थंकराणां चतुरशीतिं (८४) प्रासादान् कारयामास। अधिके धने [तस्य] जिनधर्म्मं नाम दत्ते पश्चात् धनं धर्मे व्ययति। गुरोः पुरःप्रवेशे द्वासप्ततिः (७२) सहस्रटंकका व्ययिता। ३२ [द्वात्रिंशद्वर्षवयसि] वर्षे शीलव्रतं गृहीतं। शत्रुञ्जयगिरिनारयोरेका ध्वजा स्वर्णरूप्यपट्टकूलमया दत्ता। ५२ द्विपञ्चाशद् घटीस्वर्णेनेन्द्रमाला परिदधे। सारंगराजा कपूरछलेन हस्तमधः कारितः, इत्यादि बहु धर्मे व्ययितम्।

इति पेथडसाधुसम्बन्धः ॥५५५॥

[556] अथ प्रह्लादनविहारसम्बन्धः ।

प्रह्लादनभूपः प्रह्लादनपुरे राज्यं कुर्वन्नेकदा अर्बुदाचले ययौ। तत्र कुमारपालप्रासादे जिनप्रतिमां पित्तलमयीं भंक्त्वा अचलेश्वरप्रासादे पित्तलमयं शंडं, पित्तलमयं देवगृहोपरि कुंभं इत्यादि कारयामास। ततो गृहे समागात् कुष्टी जातः, उपवासबहवः कृताः, रोगो न याति। ब्राह्मणादीनामपि सेवनं कृतं तथाप्यधिका वेदना। गुरवः पृष्टाः प्रोचुः त्वया जिनप्रतिमाया भंगः कृतः तेनात्रैतादृग् रोगो जातः, परत्र तु श्वभ्रमेव। राज्ञोक्तं कथं याति रोगः। गुरुः प्राह यद्यत्र श्रीपार्श्वनाथस्य महान् प्रासादः कार्यते तत्र श्रीप्रभुप्रतिमा निवेश्यते, पुनः पूज्यते नित्यं, तदा याति रोगः। ततो राज्ञा प्रासादादिसर्वं गुरूक्तं कृतं, रोगो गतः, प्रासादे हेमकपिशीर्षाणि कारितानि तानि राज्ञा, ततः सप्रभावं तीर्थं जातं, राजा धर्मी जातः तस्मिन् देवगृहे प्रति दिनं अक्षता मूढकमिता आयांति एका गोणीपूगानां। ८४ इभ्याः सुखासनस्था देवनत्यर्थमायांतिराजा सार्द्धं ये नृपा देववंदनार्थं प्रतिप्रभातं ये समायांति तेषां संख्या न ज्ञायते।

इति प्रह्लादनविहारसंबंधः ॥५५६॥

१-मुंडायां स्थाप्य। २-शाकुनिकः। ३-वही-चोपडो इति भाषायां।

अनादरो[१] विलम्बश्च,[२] वैमुख्यं[३] विप्रि[४] वचः ।
पश्चात्तापश्च[५] दातुः स्यात्, दानदूषणपञ्चकम् ॥१॥

भीमोऽवग्-कथं दास्यामि ? ।

आनन्दाश्रूणि[१] रोमाञ्च,[२] बहुमानं[३] प्रियं वचः[४] ।
तथानुमोदना[५] पात्रे, दानभूषणपञ्चकम् ॥२॥

पद्मपुरे चन्द्रयक्षान्तिके गत्वा दानफलं पृच्छ । ततो भीमस्तत्र गतः विनयपूर्वं दानफलं तस्य पार्श्वेऽप्राक्षीत् । यक्षोऽवग्-महानन्दपुरे अहं पूर्वभवे कर्कशवचो जल्पन् दानमदां तेनात्र भवे मम मुखं शूकराकारं जातम् । देहं तु काञ्चनतुल्यम् । यतः—

स्वर्णदानं रत्नदानं मुखेनैव सुभाषितम् ।
तेनेयं काञ्चनीकाया, तेनेदं शौकरं मुखम् ॥३॥

ततो भीमः स्वपुरेऽभ्येत्य पञ्चदूषणवर्जं पञ्चभूषणयुक्तं दानं ददौ । ततो राजाऽवग्-भ्रातरेवं दानं दत्तं सफलं भवति । इति दानभूषणपञ्चकादिभीमसम्बन्धः ॥५७४॥

[575] अथ सद्यस्कधीविषये वैष्णवीतापसीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे एका मठवासिका नारायणप्रासादे तिष्ठन्ती वर्षाकाले रात्रौ छन्नं चूरिमं भक्षयन्ती लोकाग्रे जल्पति—अहं मासक्षपणं कुर्वाणाऽस्मि । ततो लोका विशेषाद् वस्त्रदानात् भक्तिं कुर्वन्ति । वर्षाकालात्यये उज्जागरिते हरौ विशेषतो धनं ददन्ते ।

एकदा निशि चूरिमं भक्षयन्तीं दृष्ट्वा नारायणस्तापसीं प्रति प्राह—रे रण्डे ! रात्रौ चू (चौ) रिमं भक्षयसि, दिवा वक्षि लोकाग्रे अहं मासक्षपणं करोमि । ततः सा उत्पन्नमतिः प्राह कृष्णं प्रति त्वमपि मम तुल्योऽसि । लोकाग्रे वक्षिः त्वं अहं वर्षाचतुर्मास्यां स्वपिमि रात्रौ तु लोकचरितानि विलोकयसि । अतोऽहं यादृशी तादृशस्त्वम् । ततः कृष्णो मौनं चक्रे । इयं मां विगोपयिष्यति । इति सद्यस्कधीविषये वैष्णवीतापसीसम्बन्धः ॥५७५॥

[576] अथ स्पर्द्धायां काक-हंससम्बन्धः ।

हंसेन समं काकः स्पर्द्धां दधान उड्डयति व्योम्नि । ततो द्वावपि समुद्रतटे गतौ । हंसो यावद् वार्द्धिमध्यस्थद्वीपे यियासुरभूत् तदा काकोपि चिचलिपुरजनि । हंसेनोक्तं-त्वं तिष्ठ । त्वया नोत्तीर्यते । काकोऽवग्-त्वं यथा व्योम्नि गच्छसि तथाहं न गच्छामि । ततो यदा हंसश्चचालाब्धौ तदा काकोपि च कियति वारिधौ पश्चान्मुक्ते काकः खिन्नोऽधोमुख ऊर्ध्वपादो जातः । तदा हंसेनोक्तम्—

"जं जाणीइ रे ते कीजइ कागा, तलि मूंडी नइउं पागा ।"

काकोऽवग्—

"जेतइं बोलिउं ते हुं हंसा मज्झहि व जासिइ निश्चइ हंसा ॥१॥

ततः काकोऽवग्—कृपां कृत्वा मामुत्तारय । ततः कृपया हंसेन काकः पश्चान्नीतः, प्रोक्तं च अद्यप्रभृति त्वया स्पर्द्धा केनापि सार्द्धं न कार्या ।

इति स्पर्द्धायां काकहंससम्बन्धः ॥५७६॥

[577] अथ चट्टूछिन्ना न जीवन्तीतिसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे चत्वारि मित्राणि वसन्ति । ते तु एकदा कस्यचित् स्वकस्य कृपणस्य प्राघूर्णका गताः । तस्य गृहे पत्न्यपि कृपणा विद्यते । यदा सा स्त्री अर्द्धैश्चट्टुकैः[१] परिवेषयितुं लग्ना, तदा तेषां मध्ये एकेनोक्तम्—

"असिहत्था मसिहत्था, पुत्थयहत्था च ज्ञातपरमत्था ।
सव्वेहत्थ ममपत्था, चट्टूहत्थं पलोअंति ॥१॥

अपरः प्राह—

जीवन्ति खग्गछिन्ना, पव्वयपडीआ वि केवि जीवंति ।
जीवन्ति उदहिपडिआ, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥२॥

तृतीयः प्राह—

जीवन्ति अवहिपडीआ, भइखपडीआ पुणोवि जीवन्ति ।
जीवन्ति खग्गछिन्ना, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥३॥

चतुर्थः प्राह—

जीवन्ति अग्गिपडीआ, भक्खिअखेडा वि केवि जीवन्ति ।
जीवन्ति सप्पगसीआ, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥४॥

श्रुत्वैतत् तया भृत्वा भृशं चट्टकैः परिवेषितम् ।

इति चट्टूछिन्ना न जीवन्तीति सम्बन्धः ॥५७७॥

[578] अथोत्तम–मध्यम–जघन्यमानने 'दंतिल' सम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे राज्ञो दंतिलो मन्त्री मान्योऽभवत् । राज्ञः पुत्रे जाते वर्यवस्त्राभदानैर्दन्ति-

---

[१] दर्वी—"कड़छी" इति भाषायाम् ।

लपार्श्वात् सर्वे लोकाः प्रीणिताः, परं गोरंभाह्वो भूमिभुग् गेहमार्जनकर्ता मन्त्रिणा गले गृहीत्वा निष्काशितः, स च रुष्टोऽभवत् ।

अन्यदा प्रातर्गेहं मार्जयन् गोरंभो राज्ञि शृण्वति प्राह—दंतिलस्याहो धैर्ण्यं "राज्ञीं हस्तेन स्पृशति"। राजा श्रुत्वैतत् चकितो रुष्टोऽभवन् मन्त्रिणि । राजा कुदृष्ट्या दंतिलसन्मुखं विलोकयति । ततो मन्त्रिणा ध्यातं-मया तु सर्वे लोका मानिता एवं चिन्तयतस्तस्य गोरंभः स्मृतिमागात् । गोरंभः पृष्टो मन्त्रिणा स्वं जल्पितं जगौ । ततो मन्त्री गोरंभाय बहु लक्ष्मीं ददौ । गोरंभोऽवग् त्वया भीर्नानेया, तथाहं करिष्ये यथा राजाऽनुकूलो भविष्यति ।

ततोऽन्यदा गृहं मार्जयन् प्रगेऽहं कूपेऽपतम् । राजा मम लक्ष्मीं दास्यति। देवदत्तेन इदता चिर्भटं भक्षितम् । अहं विषं भक्षयिष्यामि राजा दंडयिष्यति। दंतिलः परनारीसहोदर इत्यादि जल्पन् राज्ञा श्रुतो गोरंभः । ततो राज्ञा पृष्टं—भो गोरंभ ? एवं असंबद्धं किं जल्पसि ? गोरंभोऽवग्—मम वातूलं देहं विद्यते, तत एवं मया सदा जल्प्यते कूटं। ततो राजा हृष्टो दंतिलस्योपरि जातः । स्वचिन्तितं मारणसम्बन्धं च प्राह ।

योन पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान् ।
भूपासन्नान् स मान्योपि भ्रश्यते दंतिलो यथा ॥१॥

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके, जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विवादे वर्तमाने समाने, नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥२॥

इत्युत्तममध्यमजघन्यमान्यमानने दंतिलसम्बन्धः ॥५७८॥

[579] अथ बुद्धौ खञ्ज-छागी सम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने अजा यूथं चरितुं याति । एकः सिंहो गुहातः निर्गत्य मारं मारमजामेकां भक्षयति। यदा सिंहो धावति, छाग्यो नश्यन्त्यपराः । एकदैकां छागीं खञ्जां वीक्ष्य यदा पश्चात्सो दधाव तदा सा छागी सन्मुखं चलिता । सिंहो दध्यौ—अग्रे मम दृष्टौ सर्वाश्छाग्यः नश्यन्ति, एषा तु सन्मुखमायाति एवं ध्यायन् सिंहो जगौ—कासि त्वं ?। छागी दध्यौ-एष मत्तो बिभ्यन्नेवं जल्पन्नसि । तत उच्चैः स्वरं प्राह—मां किं नोपलक्षयसि ? । अहं त्वया श्रुतापि न ? ।

सप्तसिंहा मया जग्धा, दश व्याघ्रास्त्रयो गजाः ।
एकं सिंहं वने नष्टं हन्तुमत्रागतास्म्यहम् ॥ १ ॥

श्रुत्वेति सिंहो नष्टः। इति बुद्धौ खञ्जछागी सम्बन्धः ॥५७९॥

[580] अथ कर्मणि कृष्णबलिपुत्रसम्बन्धः ।

एकदा सहस्रार्जुनभूपो हरमाराध । तुष्टो हरोऽवग्-मार्गय । राजावग्—मम वर्यां पत्नीं वितर । हरश्च वर्यं कंकणं वितीर्याह—यस्य हस्ते इदं कंकणं क्षेप्स्यसि सा ते वर्या स्त्री भविष्यति।

ततो भूपः पप्रच्छ-मम मृतिः कदा भविष्यति ?। हरोवग्—यदा तव मस्तके पुंसो हस्तश्चंदिका पतिष्यति तदा मृतिस्ते। ततो राजा मार्गे समागच्छन् कृष्णं वीक्ष्य तेन समं वार्तां कुर्वाणः कृष्णहस्ते कंकणमक्षिपत्, स च दिव्या स्त्री जाता। सहस्राजुनः पट्टराज्ञीं चक्रे। क्रमादाधानं जातं तस्याः, कृष्णं विना जगत् दुःखितं जातम्।

इत एकदाऽकस्मात् सहस्रार्जुनमस्तके तस्या एव पत्न्याः हस्तकंकणे लग्ने सति चंदिका पतिता, ततः स मृतः। पट्टराज्ञी कंकणं यावद् बभञ्ज तावत् कृष्णो जातः। लोका मुदं भेजुः, परं तस्याधानं ज्ञात्वोचुः किं करिष्यते ?। ततो विचार्य सर्वैर्हृदयं विदार्य बालः कर्षितः। तस्य वलि नाम दत्तम्। इति कर्मणि कृष्णबलिपुत्रसम्बन्धः ॥५८०॥

[581] अथ गतधनरत्नार्कश्रेष्ठिसम्बन्धः।

कस्मिंश्चित् पुरे रत्नार्कश्रेष्ठिनः पद्मपुत्रोऽभूत्। स च श्रेष्ठी पुत्रस्य पुरोरहो जगौ—लक्ष्मीं बह्वीं प्रकटां राजा-वह्नि-चौरा [र] दायादा हरन्ति। अतः श्रीः कियती भुवो मध्ये क्षिप्यते। ततो निधानमर्द्धं लात्वा पुराद् बहिर्गत्वा देवगृहपार्श्वे भुवं खनित्वा यदा धनं स्थापयितुं सज्जीभूतो रत्नार्कः पुत्रं प्रति प्राह—विलोकय देवगृहं, कोपि पुमान् कदापि धूर्तोऽन्यो वा भविष्यति तदा स धनं लात्वा [यास्यति, ततः पुत्रस्तत्र गत्वा] नरमेकं सुप्तं दृष्ट्वा पितुः पुरः प्राह। पिताऽवग्—कोपि धूर्तो निधिं लातुमागतो मिषं कृत्वा स्थितोऽस्ति। ततः पित्रा प्रेषितो गतस्तत्र, वीक्ष्य मृतप्रायं तं दृष्ट्वा पितुः पुरः प्राह। पिता प्राह—परीक्ष्य जीवतो मृतस्य च कर्णौ आनय तस्य। ततः कर्णौ छुर्याश्चिच्छेद, स नोच्छ्वसितः। ततः कर्णौ पितुरर्पि [तौ]। पुनः पित्रा नासार्थं प्रेपितः। स च नासायां छिन्नायां नोच्छ्वसितः। ततो मृतं निश्चित्य निधानीकृत्य धनं गृहमागतौ।

पुनरेकदा वनं गतौ तौ पितृपुत्रौ। निधानं गतं दृष्ट्वा उदरं कुट्टयित्वा गृहमागतौ। ज्ञातं च ताभ्यां श्रीस्तेनैव धूर्तेन गृहीता। ततोन्यदा विटनटमध्ये लक्ष्मीं विलसयन्तं गतनासिकाकर्णं दृष्ट्वा पुत्रः [पितु पुरः] प्राह। ततः सम्यक् तमुपलक्ष्य राज्ञोग्रे विज्ञप्तं [एतः] लक्ष्मीगमन-सम्बन्धः। ततो राज्ञा स आकारितः। प्रोक्तं, अस्य त्वया [श्री]गृहीता, पश्चादर्पय। स प्राह-मया मुधाऽस्य श्रीर्गृहीता नास्ति, मयास्य कर्णौ नासिके दत्ते, ततः श्रीर्गृहीता मम कर्ण-नासिका ददातु पुनः पश्चाल्लक्ष्मीं लात्वाऽसौ [गच्छतु]। ततो राजा प्राह—श्रेष्ठिन् ! अस्य यद् भवता गृहीतं तदर्प्पय। ततः श्रेष्ठी संतोपं कृत्वा स्वगृहमगात्।

इति गतधनरत्नार्कश्रेष्ठिसम्बन्धः ॥५८१॥

[582] अथ श्रीशंखेश्वरपार्श्वसम्बन्धः।

जरासंध-कृष्णयोः संग्रामे जायमाने जरासंधेन जरा कृष्णकटके मुक्ता। एकावतारिनरौ कृष्ण-बलभद्रौ मुक्त्वाऽन्येषां जरा लग्ना। ततो नारायणः सः श्रीनेमिनं पप्रच्छ, जरासंधः स्वसेनां हनिष्यति, क उपायोस्ति येन स्वसेनाया जरा गच्छति ?।

नेमिकुमारः प्राह—अत्र पुराद्बहिर्वटतरोरधः श्रीपार्श्वप्रतिमाऽस्ति, सा च कृष्यते, तस्या विस्तरात् स्नात्रं क्रियते, तेन स्नात्रजलेन स्वशिविरं सिच्यते, ततो जरोत्तरति । ततः कृष्णेन नेमिवचसि कृते सर्वसैन्यं सज्जीभूतम् । ततः कृष्णेन युद्धं कुर्वता शङ्खः पूरितः । प्रभुश्रीपार्श्व-दृष्टौ जरासंधशिविरं भग्नं, ततो जरासंधो यमगृहं प्रेषितः, ततो जयजयारावो जातः । सर्वे भूपाः कृष्णं नेमुः । ततस्तत्र शंखपुरं वासितम् । ततः प्रभोः प्रासादः कारितः । तत्र प्रभुः स्थापितः । ततः 'शङ्खेश्वर' इति ग्राम-पार्श्वयोर्नाम्नी जाते ।

इति शंङ्खेश्वरपार्श्वसम्बन्धः ॥५८२॥

[583] अथ कर्म्मणि वृषभसम्बन्धः ।

वंगदेशे महापुरे वर्द्धमानो धनी वणिग् दध्यौ-धनं विना नरो न मान्यते । यतः—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके, यस्यार्थाः स च जीवति ॥१॥

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥२॥

सुभीताः परदेशस्य बह्वालस्याः प्रमादतः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति, काकाः कापुरुषा मृगाः ॥३॥

एवं ध्यात्वा वर्धमानः शुभवेलायां लक्ष्मीमुपार्जनाय शकटं क्रयाणकैर्भृत्वा चचाल । तस्य मार्गे गच्छतः संजीवकनन्दकौ वृषभौ पीनस्कन्धौ वसतः । श्रेष्ठी मनसा विशिष्टचारिपानीयादि ददाति पालयति च । यमुनायां संजीवकः कर्दममग्नस्कन्धोऽसमर्थचरणो जातः । भग्नचरणं मृतःप्रायं वृषभं ज्ञात्वा वर्द्धमानो जगौ परिवारस्य पुरः, अत्र तु बहवः श्वापदाः सन्ति, सार्थस्योपद्रवं करिष्यन्ति, तेनास्य वृषभोपान्ते रक्षायै जनास्त्रयस्तिष्ठन्तु, अपरः सार्थश्चलति यतः—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्रपाण्डित्यं यत् स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥४॥

एवं प्रोक्त्वा [च्य] संजीवकस्य रक्षाकृते नरत्रयं संयोज्य चलितो वर्धमानो परं वृषभं शकटे नियोज्य वसन्तपुरे गतः । इतो बह्वापायं वनं दृष्ट्वा ते नराः दिनत्रयं स्थित्वा वसन्तपुरे गत्वा वर्द्धमानश्रेष्ठिनः पुरो जगुः—संजीवको मृतो, न श्वसिति, तेन तत्र मुक्तः । श्रुत्वैतत् श्रेष्ठी खेदं कृत्वा पुनः शोकं मुमोच । इतो बहुसिंहव्याघ्रादिजीवेषु दुष्टेष्वपि सत्सु जीवितव्यबलात् यमुनावातैः सज्जीभूतो रोचमानां चारिं। चरन् यथेच्छया वारि पिबन् मत्तोऽभूत् । नंदको वृषो गृहे पोष्यमाणोऽपि यत्नेन रक्ष्यमाणो मृतः। ततोऽन्येद्युः श्रेष्ठी पुनरपरौ वृषभौ शकटे नियोज्य ततः पुराच्चलन् यमुनातटे समागतस्तं वृषभं संजीवकं पीनं दृष्ट्वा प्राह—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥५॥

ततः तं वृषभं स्वगृहे निनाय श्रेष्ठी ।

इति कर्म्मणि वृषभसम्बन्धः ॥५८३॥

[584] अथ परवंचने आषाढभूतिसम्बन्धः ।

देवपुरे देवशर्म्मा परिव्राट् धनी वसति स्म । स च कस्यापि न विश्वसिति धनगमनभयात् । एकदा धूर्तं आषाढभूतिस्तत्रागतो मिलति स्म । तस्य प्राह—संसारोऽसारो मया दृष्टस्तेनाहं कस्यापि तापसादेः शिष्यो भविष्यामि । जीवितं तु तृणाग्नितुल्यं, लक्ष्मीश्चपला, संयोगास्तु पक्षिण इव । ततो देवशर्म्मणा वैरागी मत्वा दीक्षितः स्वशिष्यकृतः । परं द्रव्यगमनभयात्तं मढी द्वारे शापयति रात्रौ । क्रमादाषाढभूतिना तस्य पार्श्वे धनभृता वासनिका ज्ञाता, लातुं तां वञ्छ ।

एकदा देवशर्माणमभ्येत्य यजमानः प्राह—अहं चन्द्रपुरे बहून् जनान् जेमयिष्यामि धनं च दास्यामि तेभ्यः । अतस्तत्र पादावधारयध्वम् । ततस्तद्वचो मानितं । अन्यदा देवशर्म्मा शिष्ययुतश्चचाल । तां वासनिकां वस्त्रैर्वेष्टयित्वा चलति । अत्रान्तरे नदी समागता । देवशर्म्मा जगौ इदं शंबलं विद्यते तेन त्वं गृहाण, अत्र तिष्ठाहं मलोत्सर्गं कृत्वा समेष्यामि शीघ्रं । देवशर्मणि गते आषाढभूतिस्तां लात्वा नष्टः । देवशर्मा तु हुडयोर्युद्धं विलोकयन् यावत्तत्रागतः तावत्तं शिष्यमदृष्ट्वा दुःखं चक्रे, मया मौढयादीदृशः शिष्यः कृतः ।

इति परवंचने आषाढभूतिसम्बन्धः ॥५८४॥

[585] अथ लौल्ये जंबूकसम्बन्धः ।

एकस्मिन् नदीतटे हुडुयुगं युद्धं कर्तुं लग्नं । अथ रोषेण हुडुयुगं दूरमपसृत्यापसृत्य भूयोऽपि समेत्य ललाटपट्टाभ्यां मिथः प्रहरति स्म । तयोर्ललाटयो रुधिरं निर्गच्छदभूत् । इतस्तत्रैको जम्बूकः समागात् । स च लौल्याद् रुधिरधारां पतन्तीं वीक्ष्य द्वयोरन्तरे प्रविष्य रुधिरं पिबति स्म । अथ तयोः शिरःसंपाते मध्यगतो जंबूको मृतः । अतो द्वयोः कलिं कुर्वाणयोरन्तरे न प्रवेष्टव्यं जंबूकवत् । इति लौल्ये जंबूकसम्बन्धः ॥५८५॥

[586] अथ दंभे कौलिकसम्बन्धः ।

वर्द्धनपुरे एकः कौलिको लक्ष्मीवान् वसति । तस्य मित्रं रथकारोऽस्ति विज्ञः । एकदा कौलिको देवतायतने गतः । तत्रोत्सवं कृत्वा पश्चादागच्छन् वातायनस्थां राजकुमारीं सुरूपां दृष्ट्वा मोहितः । यतः—

यत्रोदकं तत्र पतन्ति हंसा, यत्रामिषं तत्र पतन्ति गृध्राः ।
यत्रार्थिनस्तत्र रमन्ति वेश्या, यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ॥१॥

कौलिको गृहागतो राजकन्यागतचेतस्को निश्चेष्टकाष्ठो जातः। मित्रेण तच्चित्तस्थोऽभिप्रायो ज्ञातः। ततो वर्यकाष्ठैर्गरुडं वरं घटयित्वा गदाचक्रसुदर्शनादिशस्त्राणि कारयित्वा रथकारेण कौलिकायार्प्पितानि। प्रोक्तं त्वमेवमेवं कुरु, तव पत्नी राजकन्या भविष्यति। ततः स कौलिको नारायणवेषशस्त्रभृत् गरुडारूढो वर्यकीलिकासंवरणेन च गगने गच्छति स्म। मंत्राधिष्ठितकीलिकायोगेन स गरुडो व्योम्नि याति। कर्षितायां कीलिकायां भूमौ तिष्ठति। ततो गरुडारूढः कौलिकः कृष्णवेषास्त्रभृत् वातायनस्थराजकुमार्याः पार्श्वगतः। तया च कृष्णः आगतो ज्ञातः, मोहिता च, सावग्-स्वामिंस्त्वं मां परिणय। सोवग्-ममाग्रे षोडशसहस्राणि पत्न्यः सन्ति। त्वया किं करोमि। सावग्-अस्मिन् भवे त्वमेवशरणं। ततस्तेन गन्धर्वविवाहेन परिणीता। स च कौलिको रात्रावभ्येत्य राजपुत्रीं सेवते स्म। क्रमात् मातृपितृभ्यां पुरुषसेविता पुत्री ज्ञाता। प्रोक्तं च मात्रा—

नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावास्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासां।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥२॥

पृष्टं च मात्रा, त्वया किं पुत्रि परपुरुषसेवनं कृतम्? । साऽवग्-मया कृष्णः परिणीतोऽस्ति स्वयं। ततो राज्या रात्रौ कृष्णमागतं दृष्ट्वा हृष्टा, पत्युः पुरः प्रोक्तं च कृष्णागमनं। राजा कृष्णं जामातरं ज्ञात्वा हृष्टः।

एकदा राज्ञो वैरं वैरिभिर्जातं। राजानो वैरिणः समागताः, पुरं वेष्टितं वैरिभिः। ततो राजा सचिंतोऽभूव्। राज्योक्तं—आत्मनो जामाता कृष्णः समस्ति स च वैरिणो जेष्यति। राज्ञा पुत्र्याः पुरः प्रोक्तं-तव पत्यौ कृष्णे, त्वत्पितुराज्यं यदि वैरिणो ग्रहीष्यन्ति तदा किं ते भविष्यति। ततस्तया पत्युः पुरः प्रोक्तं। स च संशये पतितोऽपि साहसं कृत्वा गरुडमारुह्य वैरिणो जयाय। कौलिकेन ध्यातम्—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषं भवतु मा भूयात् फ[णा]टाटोपो भयङ्करः ॥३॥

ततः कृष्णरूपः स प्राह—प्रिये दुःखं न कार्यं, वैरिणो जेष्यन्ते मया। ततो द्वितीयदिने गरुडमारुह्य वैरिणं प्रति यदा चचाल कौलिकः तदा कृष्णो दध्यौ कदाचिदयं कौलिको जेष्यते वैरिभिस्तदा लोका गदिष्यन्ति कृष्णो भग्नः। ततः कृष्णः कौलिकशरीरमधिष्ठाय तथा युद्धं चक्रे यथा वैरिणो नष्टाः। केचन सेवका राज्ञो जातः। जयकारोऽभूत्। यतः—

सुप्रयुक्तस्य दंभस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥४॥

इति दंभे कौलिकसम्बन्धः ॥५८६॥

[587] अथ उपाये काकीसम्बन्धः।

एकस्य सरसस्तीरे वटवृक्षे काक्या मालकः कृतः। तस्मिन् मालके काकी अण्डकानि मुञ्चते।

वृक्षकोटरस्थसर्प्पो वृक्षे चटित्वा अंडकानि भक्षयति स्म। काकी दुःखिनी जाता। ततो बुद्धया तया राजपुत्र्या स्नानं कुर्वत्या जलतीरस्थवस्त्रास्थं हारमुत्पाट्य सर्पबिले मुक्तः। ततो राजपुरुषैर्हारं विलोकयद्भिः हारः सर्पबिले दृष्टः हारं गृह्णद्भिः सर्प्पं दृष्ट्वा सर्पस्तैर्हतः। काकी सुखिनी जाता।

उपायेन हि तत्कुर्यात् यन्न शक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्प्पो निपातितः ॥५॥

इति उपाये काकीसम्बन्धः ॥५८७॥

[588] अथ स्वजातित्यजन् दुःखे शृगालसम्बन्धः।

एकस्मिन् वने चण्डरवः शृगालस्तिष्ठति स्म। स च लौल्यात् पुरमध्ये प्रविष्टः श्वानस्तत्पृष्ठौ धाविताः। शृगालो नश्यन् रजकस्य नीलीकुण्डरसे पपात। सारमेया अपि पेतु स्तत्पृष्ठौ सर्वे सदृशा बभूवुः। शृगालो वने गतः। श्वानः स्वस्वपाटके गताः। वने व्याघ्रास्तं तादृशं दृष्ट्वा व्याघ्रादयो बिभ्यन्तः पलायनं कर्तुं लग्नाः वदन्ति च—

न यस्य चेष्टितं विद्यात् न कुलं न पराक्रमं।
न तस्य विश्वसेत् प्राज्ञो[१] य इच्छेद्धितमात्मनः ॥६॥

चण्डरवो भयाकुलस्तान् प्राह—भो श्वापदा मा यूयं भयं कुरुध्वं। अहं ब्रह्मणा वः स्वामीकृतः। ततो मम छत्रछायायां सुखं तिष्टत मां पश्यत। मम "पुषद्रुम" इति नाम दत्तमस्ति। एतत् श्रुत्वा सर्वे श्वापदाः स्वस्थीभूताः। ततस्तेन सिंहस्यामात्यपदवी दत्ता। व्याघ्रस्य शय्यापालत्वं द्वीपिनस्ताम्बूलिकपदवी वृकस्य द्वारपालकपदवी। ये चात्मीय[जातीयाः] जात्यास्तैः सह वार्तां न करोति शृगालः। यदा व्याघ्रादयः श्वापदान् हत्वा आनयन्ति तदा सर्वेषां स विभज्य दत्ते। एकदा रात्रौ दूरे शृगालान् शब्दं कुर्वाणान् श्रुत्वा जातिस्वभावात् उच्चैः शब्दं कर्तुं लग्नः। ततो व्याघ्रादिभिर्ज्ञातं अयं शृगालः। अनेन वाहिता वयं, लज्जितास्तैरुत्थाय शृगालो नश्यन् हतः। यतः—

आत्मवर्गं परित्यज्य, परवर्गं तु सेवते।
स एव निधनं याति, यथा राजा पुषद्रुमः ॥१॥

इति स्वजातित्यजन् दुःखे शृगालसम्बन्धः ॥५८८॥

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम् ।
यो हन्यात्तस्य पापं स्यात् शतब्राह्मणघातम् ॥१॥

ततः सिंहेनाभयदानं दत्तं। प्रोक्तं स्वेच्छयात्र तिष्ठ। स्वरोचितं तृणं भक्षय। तव नामापि न गृहीष्यति। ततः स क्रमेलको मत्तः जातः। एकदा सिंहेनोक्तं—भो व्याघ्रादय! भक्ष्यं आनयत। तैः सर्वं वनं विलोकितम्। कोऽपि श्वापदो न घटितः। ततस्तैः प्रोक्तं-स्वामिन्नयं क्रमेलको भक्ष्यते। सिंहोऽवग्—मया त्वस्याभयदानं दत्तमस्ति। ततस्ते प्रोचुः—स्वामिनो मृतिं गच्छतो यदि सेवकः स्वप्राणान् ददाति तदा वरं, अतोऽयं भक्ष्यते, परिवारो जीवति, विना सेवकान् राजाप्यराजा स्यात्। यतः—

[१]न यज्वानोपि गच्छन्ति नैव गच्छन्ति योगिनः।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः ॥२॥

ततस्तैर्व्याघ्रादिभिः क्षुद्रैः सेवकैस्तथाकृतं तथा जल्पितं, यथा क्रमेलको व्याघ्रादिभिर्हतः। सिंहाद्यैः सर्वैः भक्षितः। यतः—

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे व्याघ्रादयो यथा ॥३॥

इति वैरिसेवने उष्ट्रमृत्युसम्बन्धः ॥५८९॥

[590] अथ हितवाक्ये कच्छपसम्बन्धः ।

मित्राणां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनंदति ।
स कूर्म्म इव निर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति ॥१॥

तथाहि—एकस्मिन् जलाशये कंबुग्रीवकच्छपस्य संकटविकटौ पक्षिणौ सुहृदौ जातौ। मिथः प्रीतिः त्रयाणां जाताः। सायं स्वस्वस्थाने ययुः। एकदा मेघे अवर्षति सरः शोषं गच्छत् दृष्ट्वा संकटविकटौ कंबुग्रीवस्याग्रे प्रोचतुः—भवान् वृद्धोऽन्यत्र यातुं न शक्तोऽस्ति, ततः किं करिष्यते? कच्छपः प्राह—आनीयतां काष्ठं प्रलंबं, तस्मिन्काष्ठेऽहमुपविशामि। युवाभ्यां काष्ठमुभयोः पार्श्वे दन्तैर्धृत्वोत्पा[ट्या]न्यत्र जलाशये नेतव्यम्। ततोऽहं सुखी भविष्यामि। युवां पक्षिणौ मे सुहृदौ। तत्र सरस्तीरे तिष्ठत। फलास्वादादि कुरुत। तौ प्रोचतुरेवं कुर्वतो आवयोस्त्वया मौनं कार्यं, नो चेन्मार्गे त्वयि जल्पति लोका असदृक्षं दृष्ट्वोपद्रवं करिष्यन्ति। कच्छपेन मानितोऽतो [मानिते सति] काष्ठमानीय तं तत्र स्थापयित्वा व्योम्नि चलितौ तौ सुहृदौ पक्षिणौ तथा काष्ठारूढं कच्छपं कृत्वा यदा व्योम्नि चेलतुः। यदा वेणापुरोपरि आगतौ तदा लोका काष्ठं तथाकारं दृष्ट्वा प्रोचुः-

१. न यज्वानोऽपि गच्छन्ति, तां गतिं नैव योगिनः।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः॥ इत्यपि श्रूयते।

अहो अपूर्वं किमपि याति व्योम्नि, तदा कोलाहलं श्रुत्वा कम्बुग्रीवोऽवग्–भो सुहृदौ ! लोकाः कोलाहलं किं कुर्वन्ति । तं जल्पन्तं श्रुत्वा लोका जगुः—अरिष्टमेतत्पुरस्य करिष्यत्यतो हन्यताम् । ततो लोकैर्लगुडैरिराहत्याहत्य पातितो भुवि खंडशः कृतश्च स । सुहृदौ स्वं जीवं लात्वा नष्टौ ।

इति हितवाक्ये कच्छपसम्बन्धः ॥५९०॥

[591] अथ अनागतमति–प्रत्युत्पन्नमति–यद्भविष्यसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिज्जलाशये अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिः यद्भविष्यश्च त्रयो मत्स्या वसन्ति । एकदा तस्य सरसः पार्श्वे गच्छद्भिः मत्स्यबंधकैरुक्तं—अयं ह्रदो बहुमत्स्यपूर्णोऽस्ति तेनात्र मत्स्या गृह्यन्ते । एवैतोक्तं प्रातरत्रागत्य गृहीष्यते मत्स्या । एतद्वाक्यं अनागतविधाता द्वयोः पुरः प्राह—कल्येऽमी निष्कासयन्ति । आनन्तो घरिष्यन्ति हनिष्यन्ति । प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—मत्स्यांस्तमन्यत्र गम्यते । उक्तं च—

परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥१॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्, एकत्ररात्रेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः, क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥२॥

यद्भविष्योऽवग्–तदा हसित्वा अहो भवद्भ्यां सम्यग् चिन्तितं मंत्रितं च वचनमात्रश्रुतेः । एवंविधमहं सरस्त्यक्तुं न युक्तं । आयुःक्षयादन्यत्र गतैरपि न छुट्यते । ततोऽहं न यास्यामि । युवयोर्यद् रोचते तद् क्रियते । ततः अनागतमतिप्रत्युत्पन्नमति अन्यत्र जलाशये गतौ सपरिवारौ । प्रातर्मैनिकैस्तत्रैत्य जलं विलोड्य यद्भविष्यः सकुटुंबो धृतः स विनाशितस्तैः । उक्तं च—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेतौ सुखमावत्ते यद्भविष्यो विनश्यति ॥३॥

इति अनागतमति प्रत्युत्पन्नमतियद्भविष्यसम्बन्धः ॥५९१॥

[592] अथ चटिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने चटकदंपती वसतः स्म । चटिकया वृक्षे मालकः कृतः, प्रसवो जातः । गजेनागत्य तथा धूनितो यथा तस्या अपत्यानि मृतानि । एवं चटिका रोदिति एवं पुनः पुनः मालके भग्ने चटिकां प्रति चटकः प्राह—किं क्रियते अत्रान्तरे तत्रागतः काष्ठकूटः पक्षी, तां रुदन्तीं दृष्ट्वा प्राह—किं वृथा रुदितेन । उक्तं च—

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।
पण्डितानां च मूर्खाणां, विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥१॥

तस्मान्न रोदितव्यं, क्रिया कार्या स्वशक्तितः। ममापि संतानमनेन हृतम्। तद् दुःखं ममाप्यस्ति। सावग्-मातुरपत्यानां मृतेरतीव दुःखं जायते। काष्ठकूटः प्राह-सत्यमुक्तं त्वया, तत्पश्य मे बुद्धिप्रपञ्चम्। मम सुहृत् वीणारवा मक्षिकास्ति तीक्ष्णतुंडा, तया च गज आकुलः क्रियते। ततो मक्षिका आहूता कार्यं प्रोक्तं तस्या अग्रे। मक्षिकावग्-ते वचः प्रमाणं परं मम मेघनादो भेकः सुहृद् वर्तते। स चाकार्यते सोपि भेक आकारितः। चटिकाऽपत्यहननस्वरूपं प्रोक्तं तस्याग्रे। ततः काष्टकूटः प्राह—भो मक्षिके वीणे! तथा कुरु यथा गजो व्याकुलो भवति। मक्षिकया तत्प्रतिपन्नं काष्ठकूटोऽवग्-तस्य नेत्रे कर्षयिष्यामि। भो भेक! त्वं गर्तायां गत्वा शब्दं कुरु तथा वारिलोभादंधीभूतो गजस्तस्यां पतित्वा म्रियते। ततो मक्षिकया गजो व्याकुलीकृतः। काष्ठकूटेन चंच्वा नेत्रे कर्षिते। ततोंधीभूतो गजः तृषार्तो मेघशब्दं श्रुत्वा जलभ्रान्त्या गर्ताधः पपात मृतः। उक्तं च—

चटिका काष्ठकूटेन मक्षिका सह दर्दुरैः।
महाजनविरोधेन कुंजरः प्रलयं गतः॥२॥

इति सामान्येनापि वैरं दुःखाय स्यात्। इति चटिकासम्बन्धः॥५९२॥

[593] अथ स्वपराभव-समुद्रजयनोपरि टिट्टिभसम्बन्धः।

समुद्रोपकण्ठे टिट्टिभदंपती वसतः स्म। अन्यदा टिट्टिभ्योक्तं पत्युः पुरः—स्वामिन्! मम प्रसवावसरोऽस्ति कुत्र स करिष्यते मया। टिट्टिभः प्राह-अत्रैव रुचिरं दृश्यते, अब्धेः पार्श्वे क्रियताम्। टिट्टिभी प्राह—कदाचिद्वार्द्धिरंडकान्यपहरिष्यति तदात्मनो का गतिः? टिट्टिभोऽवग्-समुद्रो मया समं वैरं न करिष्यति। यतः—

को गृह्णाति फणिमणिं ज्वलमानं तेजसा भुजंगस्य।
यो दृष्ट्वैव प्रहरति, दुरासदं कोपयति कस्तम्॥१॥
यः पराभवसंत्रस्तः स्वस्थानं विजहौ (संत्यजेत्) नरः।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते॥२॥

टिट्टिभ्यवग्—सत्यमुक्तं, परं वार्द्धि बली विद्यते। टिट्टिभोऽवग्-किं क्रियते वराकेन? एतत् श्रुत्वा अब्धिर्दध्यौ-अहो गर्वः टिट्टिभस्य वराकस्य। यतः—

स्वचित्तकल्पितो गर्वः शक्यते केन वारितुम्।
उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादौ शेते भङ्गभयाद् भुवः॥३॥

तन्मया कौतुकं विलोकयिष्यते। अन्यदा टिट्टिभी अंडकानि मुक्त्वा चुण्यर्थं गता। समुद्रो वेलाव्याजेन तानि जहार। टिट्टिभी तत्रागता स्वाण्डकानि वार्द्ध्यापहृतानि दृष्ट्वा पतिं प्रति प्राह—स्वामिन्! मयोक्तं समुद्रोऽण्डकानि हरिष्यति, समुद्रेणापहृतानि, त्वं तस्य किं करिष्यसि। टिट्टिभः

प्राहेति प्रिये ! मम चेष्टितं विलोकय. तथा करिष्ये यथा विभ्यन् वार्द्धिरण्डकान्यर्पयिष्यति नः । टिट्टिभी प्राह् असमर्थेन पुंसा समर्थस्य किं स्यात् । यतः—

पुंसामसमर्थानां उपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।
पिठरं क्वथदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥४॥

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवद् ॥५॥

टिट्टिभः प्राह–मैवं वद प्रिये ? । उक्तं च—

बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरिभूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ॥६॥

टिट्टिभी जगौ–कान्त ! कथं महदब्धेः पराभवः स्यात् । टिट्टिभोऽवग्—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं, चंचूर्मे लोहसन्निभा ।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति ॥७॥

दुरधिगमः परभागो यावत् पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥८॥

टिट्टिभी प्राह—यद्यब्धिना सह वैरं करिष्यते तदा सर्वान् पक्षिणः आकारय । ततश्चंचुभिर्धूलिं क्षिपाब्धौ । यतः—

बहूनामप्यसाराणां, समुदायो हि दुर्जयः ।
तृणैर्वेष्ट्यते रज्जूर्यया नागोपि बध्यते ॥९॥

ततो टिट्टिभेन बक-सारस-चक्रवाकादयो विहङ्गमा आकारिताः । प्रोक्तश्च स्वपराभवसम्बन्धः । ते पक्षिणः प्रोचुः—वयमसमर्थाः, समुद्रः कथं शुष्यते ?, वृथा प्रयत्नेन । उक्तञ्च—

अचलं प्रोन्नतं शत्रुं, यो याति मदमोहितः ।
युद्धार्थं स निवर्तेत, शीर्णदन्तो गजो यथा ॥१०॥

ततः आत्मनः स्वामी गरुडो विद्यते । ततः सुस्वामिबलात् समुद्रस्य शिक्षां ददाति । ततस्तैर्वैनतेयस्य दुःखं ज्ञापितम् । अधुनाऽब्धिना पराभवः कृत आत्मजातेः, अन्येपि करिष्यन्ति । यतः—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य, करोत्यन्योपि गर्हितम् ।
गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः ॥११॥

राजा बंधुरबंधूनां, राजा चक्षुरचक्षुपाम् ।
राजा पिता च माता च, राजा रात्रिहरो (?) गुरुः ॥१२॥
सर्वेषां पक्षिणां राजा, त्वमसि गरुडोत्तम ! ।
कुरुते न तथांभोधिर्यथा शोषं प्रयास्यति ॥१३॥

ततो गरुडः सचिन्तो यावदभूत् तावत् कृष्णस्य दूतो गरुडमाकारयितुमागात् दैत्ययुद्धहेतवे । ततो गरुडः कृष्णपार्श्वे प्राह—टिट्टिभस्य अण्डानि समुद्रेणापहृतानि वालय । यतः—

यो न वेत्ति गुणान् यस्य, न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात् फलं किञ्चिद्, सुकृष्टादूषरादिव ॥१४॥

ततः कृष्णोऽवग्—भो गरुडः ! त्वया सत्यमुक्तम् । यतः—

भृत्यापराधे यो दण्डः, स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जापितस्योत्था तु भृत्यस्य स्वामिनो भवेत् ॥१५॥

ततो गरुडादिपरिवारयुक् कृष्णः समुद्रकण्ठे गत्वा आग्नेयं शरं धनुषि आरोप्याब्धिं प्रत्यवग्—टिट्टिभस्याण्डकान्यर्पय, नो चेदनेन शरेण त्वां स्थलं करिष्यामि। ततः समुद्रो बिभ्यन् टिट्टिभाण्डानि पश्चाद्ददौ, जगौ चाऽतो नापराधं करिष्ये । ततः सर्वे स्वस्वस्थानं ययुः । उक्तं च—

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा, वैरमारभते तु यः ।
स पराभवमाप्नोति, समुद्रः टिट्टिभाद्यथा ॥१६॥

इति स्वपराभव समुद्रजयनोपरि टिट्टिभसम्बन्धः ॥५९३॥

[594] अथ पापे पापबुद्धिसम्बन्धः ।

भीमपुराद् धर्म्मबुद्धिपापबुद्धी सुहृदौ विचार्य धनार्जनाय चलितौ । धनमुपार्ज्य पश्चात् स्वगृहं प्रति चेलतुस्त्वरितं । यतः—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद् भवेत् ॥१॥

मार्गे पापबुद्धिर्धर्मबुद्धि प्रत्यवग् सर्वं धनं गृहे न नीयते। कुटुंबिनो बांधवा मार्गयिष्यंति, तेन पुराद्बहि न्यासीक्रियते धनं कियत् । यतः—

न वित्तं दर्शयेत् प्राज्ञः कस्यचित् स्वल्पमप्यहो ।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाचलते मनः ॥२॥

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यन्ते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥३॥

ततस्तौ किञ्चिद्धनं ग्रामाद्बहिर्न्यासीकृत्य गृहमागतौ। एकदा रहो रात्रौ पापबुद्धिना तत्र गत्वा धनं गृहीतं। गर्तां पूरयित्वा स्वालये आगात्। अन्येद्युः धर्मबुद्धिः प्राह—धनं विना सीदामि। तेन धनमानीयते। पापधीः प्राह-गम्यताम्। ततो द्वावपि धनं लातुं गतौ। धनस्थानं धनरिक्तं दृष्ट्वा प्रथममेव पापबुद्धिः शिरस्ताडयन्नाह त्वयैव धनं गृहीतं धर्मबुद्धे ! नान्येन। यतोऽन्यः कोपि न वेत्ति। धर्मबुद्धिः प्राह—[भो दुरात्मन्, मैवं वद, नैतच्चौरकर्म करोमि] त्वया गृहीतं मायां कुर्वाणोऽसि त्वं, अहं तु धर्मधीः कस्यापि तृणमप्यदत्तं न गृह्णामि। यतः—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टुवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥४॥

एवं द्वावपि विवदमानौ राजकुले गतौ मिथो दूषणानि प्रोचतुः। अथ धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं-दिव्यं क्रियताम्। तदा पापबुद्धिः प्राह-अहो न दृष्टो न्यायः सम्यग् भवद्भिः। उक्तं च—

विवादे त्वेष्यते पत्रं, तदभावे च साक्षिणः ।
साक्ष्यभावे ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५॥

यदत्रविषये मे वनदेव्येव साक्षिण्यस्ति। सा च सम्यग् वक्ष्यति चौरं। ततस्तैरुक्तं सत्यमुक्तं त्वया। उक्तं च—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी, विवादे संप्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं, किं पुनर्यत्र देवता ॥६॥

ततो मानितमधिकारिभिः प्रातर्वनदेवता प्रक्ष्यते। पापबुद्धिना रात्रौ छन्नं पिता स्थापितः शमीकोटरे। प्रोक्तं च त्वयैवं प्रोच्यं धर्मबुद्धिर्धनं ललौ। द्वितीयदिने धर्मबुद्धिः पापधी अधिकारिणोऽन्ये बहवो लोकाः वनं गताः। वनदेव्याः पूजां कृत्वा प्रोक्तं—भो वनदेवते ! येन धनं गृहीतं तत् कथय। ततः शमीकोटरात् शब्दो निस्ससारेति धर्मबुद्धिर्धनं ललौ। ततो यदाधिकारिणो जगुस्त्वया धनं गृहीतं। तदा धर्मबुद्धिना शमी वह्निना ज्वालितः। शमीतरौ ज्वलति अर्धदग्धांगः पापधीपिता स्फुटिताक्षः शमीकोटरान्निर्ययौ। ततोऽधिकारिभिः प्रोक्तं—श्रेष्ठिन्नेतत्किं त्वया वृद्धत्वे पापं कृतं। श्रेष्ठ्याह—पुत्रेण कारितोऽहं। ततो हक्कितः पापधीः। सर्वं धनं ददौ धर्मबुद्धिस्तत्कं। पापबुद्धिसम्बन्धिराज्ञा गृहीतं। पापबुद्धिः स्वदेशान्निष्काशितः। उक्तं च—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ भुवि ।
पुत्रेण मारितः पाप-बुद्धिना धनलोभतः ॥७॥

इति पापे पापबुद्धिसम्बन्धः ॥२९४॥

[595] अथ स्वीयपापभवने बकसम्बन्धः ।

उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य, नकुलेन हता बकाः ॥१॥

कस्मिंश्चिद् वने वृक्षे बकास्तिष्ठन्ति । तस्य तरोः कोटरे सर्पस्तिष्ठति । स चाहिर्जातमात्रान् बकबालकान् भक्षयति स्म । ततो दुःखितो बको जलाशयतीरे गत्वा रोदिति । कुलीरकोऽवग्-बक ! कथं रुद्यते ? । बकेन तस्य दुःख[स्व]रूपं प्रोक्तं । कुलीरो दध्यौ अयं मम सहजो वैरी विद्यते ततस्तथा वच्मि यथा सत्यानृतं भवति । बका अपि वैरिणः क्षयं यान्ति, अहिरपि च । ततो मधुरं प्राह—

नवनीतां समां वाणीं, कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः, सान्वयो म्रियते यथा ॥२॥

ततः कुलीरोऽवग्-अतो मत्स्यमांसखण्डानि लात्वा नकुलवर्त्मतः सर्पकोटरं यावद् मुञ्च [यथा नकुलस्तं दुष्टसर्पं विनाशयति] त्वमपि स्वभक्षणाय गृहाण । ततस्तेन कुलीरोक्तं कृतम् । ततो नकुलो मांसलुब्धः प्रथमं सर्पं गृहीत्वा जघान । अतो वैरिणः पुरः स्वगुह्यं न [प्र]काश्यम् ।

इति स्वीयपापभवने बकसम्बन्धः ॥५९५॥

[596] अथ मिथच्छले तुलाभार सहस्रसम्बन्धः ।

पद्मपुरे जीर्णधनश्रेष्ठी क्रमाद् दरिद्रो भूत्वा धनमुपार्जयितुं दूरदेशं यियासुरभूत् । यतः—

यत्र देशे[ऽथवा]स्थाने, भोगान् भुक्त्वा स्ववीर्यतः ।
तस्मिन् विभवहीनो यो, वसेत् स पुरुषाधमः ॥१॥

ततो लोहमयीं तुलां भारसहस्रघटितां धनदवणिजो गृहे ग्रहणके मुक्त्वा धनं लात्वा च सोऽचालीत् । ततो विदेशाद्धनमुपार्ज्य यदागतः श्रेष्ठी धनदस्याग्रे प्राह—धनं सव्याजं गृहाण, निक्षेपकृता तुला दीयताम् । धनदोऽवग् तुला मूषकैः खादिता । ततः श्रेष्ठी आकारगोपनं कृत्वा धनदपुत्रं नीत्वा नदीस्नानकरणमिषेण नद्यां गतः । तत्र वृक्षकोटरे धनदपुत्रं दृढं स्थापयित्वा धनदगृहे स्नानं कृत्वागात् । धनदोऽवग्—मम पुत्र क्वास्ति । जीर्णः प्राह—स्नानं कुर्वन् नद्यां श्ये[श्ये]नेनापहृतः । धनदोऽवग् जीर्णश्रेष्ठिन्निदं कूटं किं जल्प्यते ? । बालकं श्येनः कथमुत्पाट्यते । पुत्रमर्प्पय न चेत् त्वां राजकुले नेष्यामि । जीर्णः प्राह-यथा मम तुला लोहमयी महती मूषकैः खादिता तथा तव पुत्रोऽपि श्येनेनापहृतः । राजकुले गतौ । तत्रापि न्यायो जातः । द्वयोरग्रे प्रोक्तं धनद त्वमस्मै तुलां वितर । जीर्णस्ततस्तुभ्यं पुत्रं दास्यति । ततो धनदेन तुला दत्ता जीर्णाय । जीर्णेन धनदाय धनदपुत्रो दत्तः ।

तुलां भारसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः ।
तत्र श्येनो हरेद्बालं न विस्मयोऽत्र विद्यते ॥२॥

इति मिथच्छले तुलाभारसहस्रसम्बन्धः ॥५९६॥

[597] अथ अनागतचिन्तने लोमांतकसम्बन्धः ।

अनागतं यः कुरुते स शोभते [न शोभते] यो न करोत्यनागतम् ।
[1]वने वसन्तस्य जराप्युपागता बिलस्य वाचा न कदापि निसृता ॥१॥

वने सिंहो वसति स्म । स त्वेकदा भक्ष्यं न प्राप । ततो महतीं गुहां दृष्ट्वा दध्यौ—नूनमस्यां गुहायां रात्रौ सत्त्वानि स्थास्यन्ति । ततोऽहं निभृतं तिष्ठामि । ततः सिंहस्तत्राऽस्थात् ।

इतो गुहास्वामी दधिपुच्छोनाम लोभातक [शृगालः] आगतो गुहाद्वारे । सिंहपदानि प्रविशन्त्यपश्यत् । न निर्गच्छन्ति । लोमातको दध्यौ—अस्यां गुहायां सिंहो विद्यतेऽधुना, ततो मया सम्यक् कथं ज्ञास्यते । एवं ध्यात्वा स लोभातको द्वारस्थ एव पूत्कर्तुं लग्न इति भो गुहे ! यदि त्वं मामाह्वयसि तदाहं मध्ये समेष्यामि, नो चेद् द्वितीयस्यां गुहायां यास्यामि । एवं पुनः पुनः जल्पन्तं श्रुत्वा सिंहो दध्यौ—अयमाकारणं विना नैवात्रायाति । ततः सिंहो जगौ—भो लोभातक ? आगच्छ आगच्छ । ततः सिंहशब्दं श्रुत्वान्येपि सत्त्वा दूरं नष्टाः । ततो लोभातको जगौ—"अनागतं यः कुरुते स शोभते" इदं काव्यं प्रोच्य गुहायां न गतः । ततश्चिरं जिजीव लोभातकः । सिंहो बुभुक्षितोऽन्यत्र गतः ।

इति अनागतचिन्तने लोमातकसम्बन्धः ॥५९७॥

[598] अथ स्वजातिनिकन्दनपापे गङ्गदत्तभेकसम्बन्धः ।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य, न गंगदत्तः पुनरेति कूपम् ॥१॥

एकस्मिन् कूपे गंगदत्ताह्वो भेकोऽवसत् । अन्यैर्भेकैरुद्वेजितो दध्यौ—इतो निर्गत्य भेकानुपायात् हन्मि । यतः—

आपदि येनाऽपकृतं, येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥२॥

एवं विमृश्य अरघट्टीमारुह्य भेकः कूपाद्बहिर्निर्गत्य कृष्णसर्पस्य बिले प्रविष्टः । भेकं निर्भयमागच्छन्तो दृष्ट्वा सर्पः प्राह—भो प्रियदर्शनात्रागच्छ किं कार्यं तव । भेकोऽवग्—अहं भेकोऽस्मि गंगदत्ताह्वः त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमागाम् । सर्पः प्राह अश्रद्धेयमेतत्—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथंचन ।
न च तत्पार्श्वमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥३॥

भेकोऽवग्—सत्यमिदं प्रोक्तं त्वया, पर स्वजात्याहं पराभूतः, ततस्तस्या निकन्दनाय तव पार्श्वे समागमम् । यतः—

---

[1] वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता । —इति क्वचिद् ।

सर्वनाशे समुत्पन्ने प्राणानामपि संशये ।
अपि शत्रुं प्रणम्योच्चैः, रक्षेत् प्राणान् धनानि च ॥४॥

सर्पोऽवग्—वैरिणः कुत्र सन्ति । भेकोऽवग्-कूपे सन्ति । सर्पोऽवग्-तत्र कथं गम्यते । कथं ते दायादाः [भक्षयिष्यते] । भेकोऽवग्-अहं विश्वास्य दर्शयिष्यामि दूरतो यान् तान् त्वया भक्षणीया । ततो भेको गंगदत्तः सर्प्पं अरघट्टघटमार्गेण कूपमध्ये नीतवान् । ततो भेकेन दर्शिता भेका भक्षिताः सर्प्पेण । अथ भेकाभावे सर्प्पोऽवग्-तव वैरिणो भक्षिता मया । ततोऽहं बुभुक्षितोऽस्मि, प्रयच्छ भक्ष्यं, यतोऽहं त्वयानीतोऽस्मि । गंगदत्तोऽवग्-भद्रं कृतं मत्कार्यं, त्वं स्वस्थाने गच्छारघट्टघटीमार्गेण । सर्पः प्राह-मदीयं विलमन्यै रुद्धं भावि, तेनात्रस्थस्य मम स्ववर्गादेकैकं भेकं प्रयच्छ प्रतिदिनं नो चेत् सर्वानपि भक्षयामि [भक्षयिष्यामि] । ततो गंगदत्तो बिभ्यन् दध्यौ-मया किमकार्यं कृतम् । असौ वैरी अत्रानीतो मौढ्यात् यदि किं जल्पते सम्मुखं तदा सर्वान् मया सह भक्षयत्यहिः । यतः—

अमित्रं कुरुते मित्रं वीर्याभ्यधिकमात्मनः ।
स करोति निःसंदेहः स्वयं च विषभक्षणम् ॥५॥

तत्प्रयच्छाम्येकैकं सर्प्पायास्मै प्रतिदिनं । उक्तं च—

सर्वनाशे समुत्पन्ने, अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
न स्वल्पस्य कृते सर्वं नाशयेन् मौढ्यमास्थितः ॥६॥

एवं ध्यात्वा स्वजातित एकमेकं भेकं सर्प्पाय ददाति गंगदत्तः । परोक्षे अपरमपि सर्प्पोऽवसरे भक्षयति । एकदा गंगदत्तपुत्रोपि बुभुक्षितेन भक्षितोऽहिना तत् ज्ञात्वा गंगदत्तो विलापान् करोति । ततो गंगदत्तपत्न्याभिहितं—कान्त ! असौ सर्प्पो यथा निष्काश्यते मार्यते वा तथा कुरु, किं रोदनेन । वैरी स्वगृहे आनीतो मुधा स्वजातिर्निष्ठापिता । कालेन गच्छता एको गंगदत्त उद्धरितः । सर्पेणोक्तं भक्ष्यं देहि बुभुक्षितोऽस्म्यहम् । त्वयाहमत्रानीतोऽस्मि । गंगदत्तः स्वजीवितरक्षणाय विचिन्त्याह—भो मित्र ! त्वमत्र तिष्ठ, अहमन्यस्मात् कूपात् विश्वास्य विश्वास्य भेकानानेष्यामि त्वया ते भक्षणीयाः । एवं प्रोक्त्वा गंगदत्तोऽरघट्टघटीमार्गेण निर्गत्यापरकूपे गतः । स च भेको यदा नायाति तदा सर्पो गोधां प्रति प्राह—गंगदत्तं विश्वास्यात्रानय । सा च गोधा पश्यन्ती गंगदत्ताधिष्ठिते कूपे ययौ जगौ च—भो गंगदत्त ! तव सुहृद् सर्प्पः तव वर्त्म विलोकयन्नस्ति । तव विरहात्तस्य प्राणा यान्ति । ततो गंगदत्तोऽवग् गच्छ गोधे ? कथय मम मित्राय "बुभुक्षितः किं न करोति पापं ।"

इति स्वजातिनिकन्दनपापे गंगदत्तभेकसम्बन्धः ॥५९८॥

[६99] अथ मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ।

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥१॥

वने सिंहस्य शृगालो मित्रं । एकदा सिंहस्य हस्तिना सह युध्यतः शरीरं जर्जरं जातम् । गन्तुं न शक्नोति । ततो बुभुक्षितो मित्रं प्रति प्राह—सत्त्वमेकमानय, बुभुक्षा लग्ना, प्राणा यास्यन्ति । ततः शृगालो भ्रमन् लम्बकर्णं रासभं दृष्ट्वा अवग्-भो लम्बकर्ण ! क्षामः कथं त्वम् । सोऽवग् कुम्भकृद् भारं वाहयति परं किमपि न दत्ते । स्वयं शुष्कानि तृणानि भक्षयित्वा निर्वाहकं करोमि तेनाहं क्षामोऽस्मि । शृगालोऽवग्-यदि मदुक्तं कुरुषे तदा तथा करोमि यथा प्रचुरं भक्ष्यं तव भवति । ततो लंबकर्णः शृगालेन सह चचाल । अग्रे सिंहस्य नीतस्तदा सिंहश्चपेटां दातुमुद्यतोऽभूत् । तदा रासभो नष्टः स्वस्थाने गतः । सिंहोऽवग्-शृगालं मित्रं प्रति, बुभुक्षा लग्ना । किं करिष्यते । शृगालोऽवग्-मया तु भक्ष्यं आनीतं, त्वया स भक्षितुं न शक्तः किं क्रियते । सिंहोऽवग् पुनरानय तं तथा करिष्येऽहं यथा न पश्चाद् यास्यति । ततः शृगालो रासभपार्श्वे गत्वा भो मित्र ! त्वं कथं नष्टः । स रासभोऽवग्-सिंहो मां हन्तुं धावितस्तेनाहं नष्टः । शृगालोऽवग्-न सिंहोऽयं किन्तु रासभी त्वामालिंगितुमनुरागत्वाद्धधाव । त्वं तु नष्टः ततःप्रभृति सा रासभी त्वां विना न शेते । ततः स्वदर्शनेन तां प्रीणय । ततो रासभेन मुग्धत्वात् शृगालवचः प्रतिपन्नं । ततस्तत्र गतः सिंहेन चपेटया हतः भक्षितश्च । ततोऽन्यैरुक्तं आगतश्च गतश्चैव । इति मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ॥५९९॥

[600] अथ अनुचितजल्पने कुंभकारसम्बन्धः ।

स्वार्थमुत्सृज्य यो दंभी सत्यं ब्रूते सुमंदधीः ।
सः स्वार्थाद् भ्रश्यते कुम्भकारो युधिष्ठिरो यथा ॥१॥

भीमपुरे युधिष्ठिरः कुम्भकारः तस्य कस्मिंश्चिदुत्सवे गच्छतो भग्नघटस्य कर्प्परं ललाटे दृढं लग्नं । पृथ्वीचंद्रिका पतिता क्रमाद् रुद्धा ।

अथ कदाचिद् दुर्भिक्षे पतिते परदेशे चन्द्रपुरे चन्द्रभूपस्य मिलितः । ललाटे खड्गप्रहाराकारां चंद्रिकां दृष्ट्वा स सेवकः कृतः, द्विगुणो ग्रासः कृतो राज्ञा । अन्यदा परचक्रे समागते राज्ञोक्तं-वैरिणं सम्मुखं गत्वा युद्धं कुरु वैरिणंत्रासय, त्वया पुरापि युद्धं कृतमस्ति । ततः स प्राह—सत्यमसत्यं वा प्रोच्यते । राज्ञोक्तं सत्यमेव जल्प । ततस्तेन स्वललाटे चंद्रिकापतनस्वरूपं प्रोक्तम् । ततो राज्ञा अर्धचन्द्रदानेन सर्वग्रासं गृहीतः सः ।

इति अनवसरोचितजल्पने अनुचितजल्पने च कुम्भकारसम्बन्धः ।

[601] अथ मातृहितोपरि सिंहीसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्वने सिंहदम्पती तिष्ठतः स्म । अपत्यानि न भवन्ति । एकदा सिंहेन बालः शृगालो दृष्टः । स च पुत्रो ममायमिति पत्न्यै दत्तः । उक्तं च—त्वया पुत्रवदयं पालनीयः । ततः सिंही पालयामास तं । क्रमात्सिंह्या पुत्रद्वयं जनितं । त्रयोऽपि सोदरीभूत्वा तिष्ठन्ति गच्छन्ति । एकदा त्रिभिर्मत्तो गजो दृष्टः । यतः सिंहपुत्रौ धावितुं लग्नौ । तदा तृतीयः सिंहीपुत्रः प्राह-भो सोदरौ !

अयमात्मनो वैरी नो हनिष्यति । ततस्त्रयोऽपि स्थिताः । गजो गतोऽन्यत्र । ततः सिंहजौ मातापितोः पुरः प्रोचतुः–गजप्राप्ति–स्वरूपं । आवयोरयं भ्राता गजात् कथं बिभेति ? शृगाल-भ्राता तयोरुपरि रुष्टोऽत्यन्तं । ततः सिंह्याकार्य शृगा(ल)पुत्रं प्रति प्रोचे । तव सोदराविमौ तयोः पुत्रयोः पुरः प्रोक्तम्—अयं युवयोर्भ्राता मिथः कलहं मा कुरुध्वं । ततः शृगालपुत्रो मातुः पार्श्वे प्राह—मातरहं एताभ्यां भ्रातृभ्यां हीनबलः कथं । माताऽऽचष्ट—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रकः ।
परं यत्र त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥१॥

इति मातृहितोपरि सिंहोसंबंधः ॥६०१॥

[602] अथ अविमृश्यवाग्विकरणे रासभसम्बन्धः ।

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयेद्दारुणं वपुः ।
व्याघ्ररूपधरस्तादृग् वाग्कृते रासभो हतः ॥१॥

पद्मग्रामे रजकस्य शुद्धपटस्य गर्द्दभो घासाभावात् कृशोऽभूत् । इतो रजकेन व्याघ्रचर्मप्राप्तं । ततो व्याघ्रचर्म्मं परिधाप्य रासभशरीरो व्याघ्रतुल्यं रासभं कृत्वा यवक्षेत्रेषु यवान् चारयामास रजकः । ततः क्षेत्रेषु लोका व्याघ्रं दृष्ट्वा दूरं नश्यन्ति । स च रासभः पीनतनुर्दूरादपि शब्दम-क[रो]त् । ततो यवपालकै रासभो ज्ञातो व्याघ्ररूपभृत् । एवं सम्यग् ज्ञात्वा व्याघ्ररूपो रासभस्तैर्हतः ।

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥१॥

इति अविमृश्यवाग्विकरणे रासभसम्बन्धः ॥६०२॥

[603] अथ मौनं वर्यमिति एकतादितापससम्बन्धः ।

एकस्मिन्नदीतटे एकतं, द्वितं, त्रितं नामानो भ्रातरस्तपस्तपन्ति । तेषां तपसा धौतपोतिकाः आकाशे निराधारा तिष्ठंति । अत्रान्तरे मध्यंदिने गृध्रेण केनचिच्छलेन मात्सिका धृता । तां धृतां दृष्ट्वा गृध्रं प्रति एकतं प्राह—मुञ्च मुञ्चेमां । ततस्तस्य धौतपोतिकाशाद् भूमौ पपात । द्वितेनापि तदा प्रोक्तं मा मुञ्च तस्यापि सा पपाताधः । ततस्तृतीयो मौनं चक्रे ।

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्च पतितोऽपरः ।
उभौ तौ पतितौ दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥१॥

इति मौनं वर्यमिति एकतादितापससम्बन्धः ॥६०३॥

[604] अथ स्वजातिवल्लभेति मूषिकासम्बन्धः ।

यमुनानद्यां शालंकायनमुनेस्तपः कुर्वतः स्नानं च । एकदा तस्य पश्यतः श्येनो मूषिकां

लञ्चौ । तां श्येनगृहीतां दृष्ट्वा सकरुणस्तापसः प्राहेति—मुञ्च मुञ्चेमां वराकिकां । तामसुंचानं श्येनं प्रति ततः प्रस्तरान् तापसः प्राक्षिपत् । सोऽपि श्येनः पाषाणहतो भूमौ पपात । मूषिका-मुनेः शरणं प्राप्ता । श्येनोऽपि लब्धचैतन्योऽवग्—भो मुने ! मदीयं भक्ष्यं उद्दालितं त्वया विधिना दत्तम् । ततस्तव तपः कृतं निष्फलं भविष्यति । शालंकायनो जगौ—एनां शरणागतां प्राणात्यये ऽपि न मुञ्चाम्यहम् । ततः श्येनो गतः । मूषिकाथ प्राह—मां स्वाश्रयं नय नोचेदपरो हनिष्यति । ततस्तेन ऋषिणा सा मूषिका कुमारी कृता पुत्रीतिकृता स्थापिता । क्रमाद् यौवनं प्राप्ता । ऋषिर्वरं विलोकयते । यतः—

कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया, कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥१॥

ततो मुनिना वरो रविरानीतः । स च तापकत्वात् त्यक्तः । ततो मेघ आनीतो मुनिना स च कृष्णत्वात् तया न वरितः । ततो वायुरानीतोऽपि मुनिना चपलत्वान्नांगीचक्रे । ततो मुनिना पर्वत आनीतः कठिनत्वान्नांगीचक्रे । ततो मुनिना पुनः सा मूषिका कृता । यतः—सूर्य-मेघवायुपर्वतमूषका यथाक्रमं बलिनः, अतो मूषकपत्नी जाता । स्वजातिं प्राप्य संतुष्टाभूत् सा, यतः—

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।
स्वयोनिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमाः ॥१॥

इति स्वजातिवल्लभेति मूषिकासम्बन्धः ॥६०४॥

[605] अथ भये वणिक्–प्रियासम्बन्धः ।

या मामुद्विजते नित्यं, साऽद्य मामवगूहति ।
प्रियकारक ! भद्रं ते, यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥१॥

हीरग्रामे धीरो वणिग् बभूव । तस्य वृद्धत्वेन पत्नी मृता । अपरा परिणीता च तेन । सा च वृद्धत्वात्तमति न मन्यते । एकदा चौरः प्रविष्टः । तं च प्रविष्टं दृष्ट्वा भयभीता पतिपार्श्वे गत्वा प्राह—स्वामिन् ! चौरः प्रविष्टः मां अपहरिष्यति । रक्ष रक्ष मां । ततो वणिजा तां स्थिरीकृत्य चौरस्याग्रे प्रोक्तं छन्नं । मत्तस्त्वं भयं मा कार्षीः । यन्मम धनं तत्तवैव यतस्त्वया ममोपकारः कृतः, यन्मम पत्नी मयि जल्पन्ती कृता त्वया । कल्ये अभ्येत्य प्रोक्तव्यं–"भो श्रेष्ठिन् ! तव पत्नी-मपहरिष्यामि सहस्रदीनारान् गृह्णीयाः ।" ततो द्वितीयदिने सा विशेषतो भीता चौरेण पतिभक्ता स्त्री जाता । यतः—या मामुद्विजते नित्यं ।

इति भये वणिग्प्रियासम्बन्धः ॥६०५॥

[606] अथ अकार्यकरणे हालिकस्त्री–शृगालिकासम्बन्धः ।

वालिग्रामे हालिकपत्नी हालिकं त्यक्त्वान्यं पतिं चिकीर्षुरभूत् । एकदा तस्याः परवित्ताप-

हारका मिलितः। तेन समं प्रीतिर्जाता। हालिक उवाच मम पार्श्वे बहु धनं विद्यते तद्गृहीत्वान्यत्र गम्यते। ततः आवाभ्यां सुखेन स्थीयते। ततः सा रात्रौ पतिं सुप्तं मुक्त्वा बहुवस्त्राभरणादि लात्वा तेन सह चचाल। मार्गे नदी समेता। चौरश्चिंतयामास—किमनया स्त्रिया यया पतिस्त्यक्तः सा च मम पार्श्वे न स्थास्यति अतो वंचयित्वैनां यामि। ततस्तां प्रति प्राह—नदी अगाधा विद्यते, प्रथमं वस्त्रादि मह्यमर्प्पय। नद्याः परकूले मुक्त्वा त्वां नेष्यामि। ततस्तया एकं त्रुटितं जीर्णवस्त्रं परिधानाय रक्षयित्वा परं तस्यार्पितम्। स च सर्वं लात्वा नदीमुत्तीर्य नष्टः यदा स नागच्छति तदा शीते पतति एकाकिनी निर्वस्त्रा गल्लदत्तहस्ता साभूत्।

इतस्तत्र तटैका श्रृगालिर्मांसपिंडिं लात्वाऽऽगात्। तदा जलान्निर्गत्य मत्स्यो मांसपिंडलोलुपो मृतप्रायो भूत्वा स्थितः। तं मत्स्यं लातुकामा श्रृगालिका स्वाऽऽस्यात् मांसपिंडमधो मुक्त्वा मत्स्यं गृहीतुमधावत्। अत्रान्तरे व्योम्नः गृध्रोऽभ्येत्य मांसपिण्डं लात्वाकाशे गतः। मत्स्योऽपि नदीजले गतः। ततस्तां श्रृगालीं व्यर्थश्रमां गृध्रसम्मुखमवलोकयंतीं सवेलं क्रियंतीं दृष्ट्वा स्त्रिया तयोक्तं श्रृगालीं प्रति—

गृध्रेणापहृतं मांसं, मत्स्योऽपि सलिलं गतः।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जंबुके ॥१॥

श्रृगालिका प्रत्युत्तरं जगौ—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव।
न जारो न च भर्त्तारो किं निरीक्षसि नग्निके ॥२॥

ततः सा स्त्री चिरं दुःखं प्राप्ताऽकायकरणात्।

इति अकार्यकरणे हालिकस्त्रीश्रृगालिकासम्बन्धः ॥६०६॥

[607] अथ स्वदेश-स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः।

सुभिक्षाणि च सर्वत्र, शिथिलाश्चापि योषितः।
एको दोषो विदेशे स्यात्, स्वजातिश्च विरुध्यते ॥१॥

एकस्मिन् ग्रामे चित्राङ्गः श्वानस्तिष्ठति। तत्र दुर्भिक्षे पतिते सर्वे लोका अन्नाभावात् दुःखिता जाताः। अत्रान्तरे चित्रांगः क्षुत्क्षामः सुभिक्षं श्रुत्वा तत्राऽचलत्। वंगदेशे गतः। तत्रैकस्य गृहे शिथिला पत्नी यथा तथान्नं क्षिपति। स च तदन्नं भक्षयन् तृप्तोऽभूत्। परं वहिर्निर्गतोऽन्यैः श्वानैः पराभूतः। ततः श्वा दध्यौ—अहो वरं स्वदेशस्तत्र दुर्भिक्षेपि स्वेच्छया हिण्डते स्थास्यते तत श्वाऽसौ स्वदेशे गतः। देशान्तरायातः स चान्यैः पृष्टः—भो चित्रांग! कथय देशान्तरवार्ता। स प्राह—सुभिक्षं, शिथिला स्त्रियः, परं तत्र देशे सुहृद्-स्वजनः कोपि न। अन्ये श्वानोऽन्यं देशान्तरायातं कदर्थयन्ति। स्वजातिर्न सुखावहाऽन्यत्र।

इति स्वदेश-स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः ॥६०७॥

[608] अथ तृष्णायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ।

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं, कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्तव्यं, नापितेनाऽत्र यत्कृतम् ॥१॥

पाटलिपुरे माणिभद्रश्रेष्ठी धने क्षीणे सुप्तो दध्यौ—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ते हि सर्वे, वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥२॥

गगनमिव नष्टतारं, शुष्कमिव सरः श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं, भवति गृहं धनविहीनस्य ॥३॥

इत्येवं संप्रधार्य रात्रौ सुप्तो दध्यौ—प्रातरनशनेन प्राणत्यागं करिष्यामि । माणिभद्रे सुप्ते पद्मनिधिनिधानदेवोऽभ्येत्याऽवग्–मरणं मा कुरु, तव पूर्वकृतशुभ[क]र्मणा कल्ये मध्याह्ने क्षपणकरूपभृदहं तवालये समेष्यामि, त्वयाहं लकुटप्रहारेण ताडितव्यः शिरसि पादयोश्च । ततोऽहं कनकमयोऽक्षयनिधिर्भविष्यामि । एवं प्रोक्त्वा स गतः । प्रातर्दध्यौ श्रेष्ठी—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्त्तेन च मत्तेन दृष्टः स्वप्नो न विद्यते ॥४॥

अयं स सत्य एव दृश्यते । ततो लकुटानयनादि सामग्री कृता श्रेष्ठिना । अत्रान्तरे पत्न्या नखप्रक्षालनाय नापित आकारितः स्वगृहे । इतः पद्मनिधिः क्षपणकरूपः समागात् । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना भोजनं कारयित्वा यथासन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत् । स हेममयः पुरुषोऽभवत् । ततस्तं गृहमध्ये मुक्त्वा श्रेष्ठी प्राह नापितं प्रति, दीनारशतं त्वया ग्राह्यं कस्याप्यग्रे न प्रोच्यम् ।

ततो नापितो निजगृहे गतो दध्यौ । क्षपणका लकुटाहताः कनकमयाः पुरुषा भवन्ति । ततोऽहमपि क्षपणकं भोजयित्वा लकुटप्रहारदानात् कनकपुरुषं कृत्वा सुखीभविष्यामि । ततः प्रातः क्षपणकपार्श्वे गत्वा नापितोऽवग्–अद्यास्मद्गृहे भिक्षा सपरिवारेण कार्या । तेनोक्तं भो श्रावक धर्मज्ञ त्वं, वयमेवं कस्यापि गृहे यथा–तथा भिक्षां न करिष्यामः तेन भाव्यमेवं । ततो नापितोऽप्याह–प्रभूतश्रावकाहा वयं, सर्वसामग्री कृता, यद्यस्मद्गृहे न समेष्यति [भवान्] तदा मया न भोक्तव्यं । पुस्तकलिखनाय यद्धनं विलोकयिष्यते तदहं दास्ये । एका वर्या शर्वरी आनीताऽस्ति [तत् सर्वथा कालोचितं कार्यम्] । ततो मध्याह्ने क्षपणकं स्वगृहे नीत्वा वर्याहारैश्चरीं कारयित्वा नापितः क्षपणकं दृढलकुटप्रहारैः शिरसि पादयोः पुनः पुनराजघान । [क]पाटयुगलं दृढं दत्ते । (बहिः) निस्सर्तुमशक्तः उच्चैः पूत्कारं चकार । लोका मिलिताः, राजाप्यागतः, जर्जरगात्रं क्षपणकं दृष्ट्वा प्रोचुः । कथमयमेवं कुट्टितः । स च यथा दृष्टं माणिभद्रश्रेष्ठिकृतं कनकपुरुषप्राप्ति(प्र)युतं[वृत्तं] जगौ । ततः श्रेष्ठी पृष्टो राज्ञा, पद्मनिधिदेववरप्राप्तिं जगौ । ततः सर्वैरपि प्रोक्तं—

एकाकी त्यक्तसंकेतः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
सोऽपि संबाध्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥५॥

नापिताग्रे चोक्तं—कुदृष्टं कुपरिज्ञातं ।

इति तृष्णायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ॥६०८॥

[609] अथ लोभे मस्तकचक्रभ्रमपुरुषसम्बन्धः ।

एकस्माद् ग्रामाद् चत्वारोऽपि सुहृदः धनार्जनाय निर्गताः । क्रमाद् रत्नद्वीपोपान्ते गताः । यदा ते धनप्राप्तिकामा वनमध्ये गताः तदा एकः सिद्धपुमान् हस्ते एकैकां दीपिकां ददौ प्राह च—यस्य दीपिका यत्र पतति तत्र खनित्वा धनं ग्राह्यं । ततस्तेषामग्रे चलतामेकस्य हस्ताद्दीपिका पतिता तत्र ताम्रं निर्गतम् । तेन ताम्रपोट्टलको बद्धः । अन्ये कथयन्ति वयं ताम्रं न गृह्णामः । द्वितीयस्याग्रे गच्छतः द्वितीयहस्ताद्यत्र दीपिका पतिता तत्र रूप्यं जग्राह । ततो तदग्रे गच्छतस्तृतीयस्य यत्र दीपिकाऽपतत्तत्र हेम निर्गतम् । चतुर्थो लोभाद् बहु बभ्राम परं दीपिका न पतति । तृषा लग्ना तत्रैकः पुमान् मस्तकस्थचक्रो भ्रमन् दृष्टः । स च पयस्थानं पृष्टो यदा तस्य मस्तकाच्चक्रं तस्य मस्तके चटति स्म । अग्रेतनः पुमान् वर्षशताष्टकान्मुत्कलोऽभूत् । स च मस्तकस्थचक्रः पूर्वपुरुष इव भ्रमितुं लग्नः । अन्ये तं तथास्थं लोभाद् भ्रमन्तं पूर्वपुरुषाद् ज्ञात्वा स्वस्वकर्म्मार्जितं धनं लात्वा स्वगृहं जग्मुः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥१॥

इति लोभे मस्तकचक्रभ्रमपुरुषसम्बन्धः ॥६०९॥

[610] अथ अज्ञाने हितोपदेशाऽकरणे खरसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे रजकस्य उद्धतो रासभो दिवा रजकगृहे कर्म कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया चरति भक्षयति स्म । बन्धनभयात् प्रातः स्वयमायाति । एकदा खरस्य शृगालेन सह मैत्री जाता । द्वावपि रात्रौ स्वेच्छया वाड्यां प्रविश्य कर्कटिका भक्षयतः स्म । प्रातः स्वस्वस्थाने यातः स्म ।

एकदा रात्रौ खरेणो[क्तम्]—भो भगिनीसुत ! निर्मला रात्रिर्विद्यते । तेनाहं गीतं वयं करोमि त्वं शृणु कतमेन रागेण च । शृगालः प्राह—अलं गीतेन, वयं चौराः । चौरैः निभृतं स्थीयते । उक्तं च—

कासं विसर्जयेच्चौराः निद्रालुश्चेत् स चोरिकाम् ।
जिह्वालौल्यं तु रोगार्तो जीवितं योऽत्र वांछति ॥१॥

उच्चैः कठोरं गीतं तव श्रुत्वा क्षेत्रपः सुप्त उत्थाय आवयोर्वधबन्धनं च करिष्यति । तद्भक्षय-कर्कटिका शनैः । ततः खरोऽवग्—त्वं न वेत्सि गीतरसम् । शृगालः प्राह—माम ! त्वं गीतभेदान् न वेत्सि । तर्हि कथं गीतं करोषि । खरोऽवग्—अहं गीतभेदान् वेद्मि । तथाहि—

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा, मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताला त्वेकोनपञ्चाशत्, तिस्रो मात्रा लयास्त्रयः ॥२॥
स्थानत्रयं यतीनां च षडास्यानि रसा नव ।
वर्णाः षट्त्रिंशद् भावा द्विचत्वारिंशत् स्मृताः ॥३॥
[रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाः द्विचत्वारिंशत् ततः स्मृताः ॥३॥]
पंचाशीत्यधिकं ह्येतद् गीताङ्गानां शतं स्मृतम् ।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं, भरतेन श्रुतेः प्रियम् [परम्] ॥४॥

इत्यादितो गीतस्वरूपमहं जानामि । ततः शृगालः प्राह—यदि त्वं गीतं गायसि तदाहं वृत्तेर्बहिस्थस्त्वदुक्तं गीतं शृणोमि । त्वं तु स्वेच्छया गाय । ततो रासभो रटितुं लग्न उच्चैः । तदा जागरितः क्षेत्रपः क्रोधात् धावित्वा खरं लकुटैराहत्योदूखले बंधयित्वा क्षेत्रपः सुप्तः । स खरः प्रहारपीडितोपि गतवेदन उत्थाय उदूखलयुतो वृत्तिं चूर्णयित्वा बहिर्निर्गतः । तदा मातुलमागच्छन्तं खरं दृष्ट्वा शृगालः प्राहोपहासं ।

साधु मातुल ! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।
कंठेऽपूर्वो मणिर्बद्धः, संप्राप्तं गीतजं फलम् ॥

इति अज्ञाने हितोपदेशाकरणे खरसम्बन्धः ॥६१०॥

[611] अथ वृद्धहितवाक्ये वृद्धवानरसम्बन्धः ।

भीमपुरे चंद्रचूडभूपस्य पुत्रा वानरैः सह क्रीडां कुर्वन्ति । तेषां वर्यफलाद्याहारं ददन्ति । तेषां वानराणां वृद्धो वानरो विचक्षणो विद्यते । एकदा वृद्धवानरेण प्रोक्तं—महानसमध्ये रसवतीं बलाद्भक्षयितुं मेषयूथादेकोऽजः प्रविश्य लौल्याद् रसवतीं भक्षयति यदा तदा सूपकार उल्मुकं लात्वा तं ताडयति । स च सम्मुखो भवति यदा तदा पृष्ठौ ताडयति मिथः कलहः सदा जायते हुडसूपकारयोः । राजवल्लभत्वात् कोऽपि तस्योपद्रवं मरणान्तं न करोति । वृद्धवानरस्तं कलहं दृष्ट्वा वानराणां पुत्राणां पुरः सूपकार-हुडकलिं प्राह । कदाचित् सूपकारेणोल्मुकेन ज्वलता हुड आहतो भविष्यति यदा तदास्य हुडस्योर्णा लगिष्यति । स च अश्वतृणकुटीरमध्ये यास्यति । अश्वतृणकुटीराणि ज्वलिष्यंति । अश्वा अजल्पति दग्धा भविष्यन्ति तदा च वैद्याः तेषामश्वानां चिदिकारूजनाय वानरतैलमादिशंति । तदा राजा भवतो हत्वा वानरतैलं कारयिष्यन्ति । अतः सकाले एत्रान्यत्र गम्यते तदा वरं । वानरैरुक्तम् त्वं वृद्धो ग्रथिलोऽभूः । त्वं गच्छ, वयं कुत्रापि न यास्यामः । वृद्धो वानरोऽन्यत्र वने अश्रुपातं मुञ्चन् गतः । ततो हुडोर्णा ज्वलताश्वशालाज्वलिता, अश्वज्वलनादौ च जाते वानरतैलेनाश्वानां चिकित्सा कारिता राज्ञा । तदा केचिन् नंष्ट्वा पितुः पार्श्वे ये गतास्ते जीविता अन्ये वानरा मारिताः एवं वृद्धोक्तं ये न कुर्वन्ति ते वानरा इव मरणं गच्छन्ति ।

इति वृद्धहितवाक्ये वृद्धवानरसम्बन्धः ॥६११॥

[612] अथ मातुर्वचःपालने द्विजसम्बन्धः ।

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः स्वार्थान् प्रचिंतयेत् ।
एको न हि व्रजेन्मार्गे नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥१॥
एकः कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।
कर्कटेन द्वितीयेन सर्पात् पान्थः प्ररक्षितः ॥२॥

पद्मपुरे ब्रह्मदत्तो नाम द्विजः प्रतिवसति स्म । एकदा विप्रो गुरुकार्यत्वाच्चन्द्रपुरं गन्तुं यावल्लग्नः तावन्मात्रोक्तं पुत्र ! न त्वया एकाकिना गम्यम् । एकाकिनो गच्छतः कदाचिद्विघ्नं जायते । पुत्रोऽवग् मातः मा भैषीः, निरुपद्रवाः सर्वे मार्गाः । मातुः पितुः गुरोः प्रसादात् अधुना द्वितीयः पुमान् कोऽपि सहायो न दृश्यते । माताऽवग्–अयं [कर्कटः] सहेलकः सहायोऽस्तु ते । स च मातृगौरवात् तं कर्कटं सहेलकं कर्पूरादिवस्तुग्रंथिमध्ये दृढं कृत्वा चचाल । एकस्मिंस्तरोस्तले मध्याह्ने विश्रामार्थं स तस्थौ । ततः भक्षयित्वा सहेलकं तत्र मुक्त्वा सुप्तः स । इतः कोटरात्सर्प्पो निर्गतः । तेन समं युद्धं कुर्वता सहेलकेन सर्प्पस्य पुच्छं मुखे गृहीत्वा स्ववपुः पंजरे प्रविष्टः । सर्प्पस्ते शूलाभिर्विद्धो मृतः । स द्विजो जागरितः । सर्पं मृतं दृष्ट्वा दध्यौ अद्याहं मातुः कथितं नाकार्षं तदाहमद्य मृतोऽभविष्यम् । तेन गुरूणां यः कथितं करोति स सुखी भवति । यतः—

मन्त्रे तीर्थे तथा देवे, दैवज्ञे गुरुभेषजे ।
यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ॥३॥
सर्प्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसां ।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत् ॥४॥

इति मातुर्वचःपालने द्विजसम्बन्धः ॥६१२॥

[613] अथ लोभे "क्षिणिक्षिणि पाहिं चिणि चिणि भली" सम्बन्धः ।

एकस्मात् पुरात् एकः क्षत्रियो वर्यवहुवस्त्रोऽश्वारूढो वर्त्मनि चचाल । मार्गे एको द्विजो मिलितः सन् आशीर्वादमेवं ददौ—

वदान्यः क्षत्रियोत्तंसः कर्णविक्रमसन्निभः ।
चिरं जयास्तु ते दीर्घमायुर्लक्ष्मीर्बहुः पुनः ॥१॥
उपानद्भ्यां विना तीक्ष्णकण्टकैश्चरणौ मम ।
दुखितस्तेन मह्यं त्वं, वितरोपानहौ द्रुतम् ॥२॥

ततस्तेनोपानहौ दत्तौ । ततस्तेन मार्गिता पादशीर्षिका दत्ता । ततो धौतिकं, ततो जलभाजनम् । ततो द्विजोऽग्रतो गच्छन् यद्यहमश्वममार्गयिष्यं तदा स तमपि मह्यमदास्यत एवं पुनर्विमृश्य खिणिखिणि दधानः पश्चाद् वलितः सन् [तस्य यजमानपार्श्वे घोटकं याचते स्म] ततः ताजनकेन द्विजपृष्टिं ताडयन् प्राह—गृहाण घोटकान् बहून् । तव मौक्तिकघूघरिका सर्वा वा विद्यन्ते । एतैर्दत्तैर्न वांछा पूर्णा । ततो विप्रोऽवग्-खिणिखिणिपाहिं चिणिचिणिभली । क्षत्रियोऽवग्-त्वयैवं किमुच्यते ? । विप्रोऽवग्—अहं तव पाश्वाद्वस्त्रादीनि हेलया प्राप्याग्रतो गच्छन् दध्यौ—यदि घोटकममार्गयिष्यं तदा क्षत्रियस्तमपि अदास्यत् एवं क्षिणिक्षिणिरभूत् । सा अनया ताजनचणिचणिकया भग्ना । अतो मयोच्यते क्षिणिक्षिणिपाहिं चिणिचिणि भली वर्या । ततः क्षत्रियोऽवग्-बहुलोभो न क्रियते । यद्यपि द्विजा लोभिनो सन्ति तथा स्तोक एव क्रियते । यतः—

धनेषु जीवितव्येषु [स्त्रीषु] चाहारकर्मसु ।
अतृप्ता प्राणिनः सर्वे याता यास्यंति यांति च ॥२॥

ततो विप्रः "खिणिखिणि पाहिं चिणि चिणि भली" इति चचाल ।

इति लोभे "क्षिणिक्षिणि पाहिं चिणिचिणि भली" कथा ॥६१३॥

[614] अथ सुलाणजयने देपालकविसम्बन्धः ।

एकदा देपालकविना योगिनीपुरस्थेन श्रुतं यः काश्मीर देशे गत्वा सरस्वतीं स्तौति तस्मै सा सर्वां विद्यां दत्ते। तदनु देपालः काश्मीरदेशं प्रत्यचालीत् । तदा सरस्वत्या देपालमागच्छन्तं ज्ञात्वा स्वसेवकानां पुरः प्रोक्तं—यः कल्ये मम पादौ नत्यर्थं नरः समायाति स देवगृहमध्ये न मोक्तव्यो, दृढं ज्ञेयमिदम् । ततस्तथांगीकृते तैर्देपालः सरस्वत्या देवगृहद्वारे आगात् । प्राह च पूजारकाणामग्रेऽहं दूरदेशादभिग्रहबद्धोऽत्रागतोऽस्मि देवीनमस्करणार्थम् । देवीदर्शनं विना [न] भोक्ष्ये। तैरुक्तं—देव्यादेशो नास्ति ते मोचनाय । ततो देपालस्य विंशतिर्लङ्घनानि जातानि, तथापि ते तस्य तत्र प्रवेशं न ददन्ति [ते] । भाग्ययोगेनैकविंशतितमे दिने छलात् प्रासादमध्ये प्रविश्य द्वाराणि दत्त्वा सरस्वत्याः समीपं गत्वोक्तं-भो देवि ! मह्यं वरं देहि, नो चेत् त्वां लोष्टेन चूर्णयिष्यामि । देव्या ध्यातं यद्यस्मै नाहं प्रत्यक्षीभवामि तदासौ मां चूर्णयिष्यति । ततो देव्या प्रत्यक्षीभूयोक्तं-तुष्टाऽहं वरं याचस्व । देपालोऽवग्—मह्यं विद्यां देहि । देव्योक्तं-यत् किमप्यतीतं वर्तमानं सांप्रतिकं योजयिष्यसि तत् सर्वं ज्ञानवशात् तव मेले समेष्यति । ततो देपालः कृतपारणको देवीं पुष्पैः प्रपूज्य स्तुत्वा च प्राप्तवरो योगिनीपुरं समागात् ।

एकदा मुल्यमसीते म्लेच्छानां गुरवः उपविष्टाः सन्ति । तदास्मिन् मार्गे देपालः समागात् तदा चाकस्मात् भूतेडः प्रचण्डः समागात् तदैकेन कलंदरेन [ण] देपालः प्रोक्तः—अयं वंतोल कस्माद् भ्रमणं करोत्यत्र । देपालोऽवग्-प्रथमं वृद्धकलंदरः प्रत्युत्तरयतु पश्चादहं । ततो वृद्धकलंदर

प्राह—अयोगोवरहो (?) [अयोगोलकः] मृत्वा अस्मद्धर्मं विना भूतेलो जातः। अतो न क्वापि प्रवेशं लभते।

देपालेनोक्तं—त्वं सत्यं न वेत्सि। असौ मुशलमानो खंडशरीरः किरतारपार्श्वे गतः। किरतारोऽवग्-त्वमग्निप्रवेशं विना चाशुद्धोऽत्र कथं समागात्। यदि त्वं तत्र गत्वा स्वशरीरं वह्निना शुद्धं कृत्वाऽऽगच्छसि तदात्र स्थातुं तव दास्ये। ततः स्वशरीरस्य शुद्धयर्थं भ्रमन्नस्ति। सर्वत्र स्वगोहरिमध्ये ? [स्वं वह्निमध्ये] स्वांगस्य दाहं कर्तुमशक्तोऽस्ति।

इति मुलाणजयने देपालकविसम्बन्धः ॥६१४॥

[615] अथ देपालकविप्रीणित दिल्लीपुरस्थयोगिनीप्रीणनसम्बन्धः।

एकदा योगिनीपुरे महान् रोग उत्पन्नः। तदा पाटकादौ बहवो मनुष्या म्रियन्ते। ततो [लो]कैः पुराद्बहिर्वासः कृतः। तदा सारंगसाधुप्रभृतिव्यवहारिभिर्देपालस्याग्रे प्रोक्तं-भो देपाल ? तथा कुरु यथा ६४ योगिनीस्थानं महद्विवरयुतमस्ति तत्र योगिनीविवरमध्ये ६४ योगिनीप्रतिमाः साधिष्ठायिकाः संति। ततस्तत्र गत्वा तथा पूजोपहारस्तुत्यादिभिस्ताः प्रीणय यथा यथा पुरे रोगोपशांतिर्भवति। ततो देपालः सुमुहूर्ते वर्यपुष्पकस्तूरिकादिबलिं लात्वा देव्या भवनद्वारे गतः। ततः सर्वे लोकास्तत्र मुक्त्वा स्वयं निर्भयो देपालो विवरेण प्रविश्य प्रभाते यावद्देवीनां भक्तिं चक्रे। ताः प्रीताः देपालवचसा पुरमध्ये रोगोपशान्तिं चक्रुः। ततो देपालो व्यवहारिभिर्मानितो भृशं धनेन।

ततो देपालेन भरहेसरबाहुबलिप्रबन्धः १, जावड प्र० २, कालिकसूरि प्र० ३, श्रेणिक प्र० ४, रोहिणक प्र० ५, आर्द्रकुमारप्रबन्ध० ६ इत्यादि अनेकशो ग्रन्थाः कृताः।

इति देपालकविप्रीणित दिल्लीपुरस्थयोगिनीप्रीणनसम्बन्धः ॥६१५॥

[616] अथ श्रीयशोभद्रसूरिणैकलग्नप्रतिष्ठितपंचपुरप्रतिष्ठाधिकारः।

एकदा आघाटपुरे यशोभद्रसूरिरस्ति। करहेटकपुरे १ कविलाणकपुरे २ सयंभरिपुरे ३ मंडोरपुरे ४ भेसराणपुरे ५ पंच जिनप्रासादाः निष्पन्नाः तदा गुरुणा यशोभद्रेण पंचसु पुरेषु जिनप्रतिष्ठायै एकं लग्नं दत्तं। प्रोक्तं च—अहं प्रतिष्ठां सर्वत्र करिष्यामि स्वशयेन। तदा लोकाश्चमत्कृता दध्युः-रे ते गुरवः कथं पञ्चसु प्रासादेषु प्रतिष्ठां करिष्यन्ति। तेभ्यः पुरेभ्यः सुआकारणं समागतं। ततो गुरुणा स्वांगस्य देवशक्त्या द्वाभ्यां २ अंशाभ्यां चत्वारि रूपाणि कृतानि। पंचमं सहजं रूपं च। ततो व्योम्नि गत्वा तत्र सर्वत्र प्रतिष्ठा कृता गुरुणा।

कविलाणके बहुजनसमुदाये मिलिते नीरं त्रुटितं। श्राद्धेषु तृषया पीडितेषु गुरुणा शुष्ककूपे नखेन चंदनं क्षिप्तं। तत्र[त्रा]मृतोपमं जलं बहु जातं। ततः श्रीसंघश्चमत्कृतः सुस्थितो जातः। तत्राद्यापि 'नखामृताख्य' कूपो विद्यते।

इति श्रीयशोभद्रसूरिणैकलग्नप्रतिष्ठितपंचपुरप्रतिष्ठाधिकारः ॥६१६॥

[616] अथ श्रीकर्ण्ण[मूल]राजमरणकथनादि श्रीयशोभद्रसूरिसम्बन्धः ।

[तपस्वी रूपवान् धीरः कुलीनः शीलदार्ढय्ययुक् ।
षट्त्रिंशद्गुणाढ्योऽभू–च्छ्रीयशोभद्रसूरिराट् ॥१॥]

एकदा संघेन सह श्रीयशोभद्रसूरयः पत्तने प्राप्ताः । श्रीमूलराजा गुरुं सुप्रभावं ज्ञात्वा वंदनार्थे गतः । धर्म्मदेशना श्रुता । राजा रंजितः प्राह मम प्रसद्यात्रपुरे स्थेयम् । गुरुणोक्तम्— साधवो नैकत्र तिष्ठन्ति । ततो राजा स्वगृहे स्वगृहपवित्रीकरणायाकारितवान् । राजा तु गुरून् भक्त्या प्रवेश्य स्वगृहान्तरे स्थापितवान् द्वारं दत्तवान् । गुरुणा ध्यातं राजानुबलेन मां स्थापयिष्यति यत् तन्न युक्तम् । ततो वर्त्मनि श्रीसंघवहमानं कारयित्वा कपाटछिद्रेण लघुरूपं कृत्वा निर्गत्य च संघस्य गुरवो मिलिताः । भद्रमुखेनाशीर्वादं ददौ राज्ञो ज्ञापयामासुश्च । राज्ञा ध्यातम्—अपवरकमध्यात् कथं गुरवः सङ्घमध्ये प्राप्ताः । ततो गृहमध्ये गुरूनदृष्ट्वा गुरुपार्श्वे राजाभ्येत्य प्राह—भगवन् ! यूयं सुप्रभावाः । मयापराधः कृतः क्षम्यताम् । गुरुणा प्रोक्तं— साधवो बलेन न रक्ष्यन्ते । ततो राज्ञा स्वायुः पृष्टम् । गुरुणा षण्मासाः प्रोक्ताः । धर्म्मौषधं कुरु । ततो राजा गुरून् प्रणम्य पश्चाद् धनेन बहुजनान् संतोष्य स्वं पुत्रं राज्ये [अभिसिच्य] गुरूक्तदिने धर्म्मकर्म्मपरः स्वर्गं जगाम राजा, गुरवोऽग्रतः शत्रुञ्जयादौ यात्रां चक्रुः ।

इति श्रीकर्ण्ण[मूल]राजमरणकथनादि श्रीयशोभद्रसूरिसंबंधः ॥६१७॥

[618] अथ चन्द्रोदयोपशांतिसम्बन्धः ।

आघाटपुरे उल्लूरनृपमान्यो गणधरामात्यो राजव्यापारं चलं मत्वा राजानुमत्या महान्तं प्रासादं कारयामास । श्रीयशोभद्रसूरिं चित्रकूटाचलतः आकार्य प्रासादे श्रीपार्श्वबिंबं प्रातिष्ठिपत् गुरुर्नृपामात्यश्रीसंघयुतश्चैत्यपाटीं करोति स्म ।

अत्रावसरे कोऽप्यवधूतो गुरुं दृष्ट्वा स्वहस्तेनाननं पस्पर्श । गुरुणा तन्मनोभिप्रायं ज्ञात्वा स्वपाणी घृष्ट्वा श्यामौ दर्शितौ सबाढं चमत्कृतः राजापि च । एषः महान् कलावानिति मत्वा स गुरुं नत्वा प्रयातः । राजामात्यादिभिर्गुरवः पृष्टाः—किमेतद् गुरुणा कृतम् ? गुरु प्राह– उज्जयिन्यां महाकालप्रासादे प्रदीपेन चंद्रोदयो लग्नोऽनेन च देवप्रभावात् तं ज्ञात्वास्माकं ज्ञापितं सर्वज्ञपुत्रा एते इति । अतोऽस्माभिः करौ घृष्ट्वा श्यामौ दर्शितौ तस्य । ततः संकेते प्राप्ते सति नत तः । ततो राजा विशेषतश्चमत्कृतः राज्ञोक्तं प्रकटं गुरोः [गुरो ?] कथय । ततो गुरुणा महाकालदीपलग्नादिसम्बन्धः प्रोक्तोऽस्माभिः स विध्यापितः । राजा तत्रोज्जयिन्यां स्वनरान् प्रेष्य प्रत्ययाय । तस्मिन्नेव दिने उल्लोचनज्वलनं तच्छांतिभवनं च ज्ञातवान् । ततो राजा हृष्टः । श्रीयशोभद्रसूरिपार्श्वे जिनधर्म्ममङ्गीचक्रे ।

इति चन्द्रोदयोपशान्तिसम्बन्धः ॥६१८॥

[619] अथ विजयमंत्रमहिमा ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरिः सुरत्राणेन पृष्टोऽधुना कोऽपि मन्त्रः सुप्रभावो विद्यते न वा ?। सूरिणोक्तं विजयमन्त्रोऽस्ति । तदनु पंचविंशतिभिः द्रम्मैः सचित्रे लिखितः [लेखितः]। स च सुरत्राणायार्पितः । प्रोक्तं च यत्रायं तिष्ठति तत्र वैरी न प्रभवति । ततः सुरत्राणेन स्वछत्रे बद्धः । छत्रछायाया अध आखुर्मुक्तः । मार्जारी आनीता तद्दृष्टौ । ततश्छत्रछायाया अधो नायाति । सूरिणोक्तं-यस्याङ्गे बध्यते तस्य प्रहारो न लगति । तदनु सुरत्राणेन छागमानाय्य तस्यांगे विजयमन्त्रो बद्धः । बहवः खड्गप्रहारा दत्तास्तस्यैको न लग्नः ।

इति विजयमन्त्रमहिमा ॥६१९॥

[620] अथ बलमुनिना बौद्धगृहीतश्रीरैवततीर्थमोचनसम्बन्धः ।

श्रीशालिसूरिर्यदा सूरिपदे उपविष्टः तदा बलभद्रो इक्षिकासन्नपर्वते गुहायां स्थितोऽव्यक्त-वेषधारी छागीवृन्दमौषधीश्चारयन् तत्पुरीषेण होमं करोति । इतो महान् [एकः] संघः श्री शत्रुञ्जये देवान् वंदित्वा रैवततीर्थे प्राप्तः । तदा बौद्धैः खेंगारभूपबलेन तीर्थं गृहीतम् । श्वेताम्बराः देवं नन्तुं न शक्ताः । क्रमाच्चतुरशीतिः संघाः मिलिताः । यो बौद्धो भवति स वंदते नेमिं नान्यः । १२वर्षाणि जातानि । ततः शासनदेव्योक्तं यदि यशोभद्रसूरिशिष्यो बलभद्रमुनिरत्रायाति तदा तीर्थं मोचयति । ततः श्रीसंघेन बलभद्रमुनिमाकारयितुं भृत्याः प्रेषिताः । मुनिस्तीर्थं बुद्ध-गृहीतं श्रुत्वा प्रतिज्ञां चक्रे—"तदा विकृतिर्ग्राह्या यदा तीर्थं वालयामि खेंगारनृपं स्वपदे पातयामि" ततस्तत्रैत्य श्रीसंघस्य मिलित्वा श्रीसंघमेकत्र कृत्वा परितोऽग्निप्राकारमकरोत् । ततो मंत्रबलादग्नेः पुरतो जलपूर्णामगाधां खातिकां चक्रे । ततः कणवीरकं[वां] लात्वा माषाक्षतांश्च पार्श्वे कृत्वा मुख्यश्राद्धैः सह राज्ञः पार्श्वे गत्वाशीर्वादं ददौ, प्राह च मुनिः—"इदं गिरनारतीर्थं जैनं बौद्धै-र्गृहीतं त्वद्बलात्, पश्चाद्दापय नो चेत्तवाऽकुशलं भविष्यति ।"

ततो राजा रुष्टः प्राह—रे मुंड पाखंडिन् ! मदग्रे मा जल्प एवं । मृतेः किं न बिभेषि ! बौद्धीभूय तीर्थं वंदस्व नो चेद्धनिष्यसे त्वम् । ततो रुष्टो मुनिः प्राह—रे दुष्ट भूप ! मैवं जल्प, पापजल्पनफलमिह परत्र च लभिष्यसे [लप्स्यसे] इत्युक्त्वा राज्या उपरि माषाक्षतान् प्राक्षिपत् । राज्या अङ्गे तीव्रस्फोटका जाता वेदना च । तज्ज्ञात्वा राज्ञा सेनानी मुनिं श्वेताम्बरसंघं मार-यितुमादिष्टः । सेनानी संघस्य परतोऽग्निजलयोर्वप्रं प्रेक्ष्य मुनेरपि परतः तथा दृष्ट्वा जगाद । ततो राज्ञा मंत्री प्रोक्तः—किमत्र करिष्यते । मंत्र्याह देव ! न कोऽपि सामान्यो जैनमुनिर्जैन-संघश्च त्वयापमानितः । तेनासौ न पराभूयते संधिरेव कृता वीक्ष्यते ।

ततो राज्ञादिष्टो मंत्री मुनिपार्श्वे गत्वा जगौ-भो मुने ! यदि वह्न्यपः सारणात् मार्गं ददस्व तदा तवोपान्तेऽभ्येत्य विज्ञापयामि । वह्निजलयोरपसारिते मन्त्री मुनिपार्श्वे गत्वावग् त्वं क्षमावान् तेन तव राज्ञा समं विरोधो न युक्तः । विग्रहे कृते च तव विघ्नं भविष्यति । श्रुत्वैवन्मुनिर्जहास । ततो रक्तकणवीरकंबामादाय गिरिमारोढुं व्रजन् मंत्रिणं गौ-मत्कुलं

प्रथमं विलोकय, पश्चात्संधिः कार्या । कंबां संहारेण भ्रामयित्वा वृक्षशीर्षाणि बहूनि मुनिः पातयामास । प्राह च यथा वृक्षशीर्षाणि पातितानि तथाहं वैरिशीर्षाणि पातयिष्यामि, परं दयां कुर्वाणोस्मि । जैनद्विष्टस्य योऽपराधः क्रियते स मुक्तये भवति । चकितो मंत्री प्राह—मूषकोपि ढंकनिका पातयति [पातने शक्तः न तूद्धरणे] । यदि तव सामर्थ्यं स्यात्तदा वृक्षशीर्षाणि वृक्षेषु योजय । ततो मुनिः मृ[मु]ष्ट्या कंबां भ्रामयित्वा वृक्षशीर्षाणि यथास्थाने अयोजयत् ।

एवं मुनेर्बलं राजा मंत्री च दृष्ट्वा चमत्कृतौ । ततो राजा जगाद—त्वं धन्योऽसि, राज्ञ्याः पीडामपसारय । मुनिः प्राह—यदि त्वं राज्ञीयुतः श्वेताम्बरसंघं नेमिं नन्तुं गिरेरुपरि याथः बौद्धान् दूरीकुरुत तदा राज्ञीं सज्जां करोमि । ततो राज्ञा सर्वं मुन्युक्तमङ्गीकृतं । ततो राजा बौद्धान् दूरीचकार । ततो राजा खेंगारः श्रीबलभद्रमुनिः श्रीसंघयुतो महोत्सवं कुर्वाणस्तीर्थस्योपरि चटति स्म । श्रीनेमिमभ्यर्च्य पुष्पकेसरकर्पूरादिभिः स्नात्रं कृत्वाऽऽरात्रिकमंगलप्रदीपादि चक्रे श्रीश्रीसंघः । ततो राजा खेंगारो जिनधर्म्मानुरागी जातः ।

बलभद्रयशोभद्रौ शासनस्य प्रभावकौ । जातौ तौ प्रत्यहं वंदे स्तौमि भक्तिगुणाश्रितः ॥१॥

इति बलमुनिना बौद्धगृहीतश्रीरैवततीर्थमोचनसंबन्धः ॥६२०॥

[621] अथ जिनशासनप्रभावनायां देवसूरिसम्बन्धः ।

भृगुपुरे श्रीदेवसूरिपार्श्वे कान्हडयोगी ८४ सर्प्पकरण्डकयुत आगात् वादार्थं, प्राह च वादं कुरुत, नो चेदासनं त्यजत । गुरुभिरासनोपविष्टैरेव परितः सप्त रेखा कृत्वोचे-मुञ्च सर्पान् । तेनैकोऽहिर्मुक्तः एकां रेखामाक्रम्य ववले । द्वितीयोऽहिर्द्वितीयां रेखाम् । एवं बहवोऽपि मुक्ताः परं षष्ठी रेखा केनापि नाक्रान्ता । योगी भूमावुपविशत्येकशः । सूरिः प्राह—किं भूम्युपवेशनेन यः सबलस्तं मुञ्चेत्युक्ते नलिकात आकृष्य रक्तः संदूरिकोऽहिर्मुक्तः । स च दृष्ट्या कदलीपत्राणि भस्मीकरोति । वाहनसर्पो रेखां न लङ्घते । संदूरिक उत्तीर्य रेखां जिह्वया बभञ्ज । वाहनादेरुपरिस्थस्य प्रेरणाया बलाद् गुरोरासनपादोपरि चटितुं लग्नः । जने हाहाकारे जाते गुरवो ध्याने स्थिताः तावदकस्मादागत्य शकुनिकया सर्पद्वयमुत्पाट्य दूरे क्षिप्तम् । जितो योगी । ततः टोडरमुत्तार्य गुरोरंह्रौ विलग्याऽवग्—ममैतदेवाजीविका तेन स सर्पो दीयताम् । सूरिः प्राह—नर्मदानदीतीरेऽस्ति । रात्रौ…ज्ञादेव्याऽगत्याऽऽचष्ट—मासचतुष्टयं संमुखवटाधिरूढया [व्या]ख्यानं श्रुतं तव मया, तत्कथं प्रभूणामुपद्रवं द्रष्टुं शक्नोमि । अतो मया सर्पोऽपहृतः । गुरुभिः स्तुतिरूपं काव्यं प्रोक्तम् । [देव्योक्तं-] इदं कोशे तिष्ठतु, न प्रकाश्यम् । प्रातरिदं काव्यत्रयं लिखितं यत्स्तुतिरूपं यः पठति तस्य सर्पोपद्रवो न भवतीति प्रोच्य गता देवी । "नुं घंटाकर्णोमहावीर" इत्यादि । ततः स योगी कान्हडो जिनधर्मं प्रपेदे, गुरुभक्तिपरोऽभूत् ।

इति जिनशासनप्रभावनायां देवसूरिसम्बन्धः ॥६२१॥

[622] अथ विमलमन्त्रीकृतार्बुदप्रासादसम्बन्धः ।

अन्यदा अम्बिका श्रीमातया(?) सख्या निमन्त्रिताऽर्बुदाद्रौ गता । जिनप्रासादं विना मम

[624] अथ भावस्वदारसंतोषे यतिशुद्धाहारग्रहणे भूपयतीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे पद्मभूपस्य पद्मावती पत्नी बभूव । कुमारदेवचन्द्रौ पुत्रौ अभूताम् । पितरि मृते कुमारदेवो राज्ये निविष्टः । कुमारदेवभूपः स्वदारसंतोषी मनोविना भोगसुखमनुभवति स्म । चंद्रो दीक्षां प्राप्य शुद्धाहारं गृह्वानो बभूव ।

एकदा विहारं कुर्वन् श्रीपुरासन्नदेवकुले समेत्य तस्थौ । तदा राजा वंदित्वा गतः । राज्ञी चन्द्रयतिं देवं वंदित्वा जिमिष्यामीत्यभिग्रहं ललौ । राज्ञी यदा वंदितुं यतिं गता तदाऽन्तरा नदी जलपूर्णा जातोपरिजलदवृष्टितः । राज्ञी नदीमुत्तरितुं न शक्नोति तदा राज्ञोक्तं—गच्छ, नद्याः उपकंठं गत्वा त्वयेति वक्तव्यम्—

यदि मम भर्ता शीलं शुद्धं पालयन् विद्यते तदा [नदी नदि ?] त्वं मार्गं देहि । ततः सा दध्यौ अहं तु पत्युः शीलसम्बन्धं जानन्नस्मि तथापि भर्तुर्वचो मान्यं देवचन्द्र इव इति ध्यात्वा पत्युः वचो जल्पन् युक्त्या नदीपार्श्वे गता पत्युक्तं [विनयेन] यदोक्तं-तदा नद्या मार्गो दत्तः। देवकुले गत्वा देवरं वन्दित्वा स्वजेमनाय शुद्धाहारेण सार्थमानीतेन देवरं प्रतिलाभितवती । ततः सा स्वयं बुभुजे । पश्चाद् गन्तुकामा यदाभूत् तदा यतिना प्रोक्तं—गच्छ, नदीकूले, जल्पनीयं च—भो नदि ! मम देवरेण दीक्षाग्रहणादनु उपवासा एव कृताः स्युः तदा मार्गं देहि । एतच्छ्रुत्वा तया ध्यातं अधुनैव मम हस्तदत्ताहारेण बुभुजे, एवं कथं भवतीति दध्यौ सा । यद्यतिनोच्यते तन्मन्यते सत्यमेव ततो यतिवचसा नदी तयोत्तीर्णा । ततो भर्ता पृष्टः शीलादि-सम्बन्धः प्राह—अहं मनो विनैव त्वया सह भोगं करोमि अतो मे शीलम् । यतः 'मन एव प्रमाणम्' । ततो यतिः पृष्टः प्राह—मया शुद्धाहारो धर्मरक्षणाय गृहीतः अतो नद्या मार्गो दत्तः । ततश्चोक्तम्—

विरयाविरयसहोदर उदगस्समरेण भरिअसरिअए ।
भणीआइ साविआ दिन्नो मग्गत्ति भाववस ॥१॥

इति भाव-स्वदारसंतोषे यतिशुद्धाहारग्रहणे भूपयतिसम्बन्धः ॥६२४॥

इति श्रीसोमसुन्दरसूरि पट्टालङ्करण श्रीमुनिसुन्दरसूरि श्रीजयचन्द्रसूरि पट्टालङ्करण श्री रत्नशेखरसूरि पट्टालङ्करण श्रीलक्ष्मीसागरसूरि श्रीसोमदेवसूरि श्रीरत्नमण्डनसूरिशिष्य पं० शुभशीलगणिविरचित [प्रबन्ध] पञ्चशतीसम्बन्धे चतुर्थोऽधिकारः समाप्तः ॥ छ ॥

विक्रमार्काद् विधुद्वीपुचन्द्र (१५२१) प्रमितवत्सरे ।
अमुं व्यधात् प्रबन्धं तु शुभशीलाऽभिधो बुधः ॥



श्रीसिद्धाचले प्रासादादिवर्णनम् ।

श्रीसिद्धाचलप्रासादं, सोपानादिस्फुरत्प्रभम् ।
कुम्भशृंगध्वजायुक्त—मर्हन्तं तं स्तवाम्यहम् ॥१॥

तावल्लीलाविलासं कलयति मलयो विन्ध्यशैलोऽपि तावत्,
धत्ते मत्तेभगर्वं तुहिनधरणिभृत् तावदेवाभिरामः ।
तावन्मेरुर्महत्त्वं वहति हरिगिरिर्गाहते तावदाभां,
यावत्तीर्थाधिराजो न तु नयनपुटैः पीयते पर्वतेन्द्रः ॥२॥

एकदा श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमतिलकसूरयो महता श्रीसंघेन समं श्रीशत्रुञ्जये जिनान् वन्दितुं ययौ । तत्रैवं—

संवत् १३९.........वर्षे देवास्तैर्वन्दिताः । मुख्यप्रासादे गर्भगृहे पुण्डरीकप्रतिमाद्वयम् । ५६ जिनानन्यांश्च वन्दन्ते स्म[1] ।

ततस्त्रिद्वारप्रासादे ४९२ जिनान्, ततो मोढेरकशंखेश्वर-सत्यपुर-समलिकाविहारेषु १००८ त्रिद्वारप्रासादवलानकं यावत् ।

ततः समरसिंहवसहिकायां ३३ जिनान् ।

ततः कोडाकोडिप्रासादे २९१ जिनान् ।

ततः श्रीवीरप्रासादे ६८ जिनान् ।

ततोऽष्टापदावतारे देवकुलिकायां कुन्तीयुतपञ्चपाण्डवप्रतिमाः ।

ततो मठमध्ये १५ जिनान् ।

ततो घोषावसहिकायां ९५ प्रतिमाः ।

ततो राजादनीतले, सेरीसाऽवतारे, कलिकुण्डावतारे, गृहिकापत्रकस्तंभद्वारेषु च १४२५ (१४२१) जिनान् ।

ततो जिनभवनद्वारे बहिस्तोरणशिखरे देवगृहिकायुगे २९ जिनान् ।

ततः प्रासादसंमुखासु देवगृहिकासु ४० प्रतिमाः ।

ततः पश्चिममंडपसहितनन्दीश्वरावतारे १९४ जिनान् ।

ततो वस्तुपालमंत्रिभगिनीसप्तककारित-सप्तदेवकुलिकासु ४२ जिनान् ।

---

१ "वन्दन्ते स्म" इति सर्वत्र योज्यम् ।

ततः स्तम्भनकावतारे इन्द्रमण्डपे च २४८ जिनान् ।

ततो वस्तुपालमंत्रिकारित-गिरनारावतारे १६ जिनान् ५२ जिनांश्च ।

ततः खरतरवसहिकायां १०५४ जिनान् ।

ततः स्वर्गारोहणप्रासादे नमि-विनमिसेवकसहितश्रीयुगादिजिनप्रतिमायुतान् १६ जिनान् ।

ततोऽजितनाथविहारे अणुपमसरः सरीरस्थ (?) [समीपस्थ] देवगृहिकायुगे, श्रेयांस-जिनभवने च ६१ जिनान् ।

ततश्चिल्लतलावल्लिकासमीपस्थदेवगृहे ६ प्रतिमाः ।

ततः श्रीनेमिनाथभवने २८ जिनान् । श्रीवीरभवने ३६ जिनान् ।

ततः कपर्दियक्षभवने ७१ जिनान् ।

तत्रासन्नदेवगृहिकायुगे १८ जिनान् ।

ततो मणूआविहारे २९ जिनान् ।

ततः छिपावसहिकायां १३ जिनान् ।

ततो मरुदेवीभवने मरुदेवीमातरं ११ जिनांश्च ।

ततः श्रीशान्तिनाथप्रासादे २४ जिनान् ।

ततः चिल्लतलावल्लीसमीपे अळक्षदेवकुलिकायां, अजितनाथभवने, जीरापल्लीपार्श्वभवने १४ जिनान् । एवमन्यानपि लघुजिनान् बहून् ।

सर्वाङ्केन ५८४२ जिनान्, अन्यान्यपि बहूनि वन्दन्ते स्म श्रीसोमतिलकसूरयः ।

एवं जिनानां यानि बिम्बानि भवन्ति, बभूवुः, भविष्यन्ति तान्यहं सोमतिलकसूरिर्वन्दे भावेन ।

इति श्रीशत्रुञ्जयमहातीर्थे श्रीसोमतिलकसूरिवन्दितबिम्बसंख्या संक्षेपात् मया कृता ।

❀ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ❀

ग्रन्थाग्रं ७९४१

अकाराद्यनुक्रमेण पद्यनिर्देशिका



अकारादिक्रमेण विशेषनाम्नां सूचिः